श्रीरामेश्वरवृत्तिमुख्यांशसमलङ्कृतम्

परशुरामकल्पसूत्रम्

डॉ. परमहंसमिश्रविरचित 'नीरक्षीरविवेक' भाषाभाष्यसंवलितम्

कुलपतेः प्रो॰रामभूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया विभूषितम्

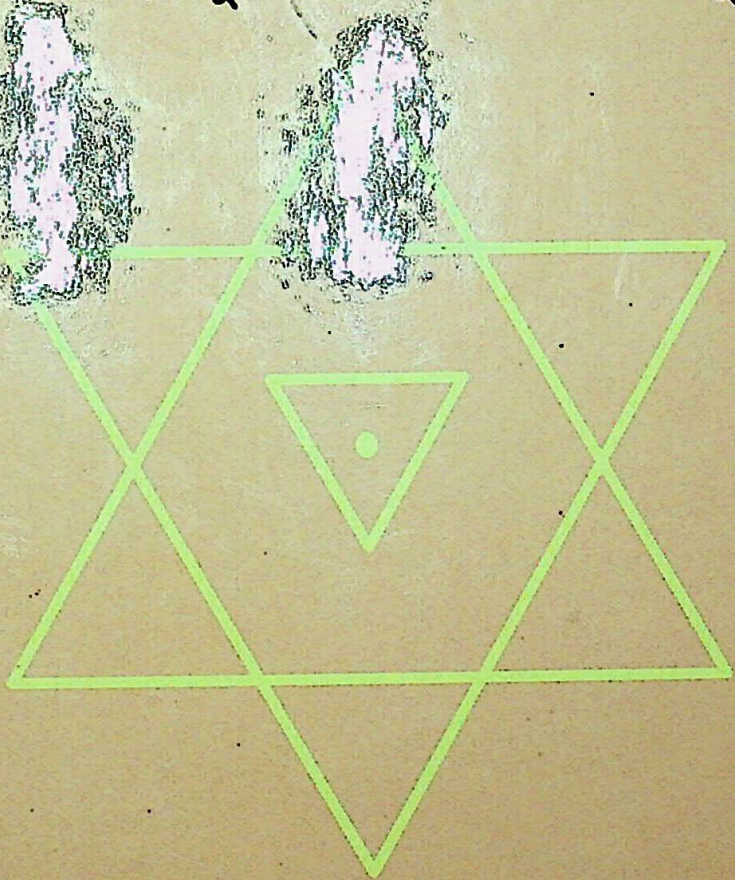

सम्पादकौ

प्रो. विद्यानिवासमिश्रः ❖ डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 28]

PARAŚURĀMAKALPASŪTRA

With the Commentaries

'VṚTTI'

By

ŚRĪ RĀMEŚVARA

'NĪRAKṢĪRAVIVEKA'

By

DR. PARAM HANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY

PROF. RAMMURTI SHARMA
VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

PROF. VIDYA NIWAS MISHRA
EX-VICE-CHANCELLOR
Mahātmā Gāndhī Kāśīvidyāpīṭha
&
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi

DR. PARAM HANS MISHRA
'HANS'
A. 36, Badshahbaga
Varanasi

VARANASI
2000

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-024-5

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

First Edition, 500 Copies

Price : Rs. 280.00

Printed by—
Shreejee Computer Printers
Nati Imali, Varanasi-221 002

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला
[२८]

श्रीरामेश्वरवृत्तिमुख्यांशसमलङ्कृतम्

परशुरामकल्पसूत्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित'नीरक्षीरविवेक'भाषाभाष्यसंवलितम्

कुलपतेः प्रो. राममूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया विभूषितम्

सम्पादकौ

प्रो०विद्यानिवासमिश्रः
कुलपतिचरः
महात्मागान्धीकाशीविद्यापीठस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य च
वाराणसी

डॉ०परमहंसमिश्रः 'हंसः'
ए. ३६, बादशाहबाग
वाराणसी

वाराणस्याम्
२०५७ तमे वैक्रमाब्दे १९२२ तमे शकाब्दे २००० तमे ख्रैस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः —

निदेशकः, अनुसंन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।

❐

प्रकाशकः —

डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशनसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी-२२१००२

❐

प्राप्ति-स्थानम्—

विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२

❐

प्रथमं संस्करणम् – ५०० प्रतिरूपाणि

मूल्यम् – २८०.०० रूप्यकाणि

❐

मुद्रकः—

श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी-२२१००२

ISBN : 81-7270-024-5

माननीय मानव संसाधन विकास मन्त्री और प्रसिद्ध चिन्तक

डॉ० मुरली मनोहर जोशी

के कर-कमलों में

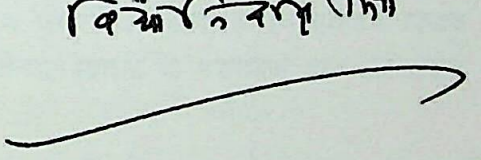

प्रस्तावना

भगवान् परशुराम द्वारा प्रणीत '**परशुरामकल्पसूत्र**' की प्रस्तावना लिखते हुए मैंने इस ग्रन्थ का आद्योपान्त आलोडन किया और पाया कि श्रीविद्या की उपासना का यह रहस्यात्मक महाग्रन्थ उत्तर-भारत की विद्वन्मण्डली में अध्ययनाध्यापन, चिन्तन-मनन, अर्चना-उपासना से ओझल क्यों होता गया? यह अपने आप में अनुसन्धान का विषय है। दुरूह एवं सर्वथा ओझल हो चुके इस श्रीविद्योपासनाविषयक ग्रन्थ का हिन्दी-भाष्य लिखकर स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानी, श्रीविद्योपासक, तान्त्रिक-साधना-निष्णात **पण्डित श्री परमहंस मिश्र** ने पूरे उत्तर-भारत के विद्वानों के लिए एक अनमोल उपहार दिया है। एतदर्थ मैं उन्हें सादर साधुवाद निवेदित करता हूँ। इसके साथ ही मैं श्रीविद्या के उपासक एवं इस ग्रन्थ के हिन्दी-भाष्य के उत्प्रेरक विश्वविश्रुत मनीषी '**पद्मभूषण**' **आचार्य श्री विद्यानिवास मिश्र** जी को भी विनयाञ्जलि अर्पित करता हूँ, जिन्होंने सारगर्भित '**पुरोवाक्**' लिखकर इस ग्रन्थ का गौरव बढ़ाया है एवं पण्डित समाज में पठन-पाठन से दूर छूटे हुए इस श्रीविद्या-साधना के उपपादक ग्रन्थ का उद्धार कराया है।

मैं इस मणि-काञ्चन-संयोग की उपपत्ति में इतना ही कहना चाहता हूँ कि **डॉ. परमहंस मिश्र** एवं **आचार्य श्री विद्यानिवास मिश्र** दोनों विभूतियाँ श्रीविद्या-साधना में दूर तक प्रवेश कर चुकी हैं और इन विभूतियों की इस प्रविष्ट साधना ने ही इस ग्रन्थ का हिन्दी-भाष्य के साथ सम्पादन कराया है और इस साधना-पद्धति में निष्णात होने के लिए लाखों-लाख पाठकों को पाथेय दिया है। पुलकित भाव से मैं इन दोनों विभूतियों के प्रति भूयोभूयः नमोवाकं निवेदित करता हूँ।

जैसा कि आचार्य श्री विद्यानिवास मिश्र जी ने एवं आचार्य श्री परमहंस मिश्र जी ने अपने '**पुरोवाक्**' तथा '**श्रीविद्योपासनाविमर्श**' में पूरी स्थिति स्पष्ट कर दी है कि चाहे वह त्रैपुर-साधना हो, चाहे वह श्रीविद्या-साधना हो, चाहे वह षोढ़ा-साधना हो, इन साधनाओं में त्रिपुरसुन्दरी एवं चिन्मय शिव के

सामरस्य की साधना ही अभिप्रेत होती है। साधक अपनी प्राणाहुति को हव्य बनाकर पूरे त्रिविष्टप के प्रतीकभूत त्रैपुर-साधना की प्राणाग्नि को पुष्ट से पुष्टतर करता है। इस महाभाव को **'श्रीपरशुरामकल्पसूत्र'** में ही प्रतीकात्मक रूप में दर्शाया गया है—

''अथो वाचो 'ब्लूं झौ'मिति 'जूंसः' इति चोक्त्वा अमृते अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहेति चतुर्थो मन्त्रः''।

(श्रीक्रम - २९, पृ. ९५)

महापण्डित **श्री रामेश्वर** ने अपनी वृत्ति में इस सूत्र की गम्भीर व्याख्या करते हुए लिखा है कि साधक जब साधना की चरम भूमिका में त्रिपुरसुन्दरी एवं परमशिव के निमीलनोन्मीलन में अपनी प्राणाहुति देता है, तो वह अमृतत्व के सन्निकट पहुँच जाता है। इसी तथ्य का रेखाङ्कन श्रीमद्भगवद्गीता में भी महायोगी श्रीकृष्ण ने अपनी तेजोदीप्त वाणी में किया है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता - ४।२९-३०)

मैंने बहुत श्रद्धाभाव से इस ग्रन्थ का आलोडन करते हुए यह अनुभव किया कि चाहे वह अद्वैतोपासना हो, चाहे वह श्रीविद्योपासना हो, चाहे वह शाक्तोपासना हो, चाहे वह त्रैपुर-साधना हो, सभी के मूल में महात्रिपुरसुन्दरी एवं भगवान् शिव के सामरस्य की साधना ही भक्त को अमृत एवं अमरता प्रदान करती है। इसी महाभाव को विवृत करते हुए भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य जी ने **'आनन्दलहरी'** में निरूपित किया है—

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
तवात्मानं वन्दे नवरसमहाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम्।।

(आनन्दलहरी - ४१)

अन्ततः पुनः इस तथ्य का उल्लेख करते हुए मैं अपनी प्रस्तावना का उपसंहार करता हूँ कि **'पद्मभूषण' आचार्य श्री विद्यानिवास मिश्र** एवं स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानी **आचार्य श्री परमहंस मिश्र** ने अपनी श्रीविद्या-साधना की शक्ति से इस दुरूह ग्रन्थ का हिन्दी **'नीरक्षीरविवेक'** भाष्य लिखकर सम्पूर्ण उत्तर-भारत से विलुप्त हो रहे इस ग्रन्थ का उद्धार करते हुए हिन्दीभाषी जगत् को एक अनुपम साधना-मार्ग दिखाया है, जिससे भगवान् श्रीपरशुराम द्वारा आविष्कृत श्रीविद्या-साधना में जिज्ञासु निष्णात हो सकें एवं अपने शिष्यों-प्रशिष्यों को भी उस मार्ग में प्रेरित एवं प्रवर्तित कर सकें। एतदर्थ इन मिश्रद्वयी विभूतियों के प्रति पुनः अपनी आदराञ्जलि समर्पित करता हूँ।

इस ग्रन्थ के शीघ्र एवं हृदयावर्जक प्रकाशन करने वाले प्रकाशन-संस्थान के निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** को हार्दिक आशीर्वाद प्रदान करता हूँ एवं प्रकाशन-सहायक **श्री कन्हई सिंह कुशवाहा**, ईक्ष्यकर्म-प्रवीण **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय** तथा **डॉ. ददन उपाध्याय, श्री अशोक कुमार शुक्ल** एवं **श्री अतुल कुमार भाटिया** का मङ्गलाभिशंसन करता हूँ। इस ग्रन्थ के मुद्रक श्रीजी-कम्प्यूटर-प्रिन्टर्स के संचालक **श्री अनूप कुमार नागर** हमारे आशीर्वाद के विशेषाधिकारी हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ की प्रकृति के अनुसार इसके आवरण-पृष्ठ आदि का भी संयोजन एवं मुद्रण किया है।

अन्त में मैं इस ग्रन्थ को सान्नपूर्णा महाशिव भगवान् विश्वेश्वर के कर-कमलों में समर्पित करते हुए यह प्रार्थना करता हूँ कि श्रीविद्या-उपासना के आचार्यों एवं उनके शिष्यों तथा भक्तों के लिए यह ग्रन्थ परम श्रेयस्कर हो।

राममूर्ति शर्मा

वाराणसी
श्रावणी-पूर्णिमा, वि.सं. २०५७
(१५.८.२००० खैस्ताब्द)

राममूर्ति शर्मा
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

पुरोवाक्

श्रीविद्या उपासना के तीन मुख्य आकर ग्रन्थ हैं—परशुरामकल्पसूत्र, प्रपंचसारतन्त्र और सौन्दर्यलहरी। इनमें प्रपंचसारतन्त्र और सौन्दर्यलहरी आद्य शंकराचार्य की कृतियाँ हैं। परशुरामकल्पसूत्र इनके पूर्व का है। पूरे आकर ग्रन्थों का विभाजन श्रीविद्यार्णव नामक ग्रन्थ में किया गया है। पूज्य स्वामी करपात्री जी ने श्रीविद्यार्णव से ही अपने देश-काल के अनुरूप श्रीविद्यारत्नाकर ग्रन्थ की रचना की और सम्पादन का भार पूज्य श्री सीताराम कविराज जी को दिया। श्रीविद्यावरिवस्या इसी का लघु रूप है। परशुरामकल्पसूत्र का महत्त्व केवल श्रीविद्या का आद्य ग्रन्थ होने के कारण ही नहीं है, इसलिए भी है कि इस विद्या की गुरु-परम्परा में उनका नाम बहुत ऊपर आता है। एक तरह से वे श्रीविद्या की उपासना की दो धाराओं को वशिष्ठ द्वारा प्रवर्तित और दुर्वासा द्वारा प्रवर्तित मिलाकर समग्र धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। जिस रूप में यह ग्रन्थ है, उसकी प्राचीनता में सन्देह कोई करे भी पर परशुराम के द्वारा प्रवर्तन की बात सभी श्रीविद्या परम्परा के विद्वानों को मान्य है।

परशुरामकल्पसूत्र का सिद्धान्त त्रैपुर सिद्धान्त कहा जाता है। त्रैपुर सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि सृष्टि, स्थिति, लय; इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—इन त्रिपुटियों को समेटने वाली त्रिपुर शक्ति है। इसी की अभिव्यक्ति वामा, ज्येष्ठा और रौद्री रूपों में होती है। इन्हीं को क्रमशः सृष्टि, स्थिति, संहार भी कह सकते हैं। यही त्रिपुरा शक्ति अपने शुद्ध परात्पर रूप में महात्रिपुरसुन्दरी शक्ति है। उसी का विलास यह प्रपंच दिखता है, विलीन हो जाता है।

श्रीविद्या साधना मूलतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाशक्ति की शिव के साथ समरसता की ही साधना है। जिस तत्त्व की साधना है, वह तत्त्व शिवशक्त्यैक्य रूप है। सिद्धान्त स्तर पर यह गूढ़ तादात्म्य की ही साधना है। द्वैत से अन्तर केवल इतना है कि, द्वैत कल्पित होते हुए भी श्रीविद्या साधना में अद्वैत प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है। उपनिषदों में भी यह संकेत है कि,

"एकाकी न रमते तदात्मानं व्याकरोत्" अकेले रमना संभव नहीं है, इसलिए अपने को विभक्त किया। इसलिए यहाँ माया से उद्वेग नहीं है, न माया का निरसन है, बल्कि माया का अतिक्रमण है। यह अतिक्रमण मायिक मार्गों में रहते हुए ही होता है। इसलिए अद्वैत में प्रवेश के लिए संसार का त्याग आवश्यक नहीं है। संसार का संस्कार आवश्यक है। प्राय: यह शंका की जाती है कि, कैसे दो प्रकार की बातें आदि शंकर कहते हैं। एक ओर संसार का तिरस्कार, दूसरी ओर संसार का स्वीकार। एक ओर निष्कल परब्रह्म का ध्यान, दूसरी ओर कामेश्वर-कामेश्वरी के सम्मेलन का ध्यान। पर ध्यान से देखने पर इसमें विरोध नहीं है। उपासना के लिए द्वैत की परिकल्पना अपरिहार्य है। उपासना की समाप्ति में समर्पण में द्वैत का भी समर्पण हो जाता है। जो यह बोध होता है कि, मैं ब्रह्म हूँ, जो कुछ है, वह सब ब्रह्म ही है और यह अनुभव करने वाला मैं इस ब्रह्म के साथ ऐक्य का अनुभव करने वाला मैं अपने को आहुति के रूप में सौंप रहा हूँ अर्थात् जिस सर्वात्म भाव का मुझे दर्शन मिला है, वह दर्शन भी मेरा अकेला न रहे, वह सबका हो जाए। अर्थात् सर्वभाव का अनुभव करने वाला भी दूसरों को अनुभव हो। इसलिए अपने को अनुभव की परम्परा में खपा देता है। यही गूढ़ तत्त्व है।

साधक में अहंकार के क्षरण के लिए यह आवश्यक है कि, वह यह अनुभव करे कि, हमारे पूर्व गुरुओं ने अपने अनुभव को अपने पूर्ववर्ती गुरुओं के अनुभव के साथ जोड़कर अपने को उसी अनुभव में विलीन कर दिया है। इसलिए मैं उस कड़ी में जुड़ता हूँ तो स्वयं भी विलीन होने के लिए। इसका उद्देश्य यह है कि, साधना का अहंकार किसी भी साधक के मन में न रहे। उसको बराबर अनुभव हो कि, साधना में निरन्तर परिष्कार करते रहने वाली गुरु परम्परा कारक रही है। जिस प्रकार श्राद्ध करते समय अपने पूर्व की तीन पीढ़ियों को पिण्ड देते हैं और इसके द्वारा वंश परम्परा की शृंखला को अविच्छिन्न रखते हैं, उसी प्रकार गुरु, परम गुरु (गुरु के गुरु), परमेष्ठि गुरु (गुरु के गुरु के गुरु) इन तीन गुरुओं की चरण वन्दना की जाती है ताकि विद्या परम्परा की अविच्छिन्नता साधक तक आए और साधक से उसके आगे जाए। उसका एक यह भी अभिप्राय होता है कि, पूर्व अनुभवों के साथ जुड़ने पर अपना अनुभव बड़ा भी हो जाता है और अहंकार का विसर्जन भी होता है।

गुरु पूजा के साथ-साथ ही गणपति पूजा श्रीविद्या का आवश्यक अंग है। गणपति समष्टि के देवता हैं। समष्टि के साथ जुड़ करके पूजना सम्यक् पूजा होती है। पाँच तत्त्वों में पृथ्वी तत्त्व के अधिष्ठाता देवता गणपति होते हैं। इसलिए भी उनकी आराधना की जाती है। उसके साधक का पार्थिव तत्त्व से सम्बन्ध रहे। इसी पार्थिव तत्त्व को ऊपर उठाना श्रीविद्या का लक्ष्य है। श्रीविद्या उपासना के चार सोपान हैं— श्रीक्रम, श्यामाक्रम, वाराही-क्रम और पराक्रम। श्रीक्रम महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना है। श्यामा-क्रम मातंगी या श्यामला की उपासना है। वाराही-क्रम महात्रिपुरसुन्दरी की दंडिनी दण्डनायक/सेनानायक/सचिव वाराही शक्ति की उपासना है। पराक्रम अव्यक्त महाशक्ति की उपासना है।

परशुरामकल्पसूत्र में सभी उपासनाओं का प्रतिपादन है। उसके साथ ही साथ संक्षेप में सिद्धान्त का भी है। सिद्धान्त पक्ष बहुत स्पष्ट है। विश्व ३६ तत्त्वों वाला है। ये ३६ तत्त्व हैं— शुद्धविद्या, सदाशिव या परमशिव, सांख्य के तत्त्व प्रकृति, अहंकार, बुद्धि, मन, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत, दस इन्द्रिय=२४ और पुरुष को लेकर पच्चीस। इनके अतिरिक्त पंच कंचुक कला, अविद्या, राग, काल, नियति और शिव-शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्या और जीव। स्वविमर्श ही पुरुषार्थ है। वर्णात्मक शब्द नित्य है। मन्त्रों में अचिन्त्य अपार शक्ति है। सर्वसिद्धि सम्प्रदाय के अनुसार साधना से और विश्वास से प्राप्त होती है। विश्वास ही प्रमाण है। गुरु मन्त्र, देवता और अपने प्राण की एकता के साधन से आत्मज्ञान होता है। भावना की दृढ़ता से शक्ति की सिद्धि होती है।

साधना के नियमों में कुछ नियम बहुत आवश्यक हैं। किसी भी दर्शन की निन्दा नहीं करें। किसी की भी अवहेलना न करें। रहस्य केवल अपने शिष्य को बतलाएँ। विद्या के साथ अर्थात् अपने मन्त्र के साथ निरन्तर जुड़ाव बनाए रखें। निरन्तर अपने भीतर शिवता है यह अनुभव करते रहें। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, हिंसा, स्तेय, लोक-विद्वेष से बचें। संशयरहित होकर एक गुरु की ही उपासना करें। परिग्रह त्याग करते रहें, निष्काम कर्म करते रहें। नित्य कर्म करें अनित्य को छोड़ दें। निर्भय रहें। समस्त सिद्धान्तों का निचोड़ देते हुए परशुरामकल्पसूत्र में कहा गया है कि, यह मानकर के आचरण करें कि, जितने भी पदार्थ ज्ञेय हैं, वे हव्य हैं, इन्द्रियाँ स्वाहा हैं। शक्तियाँ ज्वाला

हैं। अपने भीतर रहने वाले शिव अग्नि हैं। स्वयं ही साधक होता है। यह इस प्रकार का ज्ञान निरन्तर हो रहा है। इस यज्ञ का फल है विषयरहित चित् तत्त्व का विमर्श। इस आत्मलाभ से बढ़कर कोई अन्य लाभ नहीं है।

इस सिद्धान्त की पीठिका देने के बाद परशुरामकल्पसूत्र में दीक्षा का क्रम आया है। दीक्षा लिए बिना कोई इस विद्या का अधिकारी नहीं रहता है। गुरु दीक्षा देने के पहले शिष्य की परीक्षा लेता है और उसके बाद उसका मुख बाँध देता है। उसे सिद्धान्त पक्ष पहले सुनाकर समझाता है। इसके बाद परीक्षा देता है। दीक्षा के बाद ऊपर लिखित पाँचों क्रमों की पूजा का विधान है। परशुरामकल्पसूत्र में पंच मकार का विधान है पर साथ ही साथ चेतावनी है कि, यह अप्रकाश्य है। यदि इसको प्रकट किया गया, तो अगति होगी। एक प्रकार से व्यवहार की दृष्टि से यह चेतावनी निषेध ही है। इसीलिए श्रीमद् आदि शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित श्रीविद्या उपासना क्रम में पंच मकारों के पाँच अनुकल्पों से ही काम चलाया जाता है और जिन-जिन तत्त्वों के ये मकार बोधक हैं उनकी भावना की जाती है। वस्तुतः ये तत्त्व भी किसी न किसी आभ्यन्तर क्रिया के प्रतीक मात्र हैं।

परशुरामकल्पसूत्र सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसमें बहुत-सी बातें खोलकर नहीं कही गयी हैं। उस पर कई टीकाएँ उपलब्ध हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की रामेश्वर झा की टीका जो अनावश्यक रूप से विस्तृत का संक्षेप करके उसके अनुसार और अंशतः शास्त्र की परंपरा के अनुसार **पं. परमहंस मिश्र** ने व्याख्या की है। इस व्याख्या के कारण यह ग्रन्थ बहुत सुगम हो गया है। यह एक प्रकार से प्रथम समग्र हिन्दी व्याख्या है। मिश्र जी स्वयं न केवल तन्त्रशास्त्र के अध्येता हैं बल्कि एक नैष्ठिक साधक भी हैं। इसलिए मैंने उन्हें व्याख्या के लिए प्रेरित किया। वे तन्त्रालोक पर विस्तृत व्याख्या लिख चुके हैं। वे सर्वथा अधिकारी हैं, इसीलिए मैंने उनसे अनुरोध किया था। उन्होंने बड़ी तत्परता से इस काम को सम्पन्न किया। इसके लिए वे जिज्ञासु पंडित समाज के बधाई के पात्र हैं।

श्रीविद्या उपासना बाह्य अर्चन नहीं है। बाह्य अर्चन को सोपान बनाकर आभ्यन्तर अर्चन में प्रवेश पर ही विशेष बल दिया जाता है। श्रीविद्या का तात्पर्य ही यह है कि, सर्वमय होकर सर्वात्मिका पराशक्ति की अपने भीतर भावना करे और इस भावना के द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड में समरसता का विकिरण करे।

इसीलिए इसके आचार में किसी मत की निन्दा, छोटे से छोटे व्यक्ति या पदार्थ की अवहेलना विशेष रूप से वर्जित है। विशेष करके स्त्री मात्र को आदर देना और यह सब इसी का सूचक है कि, श्रीविद्या विरोधों के उपशम का अभ्यास है और जीवन को स्वीकार बनाने का अभ्यास है। बाह्य पूजा इसलिए आवश्यक है कि, इसके अभ्यास से बाह्य संसार का दिव्य रूपान्तरण होता रहता है। यह भावना करना कि, समस्त पदार्थ चिन्मय हैं। वस्तु को वस्तु मात्र नहीं रहने देती और साधक के मन में जैसा भी संसार है, उसको स्वीकार करते हुए उसको चिन्मय बनाने के लिए प्रेरित करती है। यह अपने आप में इस विद्या की सबसे बड़ी विशेषता है। इसके भीतर जैसे-जैसे प्रवेश करते हैं, त्यों त्यों अपार परितोष का अनुभव होने लगता है। इसके साथ ही साथ विभिन्न प्रकार के यन्त्रों की रचना से एक आध्यात्मिक राग-बोध होता है। यह राग-बोध अर्चन के क्रम में अर्चन सामग्री की तैयारी में और अर्चन के अन्त में एकाग्र होकर जल में और अन्त में इन सबके समर्पण में परिलक्षित होता है। परशुरामकल्पसूत्र शिवशक्त्यैक्यरूपिणी भगवती ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना का आधार ग्रन्थ है। मुझे विश्वास है कि, परशुरामकल्पसूत्र की आचार्य पं. परमहंस मिश्र द्वारा प्रस्तुत व्याख्या विद्या-प्रेमियों के लिए बड़ी उपकारक होगी।

श्रीविद्या के उपासकों से अपेक्षा की जाती है कि, वे अपने आचरण में सर्वात्म भाव का ही परिचय दें और भगवती की उपासना इस बुद्धि से करें कि, इस उपासना के फल के सभी साझेदार हों। वे चाहे उपासना करते हों, न करते हों या उसका विरोध करते हों। पर सभी प्रपंच के अंग में और सब में उस शक्ति की व्यापकता की अनुभूति हो। इसीलिए उपासना की जाती है। यह अपने आप में परम सुख है। अपने आप में परामुक्ति है।

अन्त में वरिवस्या, सपर्या, पूजा और अर्चना इन चार शब्दों पर थोड़ा विचार देना आवश्यक समझता हूँ। वरिवस्या शब्द का प्रयोग तान्त्रिक साधना में विशेष रूप से हुआ है। वेदों में वरिवस का अर्थ है खुला स्थान, अवकाश, ऐसा स्थान जो ठीक-ठाक करके किसी के लिए तैयार किया गया हो। उससे नामधातु बनायेंगे तो उसका अर्थ यह होगा कि, अपने इष्ट के लिए स्थान बनाना। उनको प्रतिष्ठित करने के लिए उचित आसन देना। तान्त्रिक पूजा की विशेषता यही है कि वहाँ पहले पूजा सामग्री के लिए, पूजा पात्र के लिए,

देवता के लिए स्थान बनाना होता है। जड़ता के वितान में कहीं एक चिन्मय स्थान बनाना। पूजा का अभिप्राय ही यह है कि, चिन्मय पदार्थों से चिन्मयी की पूजा हो। अपने शरीर के प्रत्येक अवयव को चिन्मय बनाना होता है क्योंकि शरीर का प्रत्येक अवयव तभी अर्पणीय होता है जब देवी से एकाकार हो जाए। सपर्या शब्द दूसरा है। यह सत्कार मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। इसकी व्युत्पत्ति तो नहीं मिलती लेकिन मेरे अनुभव से संस्कृत में विरल धातु है स्पृणाति। उससे स्पर या सपर निकला हो और उससे यह शब्द बना हो, सपर्या। अथवा इसका अर्थ भी उच्छ्वसित होना है, उच्छ्वसित करना है। किसी भी व्यक्ति या इष्ट के सत्कार के लिए उमगना और उस व्यक्ति या इष्ट देवता का उमंग के वातावरण में आहूत करना सपर्या है। सपर्या का एक अर्थ तैयारी भी है, जो लोक-भाषा के सपरने अर्थ में आज भी जीवित है। तीसरा शब्द है पूजा। यह प्रत्यक्ष या कल्पना में ध्यात द्रव्यों का इष्ट देवता के लिए निवेदन करना है। यह सत्कार का पूरक है। अर्चना इसी अनुभाव्य रूप की होती है। चाहे श्रीचक्र हो, मूर्ति हो। इसीलिए अर्चा का एक अर्थ विग्रह भी होता है। इसका अर्थ किसी मूर्ति या किसी यन्त्र पर कुछ चढ़ाना भी होता है। इतनी बात मैंने केवल सूचना देने के लिए जोड़ी है क्योंकि प्रायः इन शब्दों के सूक्ष्म भेद की चर्चा नहीं मिलती। परशुरामकल्पसूत्र का यह संस्करण प्रकाशित हो रहा है इससे मुझे बहुत परितोष है और इसलिए मैं पण्डित जी को हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

विद्यानिवास मिश्र

श्रीविद्योपासनाविमर्श

समस्त आगमों में श्रीविद्या का प्राधान्य पूर्णरूप से स्वीकृत है। वेदविद्या में विज्ञ विचक्षण विद्वानों की तो यह मान्यता ही है कि, वेदमाता गायत्री भी श्रीविद्या की अंश मात्र हैं। गायत्री ब्रह्मविद्यारूपिणी है। श्रीविद्या की पञ्चदशी विद्या से ब्रह्मविद्या का पूर्णतया प्रतिपादन हो जाता है। श्रीविद्यारत्नाकर में श्री करपात्री जी महाराज ने पंचदशी और गायत्री मन्त्र की एकता का ही प्रतिपादन किया है। इससे यह भी सिद्ध हो रहा है कि, श्रीविद्योपासक की गायत्री उपासना भी श्रीविद्या साधना में साथ-साथ सम्पन्न हो रही है, यह इन दोनों के इस शाश्वत सम्बन्ध का रहस्य है।

इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि, वेदमाता गायत्री की उपासना के प्रभाव से आगमोक्त श्रीविद्या में प्रवृत्ति होने के कारण वेद और आगमिक ज्ञान का एकाधिकरण सम्बन्ध उपासना पर ही आधृत है और दोनों वेद और आगम को परस्पर एक सूत्र में बाँधने वाली विद्यायें हैं।

यही बात वरिवस्यारहस्य और त्रिपुरातापिन्युपनिषत् से भी प्रमाणित होती है। वरिवस्यारहस्य में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, "व्यवहरति न तु प्रकटं यां विद्यां वेदपुरुषोऽपि (१।८) इति चतुष्पदा गायत्र्याः आवृत्तित्रयं श्रीविद्याकूट-त्रयसकृत्पठनतुल्यम्"। श्रीत्रिपुरातापिनी में भी कहा गया है कि, 'चतुष्पदा गायत्री मन्त्र को तीन बार लिख देने से श्रीविद्या (पञ्चदशी) के तीनों कूटों का उद्धार हो जाता है। इसलिये आगम-निगम में परस्पर विरोध की बात सोचना ऐक्य दृष्टि के नितान्त विरुद्ध है।

मनुष्य मात्र का इस विद्या की उपासना का अधिकार भी इसी उद्देश्य से दिया गया है कि, इसकी उपासना करने वाला भी ब्राह्मण हो जाये। गन्धर्वतन्त्र में कहा गया है कि, नारी, शूद्र, व्रात्य आदि भी इसकी उपासना से ब्राह्मण हो जाते हैं।

'त्रिपुरसुन्दरि विद्महे, कामेश्वरि धीमहि, तन्नः क्लिन्ने प्रचोदयात्' यह महामन्त्र श्रीविद्या गायत्री मन्त्र है। इसमें श्रीविद्या, कामराज विद्या और गायत्री का महामिलन शाक्त उल्लास का ही प्रतिपादक है। श्रीविद्या में दीक्षित होने वाला भी 'ब्रह्माधीते ब्रह्म वेद वा' इस दृष्टि से, घृणा, शङ्का, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जातिरूप आठ पाशों से मुक्त होकर पाशमुक्त ब्राह्मण ही माना जाता है। ये सारी बातें गन्धर्व आदि विभिन्न तन्त्रों में प्रतिपादित हैं।

श्रीविद्योपासना का अधिकार दीक्षा के उपरान्त ही प्राप्त होता है। श्रविद्या की उपासना के प्रारम्भ में जो दीक्षा दी जाती है, वह एक प्रकार की क्रिया-दीक्षा ही मानी जाती है। इसके अतिरिक्त प्रातःकालिक नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का सम्पादन इसमें अनिवार्य रूप से करणीय माना जाता है। श्रीमद्भास्कराचार्य का यही उपदेश है कि, श्रीविद्या सम्प्रदाय की दीक्षा क्रियादीक्षा मानी जानी चाहिये। जहाँ तक न्यास का प्रश्न है, कल्पसूत्र में षोढा न्यास को ही महत्त्व दिया गया है। अन्य न्यास वैकल्पिक माने गये हैं। सभी लघुषोढा, महाषोढा, शक्तिषोढा आदि षोढा न्यास और पंचवाहादि न्यास पूर्णतया समर्पित उपासक के लिये हैं, जिसका सारा समय माँ के लिये ही अर्पित है।

क्रियायोग के अन्तर्गत पूरी चक्र-साधना द्वारा प्राणापानवाह को तालुरन्ध्र से होते हुए ब्रह्मरन्ध्र में समाहित कर परा शक्ति से तादात्म्य स्थापित करना भी अन्तर्निहित है। इसमें मानसिक सक्रियता का सद्भाव पूर्णतया अपेक्षित है। यह विशिष्ट योग मानस क्रियायोग का ही उपक्रम है। परशुरामकल्पसूत्र में इसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। श्रीविद्योपासक से यह आशा की जाती है कि, वह अध्यात्म के परम उत्कर्ष का महान् अध्यवसाय सम्पन्न करे, इसके उत्तरदायित्वपूर्ण समय और चर्या का पालन करते हुए समाज के चरित्र में पावनतामयी चर्या का चमत्कार भर दे। स्वात्म को शैवसद्भाव समाहित कर दे।

यही उपासना का उद्देश्य है। आन्तर पूजा का महान् महत्त्व है फिर भी बाह्य पूजा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उपास्य देवता का अर्चन तद्विषयक परानुराग पर ही निर्भर होता है। एतद्विषय-सम्बन्धिनी क्रिया की प्रेरिका परमरहस्यरूपा परमाम्बा ही है। उसी की प्रेरणा से आन्तर और बाह्य सभी पुलकित होता है। आन्तर पुलक में रहस्य साधनामयी आन्तर पूजा और बाह्य पुलक में बाह्य पूजा का परमानन्द होता है। यह बाह्य उल्लास भी आन्तर रहस्यरूपता का

ही उन्मेषोल्लास है। सारा विश्व ही शैव-शाक्त उल्लास का साक्षात्कार है। सारी वस्तुराशि शिवमयी है। अतएव वस्तु मात्र में परमशुद्धि का आधान है।

इसी दृष्टि से पूजा द्रव्यों का आकलन किया जाता है।गहन अनुराग से आरक्त उपासक जिन द्रव्यों का अर्पण करता है, उनके माध्यम से उसकी आस्था ही अर्पित होती है, उसकी श्रद्धा ही कुसुमावली बनकर खिल जाती है और माँ के चरणों में चढ़ाई जाती है। वह स्वयं इस शरीर कुसुम का भी अर्पण करता है। सहस्रदलकमलरूप शिर का अर्पण और कमलरूप आँख के अर्पण की कथायें भक्तों में प्रसिद्ध हैं।

इसी क्रम में परशुरामकल्पसूत्र में पञ्चमकार पूजा भी स्वीकृत की गयी है। मद्य को आदिम द्रव्य माना गया है।

श्रीतन्त्रालोक नामक अखिल आगमोपनिषद् रूप शास्त्र में मद्य के विषय में स्पष्ट उल्लेख है कि,

मद्यस्नाने साधकेन्द्रो मुमुक्षुः केवली भवेत् ।
यतः शिवमयं मद्यं सर्वे मन्त्राः शिवोद्भवाः ।।
शिवशक्त्योर्न भेदोऽस्ति शक्त्युत्थास्तु मरीचयः ।
तासामानन्दजनकं मद्यं शिवमयं ततः ।।

(श्रीतन्त्रालोक, भाग ५, १५।७३-७४)

यही तथ्य श्रीमत्त्रैशिरस् शास्त्र में भी प्रतिपादित है। इसके विषय की चर्चा भी शास्त्रों में है। जो भी हो द्रव्य-पूजात्मक बाह्य-पूजा का भी श्रीविद्या साधना में अतिशय महत्त्व स्वीकृत है। किसी तरह परमोपास्या के पदारविन्द में मकरन्द बनकर समाहित होना ही उपासना होती है। उपासना के अंगभूत शरीर, वाणी, मन और स्थूल धूप, दीप, नैवेद्यादि द्वारा सम्पन्न क्रियाओं के माध्यम से उपासक उपास्य की अनुग्राहिका शक्ति से अन्तर्बाह्य व्याप्ति से कृतार्थ होना चाहता है। यही उपासना का रहस्य है।

श्रीविद्या की उपासना में पञ्चदशी और षोडशी विद्याओं की दीक्षा गुरुदेव से योग्यता के अनुसार प्राप्त होती है। लोपामुद्रा और कामराज विद्याओं का ही यह सारा उपक्रम है। इसमें एक क्रम निर्धारित है। इसी क्रम से उपासना

की जानी चाहिये। परशुरामकल्पसूत्र और दत्तात्रेयसंहिता इसके मौलिक ग्रन्थ हैं। नित्याषोडशिकार्णव, योगिनीहृदय, त्रिपुरारहस्य, त्रिपुरार्णवतन्त्र, श्रीविद्यारत्नाकर आदि इस विद्या साधना के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इनके स्वाध्याय से उपासना के अनन्त रहस्यों का उद्‌घाटन हो सकता है।

श्रीचक्र में जो पूजा की जाती है, वह कामेश्वर और कामेश्वरी की सह-पूजा है। एक के विना एक की पूजा नहीं होती। इसमें शैवागम और शाक्तागम का एकत्र समन्वय है। इसलिये यह सर्वसुलभ, सर्वग्राह्य और सर्वफलप्रद पूजा मानी जाती है। इसके मूलमन्त्र में समस्त शैव, रौद्र, भैरव, कालीकुल, त्रिक आदि मन्त्रों का रहस्य ग्रथित है।

त्रैपुरसिद्धान्त की सारी रहस्यवादिता श्रीविद्योपासना में निहित है। इसमें उपासकों की भक्ति और श्रद्धा के अनुसार द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैतमूलक त्रिविध उपासना विहित है। त्रिक में यही अपरा, परापरा और परा पूजा रूप त्रैविध्य स्वीकृत है।

पराविद्या और श्रीविद्या का ऐकात्म्य सर्वमान्य है। इस दृष्टि से त्रिकसिद्धान्त और त्रैपुरसिद्धान्त अद्वैतमूलक श्रेणी में समान स्तर पर पूज्य और मान्य हैं। श्रीचक्र में सारी विद्याओं की पूजा हो जाती है। यहाँ तक कि, अधराम्नाय की कुंडलिनी देवता भी श्रीचक्र पूजा में गृहीत होती है।

आज्ञा गुरूणाम्

आज्ञा गुरूणामविचारणीया' इस सिद्धान्त के अनुसार मैंने पद्मभूषण प्रो. विद्यानिवास मिश्र के स्नेहपूर्ण आदेश का पालन किया है। उन्होंने कहा था—यह ग्रन्थ इस समय अनुपलभ्य है। इसका प्रकाशन होना चाहिये। श्रीविद्या-साधना का प्रतिपादक यह महोपनिषद् श्रीविद्या के उपासकों को मिले, वे इसे पढें और इस आर्ष परम्परा की प्रामाणिकता का अनुभव करें, यह आवश्यक है। उन्होंने बडौदा विश्वविद्यालय से प्राप्त की गयी छायाप्रति दी और कहा कि, सम्पूर्ण लिख जाओ। इसका अर्थ भी साथ में होना चाहिये।

इस तरह मैंने दोहरा कार्य करने की इस उत्तरदायित्वपूर्ण सक्रियता का संकल्प आज पूरा किया है। सूत्र लिखे गये, उनकी वृत्ति लिखी गयी और उनका अर्थ भी साथ ही साथ पूरा किया गया। हाँ, वृत्ति लिखने की प्रक्रिया में जहाँ

मात्र पाण्डित्य प्रदर्शन था, उसका संक्षेप कर एवं जितने से सूत्रार्थ का पूरा सन्दर्भ स्पष्ट हो जाय उतना अंश ही लिखा गया। इसीलिये इसे मुख्यांश वृत्ति कह सकते हैं। किसी सूत्र की वृत्ति छोड़ी नहीं गयी है, पूरी की पूरी दी गयी है। केवल पाठकों की सुविधा के लिये और अनावश्यक विस्तार से बचने के लिये ऐसा किया गया है। स्वर्ग के वातायन से झाँकते हुए और अदृश्य अनुग्रह से आत्मसात् करते हुए पण्डित रामेश्वर ने इसके लिये मुझे क्षमा कर दिया है, यह विश्वास है।

श्रीतन्त्रालोक के नीर-क्षीर-विवेक भाष्य के लेखन के साथ इसे भी पूरा करता रहा हूँ। इसमें अवश्य ही मैं उतनी दत्तचित्तता नहीं अपना पाया, जितनी होनी चाहिये थी। कहीं-कहीं कुछ समीक्षा भी प्रसङ्गतः आ गयी है और सूत्रवृत्ति लेखन के कार्य को पूरा करने में मेरी आन्तरिकता में कभी उद्विग्नता की झलक भी दीखती थी, पर मैं यह सोचता था कि, "माँ 'पराम्बा' ने इस कार्य में भी मुझे माध्यम बनाया है। इस आदेश पालन का यही रहस्य है"। तब यह कार्य मेरे लिये परमकरणीय बन गया।

आज यह महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा हुआ। एक श्लोक है—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वात्मतूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव तदालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः ।।

इसके अनुसार परमेश्वर इस कार्य से प्रसन्न हो रहे हैं। परमहंस भी प्रसन्न है। गुरुजनों का आशीर्वाद है। इस आन्तरिक सोच के सन्दर्भ में मैं यह कृति **पद्मभूषण प्रो. विद्यानिवास मिश्र जी** के करकमलों में ही अर्पित कर रहा हूँ। श्रीविद्या के ये अनन्य उपासक हैं। इनके हाथों में अर्पित यह पुष्प माँ के चरणों में ही अर्पित हो रहा है, इसका मैं अनुभव कर रहा हूँ।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त दार्शनिक **प्रो. राममूर्ति शर्मा** कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी को इस नवप्रकाशन के प्रकाशपूर्ण प्रसङ्ग में स्नेहपूर्ण आशीर्वाद दे रहा हूँ। इनकी रोचिष्णु रोचना से इसकी चारुता में चमत्कार घटित हो गया है।

आचार्यप्रवर वैयाकरणशिरोमणि **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी**, निदेशक, प्रकाशन-संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का मैं विशेष

आभारी हूँ। बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा से प्रकाशित परशुरामकल्पसूत्र की छायाप्रति इन्हीं की है, जिससे यह सम्पादन-कार्य मैंने किया है। श्रीविद्या के अनुराग से आरक्त अन्तर्दृष्टि से विशिष्ट, इष्ट-कर्मनिष्ठ, कर्मण्यता के प्रतीक पुरुष की पुष्टि पुष्कर-विष्टरा त्रिविष्टपवन्दनीया माँ महालक्ष्मी करें, यही प्रार्थना है।

इसी सन्दर्भ में **श्री अनूप कुमार नागर**, संचालक, श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स, नाटी इमली, वाराणसी को मैं अपना विशेष हार्दिक्य अर्पित कर रहा हूँ। आपके विशिष्ट मनोयोगपूर्वक मुद्रण-प्रक्रिया के द्वारा इस महान् ग्रन्थ का प्रकाशन एक सुखद अनुभव है। मैं इनके उत्कर्ष की कामना करता हूँ।

विदुषामनुचरः
परमहंसमिश्रः
ए. ३६, बादशाहबाग
वाराणसी

शुद्ध-ज्येष्ठ शुक्लषष्ठी, २०५६

श्रीपरशुरामकल्पसूत्रम्

विषयानुक्रमणी

			पृष्ठ-संख्या
प्रस्तावना			१-२
पुरोवाक्			३-८
श्रीविद्योपासनाविमर्श			९-१४
प्रथम: खण्ड:		**दीक्षाविधि:**	**१-४६**
क्रम सं.	***सूत्राङ्क***	***विषयक्रम***	
१	१	प्रतिज्ञा	१
२	२	पञ्चमुखों से पञ्चाम्नाय प्रवर्त्तन	१-३
३	३	सिद्धान्त सूचना	३
४	४	सिद्धान्त प्रवर्त्तक सूत्र	३-७
५	५	शिव और जीव-परिभाषा	७-८
६	६	पुरुषार्थ परिभाषा	८-९
७	७	शब्द परिभाषा	९-१०
८	८	मन्त्रशक्ति	१०
९	९	सर्वसिद्धि के साधन	१०-१२
१०	१०	प्रामाण्य	१२-१३
११	११	अन्तरात्मवित्ति के उपाय	१३-१४
१२	१२	आनन्द का स्वरूप, देह में आनन्द का अवस्थान, पञ्चमकार, इनसे अर्चन का विधान	१४-१५
१३	१३	उपासकधर्म-आज्ञासिद्धि	१५-१६

१४	१४	दर्शननिन्दा का निषेध	१६-१७
१५	१५	शास्त्रविरुद्ध गुरुवचन भी अमान्य	१७
१६	१६	सत्यनिष्ठ शिष्य को रहस्यकथन का निर्देश	१७-१८
१७	१७	उपास्य विद्या का नित्य अनुसन्धान आवश्यक	१८-१९
१८	१८	सतत शिवता का समावेश आवश्यक	१९-२०
१९	१९	क्रोध, काम आदि लोकविरुद्ध आचरण का निषेध	२०-२१
२०	२०	एक गुरु की उपासना का निर्देश	२१-२२
२१	२१	निष्परिग्रहता धर्म	२३
२२	२२	फलाकांक्षारहित कर्म करने का निर्देश	२३-२४
२३	२३	नित्यकर्म लोप अनुचित	२४
२४	२४	पञ्चमकार के अभाव में भी क्रम का पालन अनिवार्य	२४-२५
२५	२५	सर्वत्र निर्भयता का उपदेश	२५
२६	२६	सारभूतधर्म-वेद्य ही हव्य, इन्द्रियाँ स्रुक् शक्ति ज्वाला, स्वात्मा ही शिव, स्वयं होता	२५-२६
२७	२७	निर्विषय चिद्विमर्श ही फल	२६-२७
२८	२८	आत्मलाभ सर्वोत्कृष्ट फल, इससे बढ़कर कुछ नहीं	२७
२९	२९	शास्त्रशैली	२७-२८
३०	३०	स्वशास्त्र प्रशंसा (गुप्त विद्या)	२८-२९
३१	३१	दीक्षा अनिवार्यतः आवश्यक	२९-३०
३२	३२	तीन प्रकार की दीक्षाएँ	३०-३१
३३	३३	दीक्षा क्रमिक रूप से सभी या एक ही आवश्यक वैमत्य का उल्लेख	३१
३४	३४	गुरुद्वारा दीक्षा की प्रक्रिया	३२-३४
३५	३५	शाम्भवी दीक्षा	३४-३५

३६	३६	शाक्ती दीक्षा	३५-३७
३७	३७	मान्त्री दीक्षा	३७-३९
३८	३८	मातृका यन्त्र	३९-४१
३९	३९	मान्त्री दीक्षा का उपसंहार	४१-४२
४०	४०	गुरुकर्तृक शेष कर्म का निर्देश	४२-४३
४१	४१	गुरुपादुका मन्त्र	४३-४४
४२	४२	आचारानुशासन सन्दर्भ में शिष्य के प्रति कर्त्तव्य का निर्देश	४४
४३	४३	शिष्य का कर्त्तव्य	४५-४६
द्वितीयः खण्डः		**महागणपति-क्रमः**	**४७-६५**
४४	१	गणपति उपासना पद्धति का परामर्श	४७-४८
४५	२	श्रीगणपति उपासना प्रकार	४८-५१
४६	३	देवतर्पण का उपदेश	५१-५३
४७	४	पूजाविधि	५३-५५
४८	५	अर्घ्यस्थापन विधि	५५-५७
४९	६	करणीय कार्य	५७-५८
५०	७	पीठनियमपूर्वक यन्त्रोद्धार	५८-६०
५१	८	प्रधान एवं सह मिथुन देवतर्पण	६०-६२
५२	९	गणपति उपतर्पण और जप आदि	६२-६३
५३	१०	गणपति के स्वात्मविलापन के सन्दर्भ में हवन आदि का विधान	६३-६५
तृतीयः खण्डः		**श्रीक्रमः श्रीललिताधिकारः**	**६६-९७**
५४	१	शक्ति चक्रैक नायिका श्रीललिता का क्रमारम्भ	६६-६८
५५	२	ब्राह्ममुहूर्त्त में जागकर परमशिवरूप गुरुदेव का स्मरण	६८-६९

५६	३	मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त स्वात्मसंविद् भगवती का ध्यान और कादि या हादि विद्या का दश बार आवर्त्तन	६९-७०
५७	४	स्नान विधि और मार्त्तण्डभैरव सूर्य को अर्घ्य का विधान	७०-७१
५८	५	श्रीचक्र भावन, त्रिपुरसुन्दरी गायत्री से उसे भी अर्घ्य देकर १०८ बार जप, मौन का निर्देश	७१-७२
५९	६	यागमन्दिर प्रवेश, आसन ग्रहण	७२
६०	७	त्रितारी का उच्चारण कर पुष्पाञ्जलि	७२-७३
६१	८	सभी मन्त्रों के आदि में त्रितारी प्रयोग का निर्देश एवं त्रितारी का कथन	७३-७४
६२	९	श्रीचक्र का स्वरूप, चक्र रचना के साधक द्रव्य	७४-७६
६३	१०	चक्र में मन्दिराद्यर्चन क्रम	७६-७८
६४	११	गन्धपुष्पाक्षतादि स्थान, दीपदान, मूल से चक्र की अर्च्चा का निर्देश	७८-७९
६५	१२	बीजों के प्रयोगपूर्वक प्राणायाम से शोषण, दहन और आप्लावन का विधान	७९
६६	१३	तीन प्राणायाम का निर्देश	७९
६७	१४	देव्यहंभावयुक्त वज्रकवचप्रयोग	८०
६८	१५	सर्वप्रथम करशुद्धिन्यास का निर्देश	८०-८१
६९	१६	आत्मरक्षा न्यास	८१
७०	१७	चतुरासन न्यास की दिव्यविधि	८३
७१	१८	श्रीचक्रादि आसन के तीन मन्त्र	८२-८३
७२	१९	बालाषडङ्गन्यास, दक्षिणामूर्ति-संहिता का प्रमाण	८३-८४
७३	२०	वशिन्यादियोगिनी न्यास	८४-८६
७४	२१	मूलमन्त्र न्यास	८६

७५	२२	पात्रस्थापन विधि	८७-८८
७६	२३	सामान्य, विशेष अर्घ्य	८८
७७	२४	द्वादशकलात्मक सूर्य और षोडशकलात्मक चन्द्र की कलाओं को अर्घ्य प्रदान करने का निर्देश और अर्घ्य मन्त्र	८८-८९
७८	२५	अकथ त्रिकोण में ४८ वर्णों का प्रयोग, मध्य में वाक्, काम और शक्ति बीजों का प्रयोग	८९-९१
७९	२६	चौरानबे मन्त्रों के प्रयोग से द्रव्य संस्कार	९१-९२
८०	२७	अखण्डादि पाँच मन्त्रों के वैकल्पिक प्रयोग का निर्देश	९२-९३
८१	२८	अनुष्टुप् विद्या	९३-९५
८२	२९	अमृतेशी मन्त्र	९५
८३	३०	वाग्वादिनी विद्या सहित पाँच मन्त्रों से अर्घ्यशोधन	९५-९६
८४	३१	अर्घ्यपात्रस्थ बिन्दुओं से कुण्डलिनी-ज्वाला में होम	९६-९७
८५	३२	अर्घ्य शोधनविधि की पूर्णता का निर्देश	९७
चतुर्थः खण्डः		**ललिताक्रमः**	**९८-११२**
८६	१	हृदयचक्र में उपस्थित सुषुम्णा के भेदन में दक्ष आद्या संविद् को श्वास के माध्यम से कुसुमाञ्जलि में आनयन की सुगम प्रक्रिया	९८-१००
८७	२	माया, लक्ष्मी और पराबीजों का उच्चारण कर अमृतचैतन्यमूर्ति देवी का प्रकल्पन	१००-१०१
८८	३	सहस्रार में कारणानन्दविग्रहा माँ ललिता बैन्दवचक्राधीश्वरी का समन्त्रक आवाहन	१०१
८९	४	त्रितारीपूर्व उपचार मन्त्रों से ६४ उपचारों का प्रयोग	१०१-१०२

९०	५	६४ उपचारों का प्रकल्पन	१०२-१०५
९१	६	नव मुद्रायें	१०५-१०६
९२	७	मूल से त्रिधा सन्तर्पण	१०६
९३	८	देवी का षडङ्ग पूजन	१०६-१०७
९४	९	नित्यापूजन	१०७-१११
९५	१०	ओघत्रयपूजन	१११-११२
पञ्चमः खण्डः		**ललितानवावरणपूजाक्रमः**	**११३-१३३**
९६	१	प्रथमावरण व्यष्टि-पूजा	११३-११५
९७	२	समष्टिपूजा	११५-११६
९८	३	करशुद्धि मन्त्र, त्रिपुराचक्रेश्वरी का परामर्श संक्षोभिणी मुद्रा-प्रदर्शन	११६-११७
९९	४	द्वितीयावरण-पूजा	११७-११८
१००	५	तृतीयावरण-पूजा	११८-११९
१०१	६	चतुर्थावरण-पूजा	११९-१२०
१०२	७	पञ्चमावरण-पूजा	१२०-१२१
१०३	८	षष्ठावरण-पूजा	१२१-१२२
१०४	९	सप्तमावरण-पूजा	१२२-१२३
१०५	१०	आयुध-पूजा	१२३
१०६	११	अष्टमावरण-पूजा	१२३-१२४
१०७	१२	कामेश्वरी आदि शक्तियों की मूलदेवी से अभिन्नता	१२४-१२५
१०८	१३	अतिरहस्य योगिनियों का चक्रावस्थान, त्रिपुराम्बा का भावन और पराबीजमुद्राकृति	१२५-१२६
१०९	१४	नवमावरण-पूजा	१२६
११०	१५	नवावरणपूजोपरान्त धूप-दीपादि समर्पण	१२७-१२८
१११	१६	कामकलाध्यान	१२८

११२	१७	सौभाग्यहृदय रूप पराबीज का विमर्श	१२८-१२९
११३	१८	बलिप्रकार	१२९
११४	१९	बलिदान मन्त्र	१३०
११५	२०	प्रदक्षिणादि	१३०-१३१
११६	२१	शक्तिपूजा, मपञ्चक से सन्तर्पण	१३१
११७	२२	चिदग्नि में हविःशेष का होम	१३२
११८	२३	देवीविसर्जन, खेचरी प्रयोग और देवी का स्वात्मसंयोजन	१३२-१३३
षष्ठः खण्डः		**श्यामाक्रमः**	**१३४-१६५**
११९	१	श्यामोपास्ति-विधि, परशिवेश्वरी साम्राज्ञी की सचिवरूपा शक्ति	१३४-१३५
१२०	२	श्यामोपास्तिशङ्कासमाधानकारक दृष्टान्त	१३५-१३६
१२१	३	उपास्ति-विधि	१३६
१२२	४	मन्त्रभस्म-जलस्नान, वस्त्रपरिधान	१३७
१२३	५	सन्ध्या विधान	१३७
१२४	६	यागगृह प्रवेश और पूजन क्रम	१३७-१३८.
१२५	७	प्राणायाम प्रकार	१३८
१२६	८	अस्त्रमन्त्रप्रयोग और व्यापक-विधि	१३७
१२७	९	वायु, अग्नि, वरुण और धरा बीजों के प्रयोग से देहदाहपूर्वक शिवचैतन्य का समुत्पादन	१३८-१४०
१२८	१०	प्राणायाम से तेजमय शरीर का प्रकल्पन	१४०
१२९	११	षडङ्गबालासहित मातृका का मूलाधार, हृदय और मुख में रतिप्रीतिमनोभव सहित विन्यास	१४०-१४१
१३०	१२	मूलविद्या का १७ भाग, उनका निर्धारित अङ्गों में न्यास	१४१-१४३
१३१	१३	पंचम न्यास	१४३

१३२	१४	मन्दिरार्चन	१४३-१४६
१३३	१५	श्यामाक्रम में सभी मन्त्रों में विशेष बीजों के प्रयोग का निर्देश	१४६
१३४	१६	प्रयोगकर्त्ता के व्यक्तित्व का आकर्षक रूप	१४६-१४७
१३५	१७	श्यामाचक्र-लेखन	१४७
१३६	१८	सामान्यार्घ्य-विधि	१४७-१४९
१३७	१९	विशेषार्घ्य-विधि	१४९-१५२
१३८	२०	श्रीदेवता श्रीमूर्त्ति का प्रकल्पन	१५२-१५५
१३९	२१	आवरण पूजा	१५५
१४०	२२	पूजा में वाम और दक्ष हस्त प्रयोग में विशेष निर्देश	१५५
१४१	२३	प्रथमावरणदेवता और स्थान	१५५-१५६
१४२	२४	द्वियीयावरण-पूजा	१५६-१५७
१४३	२५	तृतीयावरण-पूजा	१५७-१५८
१४३	२६	चतुर्थावरण-पूजा	१५८
१४४	२७	पञ्चमावरण-पूजा	१५९
१४५	२८	षष्ठावरण-पूजा	१५९
१४६	२९	सप्तमावरण-पूजा	१५९-१६०
१४७	३०	आवरण के बाहर के देव और उनके यजन	१६०
१४८	३१	सम्प्रदाय के गुरुओं की पूजा	१६०-१६१
१४९	३२	गुरुपादुका-पूजा	१६१
१५०	३३	बलिप्रदान और बाला से षोडशोपचारपूजन	१६१
१५१	३४	बलि प्रकार	१६२
१५२	३५	बलिप्रदान की इतिकर्त्तव्यता	१६२-१६३
१५३	३६	सुवासिनी पूजा	१६३

१५४	३७	जप आदि, ब्राह्मण भोजन	१६३-१६४
१५५	३८	मन्त्रजप कर्त्ता के धर्म	१६४
१५६	३९	ललितोपासक धर्म	१६४-१६५
सप्तमः खण्डः		**वाराही क्रमः**	**१६६-१९७**
१५७	१	श्रीललिता त्रिपुरसुन्दरी की दण्डनायिका वाराही की उपासना-विधि का उपक्रम	१६६
१५८	२	महासत्र की परिभाषा और उसमें अनाहत ध्वनि का अवमर्श	१६६-१६७
१५९	३	गुरुनमस्कार और मूर्धा में अञ्जलि का विधान	१६७-१६८
१६०	४	सभी मन्त्रों के साथ इस क्रम में 'ग्लौं' बीजमन्त्र का प्रयोग	१६८-१६९
१६१	५-६	लिङ्ग-देह-शोधन, इसके छः मन्त्र, शाम्भव-शरीरोत्पादन, भूतशुद्धि	१६९-१७०
१६२	७	मातृका-सम्पुटित बीजन्यास	१७०-१७२
१६३	८	अङ्गुलिन्यास	१७१-१७२
१६४	९	हृदयादिन्यास	१७२-१७३
१६५	१०	आत्मालङ्करण	१७३
१६६	११	अर्घ्यशोधन	१७३-१७४
१६७	१२	अर्घ्यशोधनानन्तर करणीय न्यास	१७४-१७७
१६८	१३	तत्त्वन्यास	१७८
१६९	१४	देवीध्यान	१७९
१७०	१५	चक्रनिर्माण	१७९-१८०
१७१	१६	चक्रकर्त्तव्य	१८०-१८१
१७२	१७	चक्रमन्त्र	१८१
१७३	१८	मण्डलादियजन, तत्त्वमन्त्र, गुणमन्त्र और आत्म-मन्त्र— यहाँ तक सत्ताइस पीठ पूजन पूर्ण	१८१-१८२

१७४	१९	चक्र के ऊपर देवी के आसन का विमर्श	१८२
१७५	२०	मूर्त्तिकरणी विद्या	१८२-१८३
१७६	२१	आवाहनादि ९ मुद्राओं का प्रयोग	१८३
१७७	२२	षडङ्ग-पञ्चाङ्ग न्यास	१८४
१७८	२३	षोडशोपचार	१८४
१७९	२४	देवी का ध्यान	१८५
१८०	२५	देवी का तर्पण	१८५
१८१	२६	आवरण पूजा (प्रथम)	१८५-१८६
१८२	२७	द्वितीय आवरण पूजा	१८६
१८३	२८	तृतीय आवरण पूजा	१८६-१८९
१८४	२९	तृयीयावरण पूजा पूर्ण	१८९
१८५	३०	चतुर्थावरण पूजा	१८९-१९०
१८६	३१	पञ्चमावरण पूजा	१९०-१९१
१८७	३२	षष्ठावरण पूजा	१९१-१९२
१८८	३३	देवी का सन्तर्पण एवम् उपचरण	१९२-१९३
१८९	३४	बलिदान प्रकार	१९३-१९४
१९०	३५	गुरु सन्तुष्टि का विधान	१९४
१९१	३६	शक्ति आदि की पूजा	१९४-१९५
१९२	३७	हवन मन्त्र साधन	१९५-१९६
१९३	३८	पूजा, शेष कृत्य	१९६-१९७
अष्टमः खण्डः		**पराक्रमः**	**१९८-२१२**
१९४	१	पराबीज और विद्या की एकरूपता के अवमर्शपूर्वक पूजा का निर्देश	१९८
१९५	२	उपासना हेतु	१९८-१९९
१९६	३	अनुत्तर पद्धति-कथन की प्रतिज्ञा	१९९

१९७	४	पराध्यान	१९९-२००
१९८	५	स्नानादि कर्म विधान	२००
१९९	६	आसन विधि	२००-२०१
२००	७	देशिक यजन	२०१
२०१	८	विघ्नोत्सारण	२०१-२०२
२०२	९	अङ्गन्यास	२०२
२०३	१०	चिदग्नि में सर्वतत्त्वविलापन	२०२-२०३
२०४	११	अर्घ्य के लिये मण्डलविधान	२०३-२०४
२०५	१२	अर्घ्य	२०४
२०६	१३	पराक्रम के मन्त्रों में योजनीय बीजमन्त्र	२०४
२०७	१४	बीज-मन्त्रावयवों से न्यास	२०४-२०५
२०८	१५	न्यासित देवी पूजन	२०५
२०९	१६	सुधादेवी पूजन	२०५
२१०	१७	तत्त्वसमूह का हृदय में आनयन	२०६
२११	१८	पराचक्र का उपक्रम और निर्माण	२०६-२०७
२१२	१९	चक्र में देवी का आवाहन	२०७
२१३	२०	देवी का ध्यान	२०७
२१४	२१	पूजाप्रकार	२०८-२०९
२१५	२२	कृत्य शेष	२०९
२१६	२३	अर्घ्य का मुख में निवेदन	२०९
२१७	२४	चिदग्नि का उद्दीपन	२०९
२१८	२५	ओघत्रयार्चन	२१०
२१९	२६	दिव्यौघादि-कथन	२१०-२११
२२०	२७	बलिदान	२११
२२१	२८	हवि-शेष-स्वीकरण	२११-२१२

नवमः खण्डः		**होमविधिः**	**२१३-२२८**
२२२	१	स्वेष्ट मन्त्र होम विधान की प्रतिज्ञा	२१३
२२३	२	स्वेष्ट मन्त्र होम विधान की विधि	२१३-२१४
२२४	३	सामान्य जल से प्रोक्षण	२१४
२२५	४	रेखाओं का निर्माण	२१४
२२६	५	उनमें देवार्चन	२१४-२१५
२२७	६	स्वदेह में षडङ्ग न्यास और उन्हीं मन्त्रों से कुण्डपूजा	२१५
२२८	७	अग्निचक्र-निर्माण, पूजन	२१५-२१६
२२९	८	अग्निप्रतिष्ठा, ध्यान	२१६-२१७
२३०	९	संविदग्नि-पातन	२१७-२१८
२३१	१०	इन्धन का कवचमन्त्र और आच्छादन	२१८
२३२	११	उपस्थापन	२१८
२३३	१२	मन्त्रप्रयोग	२१९
२३४	१३	प्रज्वालन मन्त्र	२१९
२३५	१४	अग्निसंस्कार	२१९-२२०
२३६	१५	परिषेचन आदि	२२०-२२१
२३७	१६	साधिताग्नि-ध्यान	२२१
२३८	१७	अग्निचक्र और अष्टकोणों में देवस्थापन	२२१-२२२
२३९	१८	सप्तजिह्वाहुतियाँ	२२२
२४०	१९	कर्मशेष	२२२-२२३
२४१	२०	इष्टदेवताऽऽवाहन	२२३
२४२	२१	चक्रदेवियों की पूजा	२२३
२४३	२२	प्रधान होम धर्म	२२४
२४४	२३	काम्य होम विधि	२२४
२४५	२४	साधन सहित होम	२२४-२२६

२४५	२५	बलिदान	२२६
२४६	२६	महाव्याहृति होम	२२६-२२७
२४७	२७	ब्रह्मार्पणाहुति	२२७
२४८	२८	विसर्जन (उद्वासन)	२२७
२४९	२९	भस्मधारण आदि	२२८
दशमः खण्डः		**सर्वसाधारणः क्रमः**	**२२९-२७३**
२५०	१	सामान्य कर्माधिकार	२२९-२३०
२५१	२	सन्ध्या से अर्घ्यशोधनपर्यन्त कार्यों में न्यास को छोड़कर श्यामा की तरह कार्य विधि का अतिदेश	२३०
२५२	३	सर्वसाधारण न्यास	२३०
२५३	४	चक्रनिर्माण	२३०-२३१
२५४	५	षडावरणी पूजा	२३१
२५५	६	सभी मन्त्रों में योजनीय बीज	२३१
२५६	७	आवाहनादि मन्त्र	२३१-२३२
२५७	८	रश्मिमाला	२३२
२५८	९	विनियोग	२३२-२३३
२५९	१०	रश्मिमाला के पुरुष मन्त्र	२३३-२३४
२६०	११	चाक्षुष्मती विद्या	२३५
२६१	१२	कन्याविवाहदायिनी विद्या	२३६
२६२	१३	सङ्कटहारिणी विद्या	२३६
२६३	१४	जल-विपत्तिशमनी विद्या	२३६-२३७
२६४	१५-१६	महाव्याधिविनाशिनी विद्या	२३७
२६५	१७	प्रत्यूहशमनी महागणपतिविद्या	२३७-२३८
२६६	१८	शिवतत्त्वविमर्शिनी विद्या	२३८
२६७	१९	मृत्यु की भी मृत्यु (अपमृत्युनाशिनी विद्या)	२३८-२३९

२६८	२०	श्रुतधारिणी विद्या	२३९
२६९	२१	सर्वज्ञताकरी विद्या	२३९
२७०	२२	पाँच रश्मियों का भावन	२४०
२७१	२३	लोपामुद्रोपास्य शिवादि हादिविद्या स्वरूप-प्रकाशनविद्या	२४०
२७२	२४	षट्कूटा सम्पत्करी विद्या कालसङ्कर्षिणी	२४०-२४१
२७३	२५	परमायुःप्रदायिनी विद्या	२४१-२४२
२७४	२६	शुद्धज्ञानमयी शाम्भवी विद्या	२४२-२४३
२७५	२७	पराविद्या	२४३
२७६	२८	पञ्चमन्त्राधिष्ठान	२४३
२७७	२९	बाला या कुमारी विद्या	२४३-२४४
२७८	३०	अन्नपूर्णा विद्या	२४४
२७९	३१	अश्वारूढ़ा प्रत्यङ्गविद्या	२४४
२८०	३२	श्रीपादुका विद्या	२४५
२८१	३३	मूलाधारविलोचनीया विद्या	२४५-२४६
२८२	३४	मूलविद्या	२४६
२८३	३५	लघुश्यामा	२४६
२८४	३६	वाग्वादिनी विद्या	२४६-२४७
२८५	३७	नकुली श्यामा विद्या	२४७
२८६	३८	श्यामा पादुकाविद्या	२४७
२८७	३९	हृदय में ध्यातव्य श्यामा	२४८
२८८	४०	श्यामाविद्या (८९ वर्णमयी)	२४८-२४९
२८९	४१	लघुवार्त्ताली विद्या	२४९
२९०	४२	स्वप्न वार्त्ताली	२४९
२९१	४३	तिरस्करिणी	२४९-२५०
२९२	४४	वार्त्ताली पादुका	२५०

२९३	४५	आज्ञा में भूदारमुखी	२५०
२९४	४६	वाराही विद्या	२५०-२५१
२९५	४७	श्रीपूर्त्ति विद्या (ब्रह्मरन्ध्र)	२५१
२९६	४८	महापादुका विद्या	२५१-२५२
२९७	४९	महासिद्धिप्रदायिनी (द्वादशान्त)	२५२
२९८	४९	अविद्यालयकर्त्री	२५२
२९९	५०	रश्मिमालामन्त्र-प्रयोक्ता ही परमशिव	२५२
३००	५१	ललिता-जपविघ्ननिवारक मन्त्र	२५३-२५४
३०१	५२	श्यामाजपविघ्नहर मन्त्र	२५४
३०२	५३	वाराही-जपविघ्नहर मन्त्र	२५४
३०३	५४	उक्त मन्त्र जपारम्भ में ही जप्य	२५४-२५५
३०४	५५	ललिता, श्यामा, वार्त्ताली और परा विद्याओं के जप समय	२५५
३०५	५६	मपञ्चक प्रातिनिध्य हेतु	२५५-२५७
३०६	५७	उपासक धर्म सर्वभूताविरोध	२५७
३०७	५८	परिपन्थियों का निग्रह	२५७
३०८	५९	संश्रितों पर अनुग्रह	२५८
३०९	६०	गुरुपुत्र-कलत्र में गुरु भाव	२५८
३१०	६१	दोषप्रद पदार्थ का त्याग	२५८-२५९
३११	६२	आदिम द्रव्य की ग्राह्यता का विमर्श	२५९-२६०
३१२	६३	पञ्चमकार-ग्राह्यता का विमर्श	२६०
३१३	६३	मकार के पाँचों द्रव्य	२६१
३१४	६४	कुलाचार धर्म-प्रवृत्ति	२६१-२६२
३१५	६५	दश कुलवृक्ष रक्षणीय	२६२
३१६	६६	विशिष्ट धर्मान्तर	२६२-२६३
३१७	६७	पञ्चपर्व की विशेष अर्चायें	२६३

३१८	६८	आयु स्तर के उल्लास के विशिष्ट समयाचार	२६३-२६४
३१९	६९	अवशिष्ट उपासक धर्म	२६४-२६५
३२०	७०	आठ पाशों का अवसादन	२६५
३२१	७१	अन्य धर्म	२६५-२६६
३२२	७२	अभ्यर्हितों का आदर	२६६
३२३	७३	प्रकाश की विभावना	२६६
३२४	७४	स्वार्था, गुर्वर्था धारणा	२६७
३२५	७५	गुरु द्वारा उक्त ही कार्य	२६७
३२६	७६	अविचारणीय आदेश	२६७
३२७	७७	सत्य-पालन-दृढता	२६८
३२८	७८	परदार-धन में अनासक्ति	२६८
३२९	७९	आत्मश्लाघा आदि वर्जित सात व्यवहार	२६८
३३०	८०	सामयिक मुख्य धर्म	२६८-२६९
३३१	८१	शास्त्रान्तर में अनुशिष्ट धर्म भी ग्राह्य	२६९
३३२	८२	कुल-मार्गनिष्ठ की प्रशंसा	२६९-२७०
३३३	८३	दशखण्डी इस महोपनिषद् के अध्येता की प्रशंसा	२७०-२७१
३३४	८४	पाँच अव्यय शब्दों से पाँच खण्ड का आकलन	२७१-२७२
३३५	८५	ग्रन्थकार-स्तुति, वृत्तिकार-परिचय, ग्रन्थ-रचनाकाल	२७२-२७३

●

परशुरामकल्पसूत्रम्

दीक्षाविधिः

[प्रथमः खण्डः]

इह खलु श्रीभगवान् परशुरामस्तुरीयपुरुषार्थसाधनं

लघुमध्वानं दर्शयन् प्रतिजानीते—

अथातो दीक्षां व्याख्यास्यामः।।१।।

अत्र अथशब्दः मङ्गलद्योतकः। अतःशब्दश्च आनन्तर्यद्योतकः। दीक्षा-पदार्थं सूत्रकारोऽग्रे विवेचयिष्यति। व्याख्यापदार्थश्च निगूढाभिप्रायकशब्दस्य विविच्य कथनम्। प्रकृते गूढार्थानां तन्त्राणामुपसंहारेण विविच्य कथनं कल्पसूत्रे इति लक्षणसमन्वयः।।१।।

परशुरामकल्पसूत्र का यह प्रथम सूत्र है। इसमें चार शब्दों का प्रयोग किया गया है— १. अथ, २. अतः, ३. दीक्षां और ४. व्याख्यास्यामः। अथ शब्द मङ्गलवाचक है। प्रारम्भ में विषयप्रवर्त्तन 'अथ' शब्द से करने की भारतीय परम्परा है। उसी का अनुसरण यहाँ किया गया है। अतः शब्द आनन्तर्य का बोधक है। इसके पहले के कार्य की समाप्ति और उसके बाद नये कार्य के प्रारम्भ की प्रवृत्ति का आकलन इससे होता है। दीक्षा आँख में अञ्जन की तरह सर्वदोषनाशिका परमार्थपरिष्कारिका गुरुतः प्राप्त मन्त्रादि-वरद प्रक्रिया है। ग्रन्थ में आगे चलकर इसका स्पष्टीकरण करेंगे। व्याख्या गूढ अभिप्राय से भरे शब्दों का विवेकपूर्ण निर्वचन करती है। सूत्र में वर्त्तमान की उपेक्षा कर भविष्यत् प्रयोग अभिप्रायगर्भ प्रयोग है।।१।।

भगवान् परमशिवभट्टारकः श्रुत्याद्यष्टादशविद्याः सर्वाणि दर्शनानि लीलया तत्तदावस्थापन्नः प्रणीय संविन्मय्या भगवत्या

भैरव्या स्वात्माभिन्नया पृष्टः पञ्चभिः मुखैः पञ्चाम्नायान् परमार्थ-सारभूतान् प्रणिनाय।।२।।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इति स्मृतः।।

इत्येतादृशषड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो भगवान् परमशिवभट्टारकः श्रुत्याद्यष्टादशविद्याः (श्रुतयः चत्वारि, तदङ्गानि शिक्षा, व्याकरणं, कल्पः, छन्दः, ज्योतिषं, निरुक्तं चेति षट्, मीमांसा, न्यायः, पुराणं, धर्मशास्त्रम् इति चतुर्दशविद्याः, आयुर्वेदः, धनुर्वेदः, गान्धर्वं, नीतिशास्त्रम् इति चतस्रः, एवमष्टादशविद्याः), सर्वाणि दर्शनानि, शाक्तदर्शनादीनि, दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्, ज्ञानसाधनम्, शैवदर्शनम्, वैष्णवदर्शनम्, ब्राह्मदर्शनम्, सौरदर्शनम्, बौद्धदर्शनं चेति षट् दर्शनानि, लीलयाऽनायासेन तत्तदावस्थापन्नः प्रणीय निर्माय, संविन्मय्या भगवत्या भैरव्या स्वात्माभिन्नया पृष्टः पञ्चभिः मुखैः सद्योजात-वामदेव-अघोर-तत्पुरुष-ईशान-संज्ञकैः मुखैः पञ्चाम्नायान् पूर्व-दक्षिण-पश्चिमोत्तराम्नायान्। परमार्थः अकृत्रिमः तुरीयः पुरुषार्थः तस्मिन् सारभूतान् प्रणिनाय निर्ममे।।२।।

समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन सर्वोत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न भगवान् परमशिव भट्टारक ने अनायास समस्त विद्याओं के अधिष्ठाता होने के कारण तत्तदावस्थापन्न स्थिति में अष्टादश विद्याओं की रचना की। साङ्ग चारों वेद, शिक्षा-व्याकरण-कल्प-छन्द-ज्योतिष-निरुक्त, पुराण-धर्मशास्त्र और मीमांसा, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और नीतिशास्त्र कुल मिलाकर ये अष्टादश विद्यायें होती हैं। ये सभी भगवद्रचित विद्यायें हैं।

इनके अतिरिक्त छः दर्शन भी भगवत्प्रवर्त्तित हैं। जिनके द्वारा वास्तविक दर्शन होता है, उन्हें दर्शन कहते हैं। ये छः माने जाते हैं— १. शैवदर्शन, २. वैष्णवदर्शन, ३. ब्राह्मदर्शन, ४. सौरदर्शन, ५. शाक्तदर्शन और ६. बौद्धदर्शन। पाणिनि, व्यास आदि अवस्थापन्न होकर परमशिवभट्टारक ने ही सर्वविद्याओं, शास्त्रों और दर्शनों का इस प्रकार प्रवर्त्तन किया। इसमें उन्हें कोई आयास नहीं करना पड़ा वरन् लीलापूर्वक ही यह प्रणयन सम्पन्न हुआ।

अभी 'प्रणीय' रूप पूर्वकालिक क्रिया पूरी हुई और अग्रिम सक्रियता होने ही वाली थी कि, एक लोकोत्तर अनुयोगात्मक स्पन्दन घटित हो गया।

स्वात्माभिन्न भाव से ऐकात्म्य में उल्लसित भगवती संवित् शक्ति ने आगे की सक्रियता पर प्रश्नचिह्न उपस्थित कर दिया। उस अलौकिक अव्यक्त अनुयोग का आन्तर ऊहन भगवान् भट्टारक ने तुरत कर लिया और परिणामस्वरूप उनके पाँचों मुखों से वाणी की तरङ्गिणी ही फूट-सी पड़ी। उन्होंने सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान मुखों से पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय और ऊर्ध्वाम्नाय नामक पाँच आम्नायों का प्रवर्त्तन भी किया। ये पाँचों आम्नाय परमार्थसारभूत माने जाते हैं।।२।।

तत्रायं सिद्धान्तः।।३।।

तत्र पञ्चाम्नायेषु, अयं वक्ष्यमाणः सिद्धान्तो विचार्य वादजनित-निर्णयजनितविषयोऽर्थः।।३।।

उक्त पाँचों आम्नायों के व्यापक वैचारिक परिवेश की असीमता में वस्तु तथ्य का आकलन कर भगवान् परशुराम ने यह सिद्धान्त निर्धारित किया। वाद आदिकों के वैचारिक ऊहापोह के उपरान्त निर्णयात्मक सत्य-अर्थ ही 'सिद्धान्त' की संज्ञा से विभूषित होता है।।३।।

सिद्धान्तप्रवर्त्तकसूत्राणि–

षट्त्रिंशत्तत्त्वानि विश्वम्।।४।।

तदित्थं केवलनिजरूपेण अवस्थितस्य 'बहु स्यां प्रजायेय' इति इच्छाज्ञानक्रियात्मिकाः शक्तयस्ताभिर्योगे क्रमेण अर्थशब्दसृष्टी अङ्कुरच्छायावद् युगपद् भवतः। तादृशसिसृक्षारूपोपाधिविशिष्टः परमशिव एव केवलशिव-पदवाच्यो भवति। स एव तत्त्वानां मध्य आदिमः।

सा पूर्वोदिता सिसृक्षा द्वितीयं तत्त्वं शक्तिरिति। जगतः अहन्तया यद्दर्शनं तदहमितिवृत्तिमान् सदाशिवपदवाच्यस्तृतीयं तत्त्वम्।

इदं जगदिति केवल-भेदविषयिणी सा वृत्तिस्तद्वान् ईश्वरपदवाच्यस्तुरीयं तत्त्वम्। जगदहमेवेत्याकारिका या सदाशिवसम्बन्धिनी वृत्तिः सा विद्यापद-वाच्या पञ्चमं तत्त्वम्।

इदं जगदित्याकारिका ईश्वरनिष्ठा भेदविषयिणी वृत्तिर्मायापदवाच्या षष्ठं तत्त्वम्।

पूर्वोक्त-विद्यातिरोधान-शक्तिमती तद्विरोधिनी अविद्यापदवाच्या सप्तमं तत्त्वम्।

जीवनिष्ठं सर्वकर्तृत्वं यत्किञ्चित्कर्तृत्वेन संकुचितं तदेव कलापदवाच्यम् अष्टमं तत्त्वम्।

पूर्वोक्तरीत्या जीवनिष्ठा या नित्यतृप्तिः सैव केषुचिद्विषयेषु अतृप्त्यां संकुचिता राग-पदवाच्या नवमं तत्त्वम्।

जीवनिष्ठा या नित्यता तस्या आच्छादने सति सैव नित्यता अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यतीति षड्भावयोगात् संकुचिता कालपदवाच्या दशमं तत्त्वम्।

परशिव-जीवयोरभेदाद् यथा परशिवे सर्वस्वातन्त्र्यं तथा जीवेऽप्यस्ति। तस्य सर्वस्वातन्त्र्यस्य पिधानं पूर्वोक्तविद्यया कृतम्। तदेव कारणान्तरापेक्षं यत्कारणमपेक्षते तन्नियतिपदवाच्यम् एकादशं तत्त्वम्।

एतादृश-नियति-काल-राग-कलाविद्याश्रयो जीवः, सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यरूपा प्रकृतिः चित्तापरपर्याया यदा सत्त्वतमसी अभिभूय रजःप्रधानं तन्मनःपदवाच्यं संकल्पहेतुः, रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वप्रधानमन्तःकरणं तद्बुद्धिपदवाच्यं निश्चयहेतुः, यदा रजःसत्त्वे अभिभूय तमःप्रधानमन्तःकरणं तदहंकारपदवाच्यं विकल्पकरणं षोडशं तत्त्वम्। शब्दग्राहकमिन्द्रियं श्रोत्रम्, स्पर्शग्राहकं त्वक्, रूपग्राहकं चक्षुः, रसग्राहकं रसनं, गन्धग्राहकं घ्राणम् एकविंशं तत्त्वम्, व्यक्तवागुच्चारणानुकूलं वागिन्द्रियम्, ग्रहणत्यागानुकूल-मिन्द्रियं पायुः, मैथुनजनकमिन्द्रियमुपस्थः (क्रमेण) षड्विंशं तत्त्वम्, सूक्ष्माकाशरूपशब्दः सप्तविंशं, सूक्ष्मवायुरूपः स्पर्शः अष्टाविंशं, सूक्ष्मतेजोरूपं रूपम् एकोनत्रिंशं, सूक्ष्मजलरूपो रसः त्रिंशं, सूक्ष्मपृथ्वीरूपो गन्ध एकत्रिंशम्, अवकाशात्मक आकाशः स्थूलः द्वात्रिंशं, सदागतिमत्त्वात्मक-गुणवान् वायुः त्रयस्त्रिंशम्, उष्णवत् तेजः चतुस्त्रिंशं, द्रवत्ववज्जलं पञ्चत्रिंशं, काठिन्यगुणवती पृथ्वी षट्त्रिंशं चरमं तत्त्वम्। एतादृशतत्त्वसंघातो विश्वं जगदिति व्यवहारविषयाभिन्नम्।।४।।

सिद्धान्तप्रवर्त्तक सूत्रों में यह सर्वप्रथम और तत्त्वदृष्टि से महत्त्वपूर्ण सूत्र है। पाँचों आम्नाय इसे सिद्धान्त रूप से स्वीकार करते हैं कि, यह जगत् ३६ तत्त्वात्मक है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। सर्वप्रथम केवल निजरूप में ही परमशिव अवस्थित थे। उनमें ''मैं एकाकी बहुरूपों अर्थात् अनन्तरूपों में व्यक्त हो जाऊँ'' इस प्रकार की इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक शक्तियाँ उल्लसित हो गयीं। इन शक्तियों के योग से क्रमशः अर्थ और शब्द की सृष्टि, अङ्कुर और प्रतिबिम्ब की तरह एक साथ उत्पन्न हो गयी। इस प्रकार की सिसृक्षा से सिसृक्षु उपाधिविशिष्ट परमशिव ही केवल 'शिव' पदवी से विभूषित हो गया। उसका अभिधेय शिव हो गया। शिव ३६ तत्त्वों में प्रथम आदिम तत्त्व माना जाता है।

सिसृक्षा की वह शक्ति जो परमशिव में आद्यस्पन्द रूप से उल्लसित हुई, वही शक्ति नामक द्वितीय तत्त्व है।

समग्र विश्व को अहमात्मक अङ्गीकृत कर 'सर्वं विश्वम् अहम्' इस वृत्ति से विद्योतित 'सदाशिव' नामक तृतीय तत्त्व है।

यह विश्व है। यह भेदविषयक वृत्ति है। इस वृत्तिवाला तत्त्व ईश्वरतत्त्व है। यह चतुर्थ तत्त्व है।

विश्वात्मक यह विस्तार मैं ही हूँ, इस प्रकार की सदाशिव सम्बन्धिनी वृत्ति ही 'विद्या' है। यह पाँचवाँ तत्त्व है।

यह जगत् पार्थक्य प्रथा से प्रथित है। इसमें व्यापक पृथक् वृत्तिमयी भेदविषयिणी ईश्वरनिष्ठा वृत्ति पृथक् तत्त्व मानी जाती है। यह वृत्ति ही माया है। यह छठाँ तत्त्व है।

ऊपर कथित विद्या को तिरोहित करने वाली शक्ति और विद्या की विरोधिनी शक्ति को अविद्या कहते हैं। यह सातवाँ तत्त्व है।

जीव-निष्ठ सारा कर्तृत्व किञ्चित्कर्तृत्व से नितान्त संकुचित है। यह सङ्कोचमयी वृत्ति ही कला है। इसे आठवाँ तत्त्व कहते हैं।

जीवनिष्ठा नित्यतृप्ति ही किन्हीं विषयों में अतृप्ति के कारण किन्हीं विषयों में संकुचित होकर 'राग' संज्ञा से विभूषित हो जाती है। यह नवाँ तत्त्व है।

जीवनिष्ठ नित्यता, आच्छादित होने पर अस्ति (है), जायते (उत्पन्न होती है), वर्धते (बढ़ती है), विपरिणमते (अधेड़ होकर परिणत होती है), अपक्षीयते

(क्षीण होती है) और विनश्यति (नष्ट हो जाती है) इस छः प्रकार की अस्तित्वगत गतिशीलता से प्रभावित और संकुचित होती है। यही काल नामक कञ्चुक है। यह दशवाँ तत्त्व है।

परशिव और जीव में अभेद है। जैसे परशिव में सर्वस्वातन्त्र्य है, वैसा ही स्वातन्त्र्य जीव में भी है। इसका पिधान अविद्या करती है। यह कारणसापेक्ष प्रक्रिया है। नियति ही वह कारण है। यह नियति ही ग्यारहवाँ तत्त्व है।

जीव इन नियति, काल, राग, कला और अविद्यारूप ५ कञ्चुकों का आश्रय बन जाता है। यह बारहवाँ तत्त्व है।

सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। इसे एक-दूसरे पर्याय चित्त शब्द से भी बोधित करते हैं। यह तेरहवाँ तत्त्व है। सत्त्व और तमस् को अभिभूत कर वर्त्तमान रजःप्रधान संकल्प हेतु तत्त्व ही मन कहलाता है। यह चौदहवाँ तत्त्व माना जाता है।

रजस् और तमस् को अभिभूत कर प्रवर्त्तित सत्त्वप्रधान अन्तःकरण निश्चय का हेतु होता है। इसे बुद्धि तत्त्व कहते हैं। यह पन्द्रहवाँ तत्त्व है। रजस् और तमस् को अभिभूत कर प्रवर्त्तित तमःप्रधान अहंकार तत्त्व विकल्पों का कारण माना जाता है। यह सोलहवाँ तत्त्व है।

शब्दग्राहक इन्द्रिय श्रोत्र कहलाती है। यह सत्रहवाँ तत्त्व है।

स्पर्शग्राहक इन्द्रिय त्वक् अठारहवाँ तत्त्व है।

रूपग्राहक इन्द्रिय चक्षु उन्नीसवाँ तत्त्व हैं।

रसग्राहक इन्द्रिय रसना बीसवाँ तत्त्व है।

गन्धग्राहक इन्द्रिय नासिका इक्कीसवाँ तत्त्व है।

व्यक्तवागुच्चारक वागिन्द्रिय बाइसवाँ तत्त्व है।

ग्रहणत्यागानुकूल पाणि तेइसवाँ तत्त्व है।

गमनानुकूल पाद चौबीसवाँ तत्त्व है।

मलविसर्गजनक पायु इन्द्रिय पचीसवाँ तत्त्व है।

मैथुनजनक उपस्थ इन्द्रिय छब्बीसवाँ तत्त्व है।

सूक्ष्माकाशरूप शब्द सत्ताइसवाँ तत्त्व है।

सूक्ष्म वायुरूप स्पर्श अट्ठाइसवाँ तत्त्व है।

सूक्ष्म तेजरूप रूप उन्तीसवाँ तत्त्व है।

सूक्ष्म जलरूप रस तीसवाँ तत्त्व है।

सूक्ष्म पृथ्वीरूप गन्ध इकतीसवाँ तत्त्व है।

स्थूल अवकाशात्मक आकाश बत्तीसवाँ तत्त्व है।

सदागतिशीलता-गुणशाली वायु तैंतीसवाँ तत्त्व है।

उष्णतागुणशाली तेज चौंतीसवाँ तत्त्व है।

द्रवत्वगुणशाली तत्त्व जल पैंतीसवाँ तत्त्व है।

काठिन्यगुणवती पृथ्वी अन्तिम छत्तीसवाँ तत्त्व है।

इन छत्तीस तत्त्वों का संघात ही विश्व है। व्यवहार में इसे ही जगत् कहते हैं। शास्त्रों में इसके अनन्त प्रमाण उपलब्ध हैं।।४।।

शरीरकञ्चुकितः शिवो जीवो निष्कञ्चुकः परशिवः।।५।।

एवं षट्त्रिंशत्तत्त्वानामपि सामान्यरूपेण पुनर्द्विस्वभावत्वम्-केषुचित् केवलं दृश्यत्वम्, केषुचित् केवलं द्रष्टृत्वम्। आद्यं जडेषु। द्वितीयं केवलमिति।

ननु जीवस्य तत्त्वान्तःपातित्वात् परशिवस्यातथात्वाद् द्वयोर्भेद आयातः। सर्वस्वतन्त्रः परशिवः स्वस्य मायया दुर्घटया स्वनिष्ठं यदन्यानपेक्षत्वरूपं पूर्णं स्वातन्त्र्यं तदाच्छादयति। ततस्तिरोहितं यत् स्वातन्त्र्यं परिमितं तदाणवमलमुच्यते। आणवमलमेव अविद्येत्यप्युच्यते।

एवमाणवेन मलेन छन्नः, तदा स्वयमणुदेहपरिमितः सन् अन्यान् देहपरिमितान् अनन्तान् जीवान् स्वभिन्नत्वेन पश्यति। तन्मायिकं मलम्। एवं भेदप्रथारूपमायिकमलेन मलिनाः शुभाशुभकर्म अनुतिष्ठन्तस्तज्जनितसंस्कारवन्तो भवन्ति। तदेतत् कार्मं मलम्। एतादृशत्रिविधमलं शरीरपदेनोच्यते। तद्रूपं यत् कञ्चुकम् आच्छादनं तेन आवृतः शिव एव जीवः। एतादृश-कञ्चुकरहितो यः स तत्त्वातीतः परशिव इत्यर्थः।।५।।

छत्तीस तत्त्व भी सामान्यरूप से दृश्य और द्रष्टा रूप से दो भागों में विभक्त हैं। जड़ों में दृश्यत्व और केवल तत्त्व में द्रष्टा का भाव। उसी तरह निष्कञ्चुक परशिव और शरीर से कञ्चुकित जीव ये दो भाव होते हैं। जीव तत्त्व भाव में परिगणित है। परशिव तत्त्ववाद से ऊपर है। यह दोनों में भेद है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र परशिव अघटितघटनापटीयसी अपनी ही माया शक्ति द्वारा अपने परम निरपेक्ष पूर्ण स्वातन्त्र्य को स्वयम् आच्छादित करता है। परिणाम-स्वरूप आच्छादित परस्वातन्त्र्य परिमित स्वातन्त्र्य में परिणत हो जाता है। यही पारिमित्य आणव मल कहलाता है। आणव मल को ही अविद्या भी कहते हैं।

आणव मल से आच्छन्न शिव स्वयम् अणुशरीर से परिमित हो जाता है। इस अवस्था में वह अन्य अनन्त परिमित शरीराच्छन्न जीवों को स्वात्म से भिन्न रूप में देखने लगता है। यह उसकी माया-परिच्छिन्न अवस्था है। इसे मायिक मल कहते हैं।

यही भेदप्रथा मानी जाती है। जीव भेद-प्रथा से प्रथित परिमित प्रमाता बन जाता है। ये जीव अब मायामलिन होकर अनन्त अनन्त शुभकर्मों को अनुष्ठित करते हुए कर्मों के संस्कारों से प्रभावित होते रहते हैं। विवशता की एक ऐसी परम्परा चल पड़ती है, जिसमें जीवजगत् की सक्रियता ही अभिशाप बन जाती है। इसे कार्म मल कहते हैं।

यही तीनों आणव, मायिक और कार्ममल ही शरीर बनकर शरीरी को कञ्चुक की कमनीयता प्रदान करते हैं। इस तरह शिव ही जीव भाव में पड़ा भेदवाद की विभीषिका का उपभोग कर रहा है। यही शरीर कञ्चुकित शिव जीव है। निष्कञ्चुक अर्थात् ऐसे कञ्चुकों से रहित तत्त्वातीत शिव ही परमशिव है।।५।।

एवं जीवेश्वरयोः स्वरूपमुक्त्वा कः पुरुषार्थ इति निर्दिशति-

स्वविमर्शः पुरुषार्थः।।६।।

स्वस्य परशिवरूपस्य विमर्शः प्रत्यभिज्ञानं सोऽहमित्याकारकम्। यथा कण्ठस्थं चामीकरं विस्मृत्य तदन्वेषणाय देशाद्देशं धावन् केनचिद् उद्बुद्ध-संस्कारः कण्ठस्थं पश्यति तथा विस्मृतस्वरूपज्ञानस्य पुनर्लाभः पुरुषार्थः अकृत्रिम इत्यर्थः। एतादृशपुरुषार्थलाभश्च न भगवत्कृपामृते भविष्यति। तदुक्तं

भगवता श्रीकृष्णेन—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (श्री.भ. ७।१४)। भगवत्प्रीतिश्च भगवदाराधनेनैव भवति। अतो भगवदाराधनं परम्परया मोक्षसाधनम्।।६।।

इस प्रकार जीव और ईश्वर के स्वरूप कथन के अनन्तर पुरुषार्थ क्या होता है, इसका निर्देश कर रहे हैं कि,

स्वात्म का विमर्श ही पुरुषार्थ है।

अपने परशिवरूप का विमर्श अत्यन्त आवश्यक है। इसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। माया के प्रतीप आत्माभिमुख्यपूर्वक विमर्श से सोऽहम् अर्थात् मैं परशिव हूँ, इस तरह का दृढ ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे ही प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। विस्मृत ज्ञान का पुनः उपलब्ध करना ही पुरुषार्थ है।

जैसे गले का स्वर्णाभूषण वस्त्र से ढक जाय। उसे इधर-उधर खोजा जाने लगे। किसी प्रबुद्ध दर्शक द्वारा निर्देश देने पर गले में है, यह ज्ञान हो जाय, तो प्रसन्नता होती है। उसी तरह स्वात्मज्ञान उपलब्ध हो जाने पर परमपुरुषार्थ की सिद्धि हो जाती है। ऐसा पुरुषार्थ-लाभ भगवत्कृपा के विना नहीं हो सकता। इसी तथ्य को श्रीमद्भगवद्गीता (७।१४) द्वारा भगवान् कृष्ण कहते हैं कि, 'जो मेरी शरण में आ जाते हैं, मेरी प्रपत्ति प्राप्त कर लेते हैं। वे ही इस दुस्तर माया को पार कर पाते हैं।'

यह सत्य है कि, भगवत्प्रीति भगवान् की आराधना से ही होती है। इसीलिये यह माना जाता है कि, भगवान् की आराधना परम्परा से मोक्ष-साधन सिद्ध होती है।।६।।

वर्णात्मका नित्या शब्दाः।।७।।

वर्णात्मका वर्णसमुदायरूपाः शब्दा मन्त्रा नित्याः। मूलविद्या समसत्ताका इत्यर्थः।।७।।

शब्द वर्णात्मक होते हैं। वर्णात्मकता का तात्पर्य वर्णसमुदायरूपात्मकता से है। वर्णसमुदायरूप शब्द ही मन्त्र होते हैं। ये नित्य होते हैं। मूल अविद्या की समान-सत्ता वाले ये मन्त्र यद्यपि नित्य हैं फिर भी अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर स्वात्मातिरिक्त किसी अन्य देवता के अनस्तित्व के कारण ज्ञानी के

लिये इसके त्रैकालिक नित्यत्व का कोई महत्त्व नहीं रहता। यह ध्यान देने की बात है कि, मन्त्र देवतावत् सूक्ष्म शरीररूप होते हैं। देवता के सूक्ष्म शरीर भी अविद्या पर्यन्त ही अनुभूत होते हैं। अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर इनकी स्वतः निवृत्ति स्वाभाविक है।।७।।

मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता।।८।।

मन्त्राणामिति षष्ठी सप्तम्यर्थे, मन्त्रेष्वित्यर्थः। न चिन्त्या अचिन्त्या शक्तिर्यत्र, ते अचिन्त्यशक्तयो मन्त्राः, तेषां भावस्तत्ता। अस्तीति शेषः। शक्तौ अचिन्त्यत्वं च तर्काविषयत्वम्। एतेन पूर्वोदितमाया अतर्क्या दुर्वारा, तथापि तन्निवारणे समर्था ततोऽपि अधिकशक्तिता मन्त्रेषु लीलया ज्ञानावरकाविद्यानिर्वर्तकत्वशक्तिरस्तीति प्रतिपादितम्।।८।।

सूत्र में मन्त्रशब्द से बहुवचन षष्ठी विभक्ति का प्रयोग वस्तुतः सप्तम्यर्थ में है। अतः उसका अर्थ करते समय सप्तमीवाचक अर्थ करना चाहिये। मन्त्रों में अचिन्त्यशक्तिता होती है। यही व्यावहारिक प्रचलित प्रयोग है। मन्त्रों में ऐसी शक्ति होती है, जो अचिन्त्य होती है। इनकी शक्ति के सम्बन्ध में कोई तर्क नहीं किया जा सकता, अर्थात् मन्त्रों की शक्ति तर्क से परे है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, माया की शक्ति भी अतर्क्य होती है। अन्तर इतना ही है कि, मन्त्र की अतर्क्य शक्ति, माया की ज्ञान को आवृत कर लेने वाली अविद्या शक्ति का भी निवारण कर देती है। अतः मन्त्रों में रहने वाली शक्ति माया शक्ति को भी अतिक्रान्त कर विद्यमान रहती है।।८।।

सम्प्रदायविश्वासाभ्यां सर्वसिद्धिः ।।९।।

सम्प्रदायः गुरुपरम्पराऽऽचारानुसरणम्। विश्वासो मन्त्रेषु फलसाधनत्वविषयको निश्चयः। आभ्यां सहितेन मन्त्रेण सर्वसिद्धिर्भवतीति शेषः। यद्यपि लोके एकेन दण्डेन एकव्यापारेण घट एव भवति, न पटः। एवं तुरीवेमादिना पट एव न घट इति। एवं सर्वकारणेषु लोके नियतैककार्यजनकत्वं दृष्टम्। तथापि मन्त्रेषु न तथा। एक एव मन्त्रो यद्यदीप्सितं तत्सर्वं जनयति इति ज्ञापयितुं सर्वपदम्। एतेन श्रोतृप्रवृत्तये मन्त्रवर्त्तिगुणोऽपि प्रतिपादितो भवति ।।९।।

मन्त्र-सिद्धि के सहकारी कारण होते हैं। मन्त्रों से अभीप्सित कार्य की सिद्धि के उद्देश्य से उनका वर्णन कर रहे हैं।

सूत्र में तीन शब्द हैं—१. सम्प्रदाय, २. विश्वास, ३. सर्वसिद्धि। इन तीनों शब्दों का औपासनिक दृष्टि से अप्रतिम महत्त्व है। क्रमशः इन शब्दों की परिभाषा के साथ इनका विश्लेषण उचित है और प्रासङ्गिक भी है—

१. सम्प्रदाय

गुरु परम्परा के अनुसार निर्धारित आचारों के समर्थक मान्य सिद्धान्त अर्थात् आचार्य-प्रवर द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा पद्धति। गुरु द्वारा प्रवर्त्तित सिद्धान्त आध्यात्मिक अनुभूतियों पर आधृत होते हैं। उनका अनुसरण स्वात्मोत्कर्ष का साधक माना जाता है।

२. विश्वास

गुरु में, गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्रों में, शास्त्रों में और भगवत्सत्ता में सिद्धि और साफल्य का निश्चय ही विश्वास माना जाता है।

३. सर्वसिद्धि

(गुरु द्वारा प्रवर्त्तित सिद्धान्तों और आचारों के अनुसरण और दृढ आस्था से) सभी प्रकार की और सारी सिद्धियाँ अवश्य होती हैं। प्रकरण मन्त्रों का है। इसलिये यह कह सकते हैं कि, सम्प्रदायानुसार विश्वासपूर्वक मन्त्रों के प्रयोग से सारी सिद्धियाँ सम्भव हैं।

इसे एक उदाहरण से समझें। लोक में देखा जाता है कि, कुम्भकार द्वारा एक दण्ड से घूर्मि देने के एक व्यापार से घट का ही निर्माण होता है, पट का निर्माण नहीं होता। इसी तरह अनन्त कारणों से अनन्त कार्य (नियत कारण से नियत कार्य रूप से ही) सम्पन्न होते हैं। जैसे तुरी और वेमा के प्रयोग से पट रूप कार्य ही होते हैं, घड़ा रूप कार्य नहीं होता।

मन्त्रों में ऐसी बात नहीं। लोकदृष्ट व्यवहारवाद के विपरीत एक मन्त्र की सिद्धि से ही सारी अभिलषित इच्छायें सिद्ध हो जातीं हैं। अर्थात् एक कारण

से विनियोगानुसार समस्त ईप्सित कार्य पूर्ण हो जाते हैं। यह मन्त्रों की महती गुणवत्ता है। मन्त्र-माहात्म्य को जानकर सम्प्रदाय और विश्वास के अनुसार सारी सिद्धियाँ हस्तामलकवत् सिद्ध हो जाती हैं।।९।।

जिज्ञासु पूछता है कि, गुरुवर्य! लोकविरुद्ध अर्थ प्रदान करने वाला यह सूत्र-वाक्य कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? गुरुदेव इस आशङ्का का समाधान सूत्र के माध्यम से ही कर रहे हैं—

विश्वासभूयिष्ठं प्रामाण्यम्।।१०।।

प्रामाण्यं संवाद-प्रवृत्तिजनक-तद्वतितत्प्रकारकज्ञानजनकत्वम्। सर्वसिद्धिरिति वाक्यनिष्ठं विश्वासभूयिष्ठम्। अत्र विश्वासपदार्थश्च वाक्यप्रयोक्तरि आप्तत्वनिश्चयः। बहुशब्दाद् अतिशयार्थे इष्ठन्प्रत्ययः। तत्र पाणिनिसूत्रम् "अतिशायने तमबिष्ठनौ" अतिशय-विशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः। "बहोर्लोपो भू च बहोः" इति इडागमे च भूयिष्ठशब्देन अत्यन्तबहुत्वविशिष्टः पुरुषार्थः। पुरुषे विश्वासभूयिष्ठत्वं च स्वोत्तरोत्पन्नत्वस्वविषयविषयकत्वसम्बन्धेन च विश्वासविशिष्टशङ्काऽनधिकरणत्वं, तदाश्रयपुरुषेण सममभेदान्वयस्य बाधितत्वात्। भूयिष्ठपदस्य भूयिष्ठाश्रयज्ञानविषये लक्षणा। तस्य प्रामाण्ये अभेदान्वयः अत्यन्तविश्वासवत्पुरुषैकवेद्यम् एतच्छास्त्रप्रामाण्यमित्यर्थः। कुतर्कशालिनां शास्त्रप्रामाण्यं सर्वथा अगम्यमिति भावः। तदुक्तं भट्टपादैः—

"शास्त्रैकगम्या ये ह्यर्था न ताँस्तर्केण दूषयेत्"।।१०।।

प्रमाण के भाव को प्रामाण्य कहते हैं। प्रामाण्य में ज्ञानजनकता होती है। किसी वस्तुविषयक संवाद का प्रवर्त्तन व्यक्ति की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। कोई वस्तु जिन विशेषणों से विशिष्ट है, उससे उसी प्रकार का ज्ञान होता है। प्रामाण्य का ज्ञानजनकत्व स्वतःप्रामाण्यवाद के समर्थक कुमारिलभट्ट के अनुसार सिद्ध माना जाता है। जैसे घड़ा मेरे द्वारा ज्ञात है। इस प्रयोग में ज्ञान की प्रमा वाला मैं हूँ क्योंकि तथाविधज्ञातता से मैं युक्त हूँ। यही तद्वान् में तत्प्रकारक ज्ञान कहलाता है।

सर्वसिद्धि विश्वास पर निर्भर करती है। यह सूत्र सं. ९ में स्पष्ट किया जा चुका है। गुरुवाक्य में विश्वास-भूयिष्ठता सिद्धि की हेतु मानी जाती है। जहाँ

तक विश्वास का प्रश्न है, यह वहीं होता है, जहाँ वाक्य प्रयोक्ता के प्रति यह निश्चय होता है कि, यह प्रयोगकर्त्ता 'आप्त' पुरुष है।

अतिशायने अर्थ में 'तमप्' और इष्ठन् प्रत्यय होते हैं। यह पाणिनि सूत्र (५।३।५५) का अर्थ है। बहु को भू आदेश और इट् का आगम होने पर भूयिष्ठ शब्द व्युत्पन्न होता है। बहुत्व विशिष्ट पुरुषार्थ की अपेक्षा इसमें निहित है। पुरुष में विश्वास की भूयिष्ठता उत्तरोत्तर उत्पन्न विश्वास के उत्कर्ष की सूचना देती है। विश्वास विशिष्ट भूयिष्ठता इसका अर्थ नहीं करना चाहिये। यहाँ भूयिष्ठता का आश्रय ज्ञान है। अतः अत्यन्त विश्वास सम्पन्न पुरुष द्वारा वेद्य ही इस शास्त्र का प्रामाण्य है, यह इस सूत्र का निष्कर्षार्थ होता है। कुतर्कशाली पुरुष को शास्त्र प्रामाण्य अगम्य ही रहता है। इसी तथ्य का समर्थन कुमारिल भट्ट की इस उक्ति से होता है—

"जो अर्थ एकमात्र शास्त्र के द्वारा ही गम्य हैं, उन्हें तर्कों द्वारा दूषित नहीं करना चाहिये।"

भूयिष्ठ ज्ञान का प्रामाण्य से अभेदान्वय सम्बन्ध ही यहाँ अपेक्षित है।।१०।।

सहकार्यन्तरमाह

गुरुमन्त्रदेवताऽऽत्मनःपवनानाम् ऐक्यनिष्फालनादन्तरात्म-वित्तिः।।११।।

गुर्वादयः स्पष्टाः। पवनाः पञ्चप्राणाः। एतेषामैक्यनिष्फालनं भावनया एकत्वसम्पादनम्, तेन अन्तरात्मनः प्रत्यगात्मनो वित्तिर्वेदनं भवतीति शेषः।

जपरूपोपास्तिफलम्

सम्प्रदायविश्वास-सहित-मन्त्रकरणकोपास्तेः फलमाह— ऐक्यनिष्फालन-मैक्यनिर्णयः, तद्द्वारा प्रत्यगात्मज्ञानं भवतीति विशिष्टार्थः।

उमानन्दनाथास्तु

गुरुमन्त्रेत्यस्य आरम्भोल्लासे गुरुमन्त्रदेवतात्मनामैक्यभावनम् एकं साधनं, मनःपवनयोरेकयत्ननिरोद्धव्यत्वज्ञानं चापरं, द्वाभ्यां कार्यसिद्धिरिति व्याचक्रुः।।११।।

इस सूत्र में गुरु, मन्त्र, देवता, आत्मा और मन इन अत्यन्त सहकारी कारणों के साथ पवन रूपी पाँच प्राणों की गणना की गयी है। ये सभी मन्त्र की सिद्धि के सहकारी कारण हैं। मन्त्र भी मन्त्रसिद्धि का सहकारी कारण होता है। इसके साथ ही गुरु आदि तत्त्वों के ऐक्यनिष्फालन अर्थात् भावनात्मक ऐक्य सम्पादन से अन्तरात्मा की वित्ति होती है। इस सूत्र में प्रयुक्त निष्फालन शब्द का अर्थ सम्पादन किया गया है। वस्तुतः निष्फालन परिणामोत्पादन अर्थ में प्रयुक्त होना चाहिये। यह सम्पादन की चरितार्थता में ही समाहित है। ऐक्य सम्पादन के परिणामस्वरूप प्रत्यगात्मा का वेदन होता है, यह वृत्तिकार का पक्ष है।

एक दूसरा पक्ष यह कहता है कि, निष्फालन का अर्थ निर्णय होता है। गुरु मन्त्र आदि कारणों के द्वारा की गयी उपासना के माध्यम से इनके ऐक्य का निर्णय हो जाता है और इस निर्णय के उपरान्त ही प्रत्यगात्म संवेदन सिद्ध होता है। इसका तीसरा पक्ष आचार्य उमानन्द नाथ द्वारा प्रतिपादित है। इनके अनुसार गुरु, मन्त्र, देवता और आत्म का ऐक्य भावन एक अलग साधन है। मन और पवन इन दोनों के एक साथ यत्नपूर्वक निरोध का ज्ञान दूसरा साधन है। इन दोनों के ऐक्य निष्फालन से प्रत्यगात्मा का संवेदन होता है। आचार्य रामेश्वर इस पक्ष को चिन्त्य मानते हैं।।११।।

अर्चनरूप उपास्तिविधिः

एतावत्पर्यन्तं मन्त्रस्तुत्या तत्सहकारिकारणस्य कथनेन च मन्त्रकरणक-क्रियातद्विधिरुन्नेयः। तथा च तादृशी जपरूपैव। एवं जपरूपास्तिं निरूप्य पूजारूपामुपास्तिं विधत्ते—

आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्। तच्च देहे व्यवस्थितम्। तस्याभि-व्यञ्जकाः पञ्चमकाराः, तैरर्चनं गुप्त्या प्राकट्यान्निरयः।।१२।।

यथा चिद्रूपं ब्रह्म एवम् आनन्दरूपमपि। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।' इति श्रुतेः। यथा चिद्रूपमावृतमज्ञानेन न जानाति एवमानन्दस्वरूपमपि दुःखेनावृतं न जानाति। यदा कदाचिद् भारादिरूपदुःखापगमे ब्रह्मणः परिच्छिन्नं रूपं शरीरावच्छेदेन सम्प्रत्यपि जानाति तादृशानन्दः परिच्छिन्नो देहे देहावच्छेदेन

व्यवस्थितः। तस्य अभिव्यञ्जकास्तद्विषयकसाक्षात्कारजनकाः पञ्चमकाराः। एतदन्तेन विधीयमान-द्रव्यस्तुतिः अनुष्ठातृ-प्रवृत्तये यत ईदृशाः श्रेष्ठा मकाराः। अतस्तैरर्चनं गुप्त्या अप्राकट्येन, कुर्वीतेति शेषः। गुप्तिद्रव्योभय-विशिष्टार्चनरूपं कर्म अनेन विधीयते।।१२।।

ब्रह्म की परिभाषा करते हुए मनीषियों ने कहा है कि, ब्रह्म चिद्रूप है। इसी सन्दर्भ में भगवान् परशुराम कहते हैं कि, आनन्द भी ब्रह्म का रूप है। भगवती श्रुति कहती है—"विज्ञान और आनन्द दोनों ब्रह्म हैं।"

जैसे अज्ञान से आवृत होने के कारण ब्रह्म के 'चिद्' रूप को सामान्य अणु पुरुष नहीं जानता, उसी प्रकार दुःख से आवृत 'आनन्द' स्वरूपता का ज्ञान भी उसे नहीं होता। मनुष्य कभी भार ढोने का काम करता है। अत्यधिक भार दुःखदायी होता है। भार उतार देने पर सुख की साँस लेता है। वह सुख क्या है? वह ब्रह्म का ही परिच्छिन्न रूप है। शरीर के माध्यम से वह अनुभूत होता है।

उसी प्रकार आनन्द भी परिच्छिन्न है। देह में देह के माध्यम से व्यवस्थित है। इस आनन्द का अभिव्यञ्जन कैसे होता है? यह सोचने पर ज्ञात होता है कि, इसके साक्षात्कार के कारण रूप पाँच मकार हैं। एक नयी बात यह भी मालूम होती है कि, देहरूप द्रव्य और पञ्चमकाररूप द्रव्यों से चिदानन्द का साक्षात्कार हो सकता है। अनुष्ठाता इन दो माध्यमों से आनन्दोपलब्धि के लिए पूजा में प्रवृत्त होता है।

एक नयी जिज्ञासा यहाँ उत्पन्न होती है। पञ्चमकारों से अर्चन कैसे किया जाय। प्रकट रूप से या गोपन भाव अपना कर? सूत्रकार कहते हैं कि, 'गुप्ति' के द्वारा अर्थात् प्रकट न करते हुए गोपन भाव से पूजा में प्रवृत्त होना चाहिये। प्राकट्य से 'निरय' की प्राप्ति होती है। इस सूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि, गुप्ति का परमेश्वर साक्षात्कार में अप्रतिम महत्त्व है। दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान पञ्चमकारों का है। इन दोनों से विशिष्ट अर्चनरूप कर्म के विधायक इस सूत्र द्वारा उपासना का द्वार अनावृत हो जाता है।।१२।।

एवमुपासनामुक्त्वा उपासकधर्मान् आह

भावनादाढ्यादाज्ञासिद्धिः ।।१३।।

उपासकधर्मोः भावनादार्ढ्यम्। 'अहमिदं जानामि' इत्येतादृशवृत्तिषु इदं पदार्थापेक्षया अहंतया भासमानं श्रेष्ठमिति विवेचनम्-सर्ववृत्तिषु इदमेव भावना-पदार्थः। तस्य दार्ढ्यम् अशिथिलता। अनेन आज्ञासिद्धिः, निग्रहानुग्रहसामर्थ्यं भवतीति शेषः। भावनादार्ढ्यस्तुत्या सर्वदा ईदृशभावनाविधिरुन्नेयः।।१३।।

उपासक का सबसे बड़ा धर्म है, भावना की दृढता। भावना क्या है, इसे समझाते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि, जब कोई 'मैं यह जानता हूँ' इस वाक्य का प्रयोग करता है, तो इस प्रयोग में 'यह' कर्म पदार्थ प्रधान नहीं होता वरन् ज्ञानवान् 'मैं' की ही प्रधानता होती है। सारे व्यवहार जगत् में गौणत्व और प्रधानत्व का बोध ही भावना है। भावना एक प्रकार से वास्तविक विवेचना ही होती है। शैथिल्य के लिये इसमें स्थान नहीं होता। इससे निग्रह और अनुग्रह की शक्तिरूपी आज्ञा की सिद्धि होती है। भावना की दृढता सर्वत्र अपनानी चाहिये।।१३।।

उपासकस्य नियमान्तरमाह

सर्वदर्शनानिन्दा ।।१४।।

इतरदेवतोपासनाविधायकानि यानि दर्शनानि शास्त्राणि तेषां निन्दा न कर्त्तव्येत्यर्थः। तन्निन्दने तदधिकारिणां संशयोत्पत्त्या स्वावलम्बितदर्शनेष्व-नाश्वासः। अस्मिन् शास्त्रे अनधिकाराद् उभयभ्रष्टः छिन्नाभ्रमिव नश्येत्। इममेवार्थं श्रीकृष्णोऽप्याह—

'न बुद्धि-भेदं जनयेदज्ञानां कर्म-सङ्गिनाम्'।
'लोकान्न निन्द्यात्' इति श्रुतिरपि ।।१४।।

संसार में जितने दर्शन हैं, किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये। बहुत से ऐसे दर्शन हैं और शास्त्र हैं, जो अन्यान्य देवोपासना का विधान करते हैं। यद्यपि वे स्वात्मस्वीकृत मान्यता के विपरीत होते हैं, फिर भी उनकी निन्दा कदापि नहीं करनी चाहिये। निन्दा से उसके अनुयायियों के विश्वास में भेद उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। आस्था-शैथिल्य बड़ा भारी दोष है। इससे जैसे बिखरे बादल नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह स्व और पर दोनों में विश्वास की कमी से उपासक उभयतः भ्रष्ट हो जाता है।

श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं— "कर्म में आसक्त अज्ञ पुरुषों में बुद्धि-भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये।"

भगवती श्रुति भी यही निर्देश देती है कि, लोक अर्थात् लोगों या लोक-प्रचलित मान्यताओं की निन्दा नहीं करनी चाहिये।।१४।।

तृतीयं धर्ममाह

अगणनं कस्यापि।।१५।।

स्वशास्त्रविरुद्धं यदि गीर्वाणगुरुर्वदेत्तर्हि स गुरुरिति गणनं न कर्त्तव्यम्। अत एव श्रुतिरपि—"न गणयेत् कमपि" इति।।१५।।

स्वात्म स्वीकृत दर्शन, उपासना अथ च शास्त्र के प्रति आस्था की दृढता को यह सूत्र कट्टरता तक ले जाने का आदेश दे रहा है। यह कहता है कि, हमारे दर्शन, हमारी उपासना पद्धति, हमारे सम्प्रदाय और शास्त्र के सामने सारी मान्यतायें नगण्य हैं। हमारे शास्त्र के विरुद्ध यदि देवगुरु बृहस्पति भी कुछ कहते हैं, तो हम उसे मानने के लिये तैयार नहीं। स्वात्मोपासना पद्धति के विरुद्ध प्रतिवाद करने वाला कथमपि गुरु नहीं कहा जा सकता। यह हमारा दृढ सिद्धान्त है।।१५।।

चतुर्थमाह

सच्छिष्ये रहस्यकथनम् ।।१६।।

कर्त्तव्यमिति शेषः। परिसंख्याविधिरियम्। 'आत्मरहस्यं न वदेत्' इति निषेधस्यापवादोऽयम्। न तु गुप्त्याऽर्चनं इत्यस्यापवादः। तथा सति शिष्यातिरिक्तेषु (सामयिकेषु) (पूजाप्राकट्यानापत्तेः। अतः इदम्)।

आत्मरहस्यं स्वसिद्धान्तरूपं सामयिकेषु शिष्यभिन्नेषु न कथयेत्। सच्छिष्ये कथयेदित्यर्थः ।।१६।।

योग्य शिष्य यदि सम्प्रदाय निकष पर खरा उतर रहा हो, तो उसे सम्प्रदाय-सिद्ध रहस्य का बोध कराने के उद्देश्य से गोपनीय बातों का भी उसको बताना आवश्यक माना जाता है। सूत्र का यह विधान परिसंख्या विधि के अनुसार किया गया है। परिसंख्या विधि मीमांसा दर्शन स्वीकृत विधि है। जब

आत्यन्तिक अप्राप्ति हो, उस समरा कोई नियम बना दिया जाय, उसे विधि कहते हैं। रहस्य कथन का निषेध है। इस स्थिति में नियम बनाया गया कि, सच्छिष्य में कथन होना चाहिये। यह विधि है। परिसंख्या पक्ष में होती है। जैसे मन्त्र गोपन का निषेध है अथवा 'अपना रहस्य नहीं बताना चाहिये, इस निषेध का अपवाद उक्त नियम है। अर्चन में भी गोपन प्राप्त है। रहस्य कथन में भी गोपन प्राप्त है। मन्त्र प्रदान में भी गोपन प्राप्त है किन्तु सच्छिष्य में यह विधि बन गया है। इसलिये यह परिसंख्या विधि है। साहित्य में परिसंख्यालङ्कार भी इससे मिलता-जुलता है। इसलिये स्वात्मस्वीकृत रहस्य को जिसे व्यक्ति अपना सम्प्रदायनिष्ठ सिद्धान्त मानता है, उसे समय पालन में संलग्न सामयिक शिष्यों को प्रदान करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये किन्तु शिष्य के अतिरिक्त अन्य के प्रति कभी भी किसी अवस्था में भी इसे प्रदान नहीं करना चाहिये, यह शास्त्रकार का मन्तव्य है।।१६।।

पञ्चमधर्ममाह

सदा विद्यानुसंहतिः ।।१७।।

सदा सर्वकालं पूजादिविहितनित्य-कर्मानुष्ठान-कालव्यतिरित्ते सर्वदेत्यर्थः। विद्यायाः स्वोपास्य-देवतावाचक-मन्त्रस्य अनुसंहतिस्तत्प्रतिपादितार्थस्य अनुसन्धानं, कर्त्तव्यमिति शेषः।

यद्वा अनुसंहतिर्मनसा जपः कार्य इत्यर्थः। न च आसनादि-नियमरहितस्य जपो युक्त इति शङ्कनीयम्, मानसे कस्यापि नियमस्याभावात्। तदुक्तं परमानन्दतन्त्रे—

मानसेऽनन्तगुणितं नियमस्तत्र नैव तु।
गच्छन् शयान आसीनो मुक्तो वा यत्र कुत्रचित्।
अस्नातश्चापवित्रश्च न दोषस्तत्र विद्यते।।१७।।

यहाँ सदा शब्द शाश्वत और अजस्र अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। समय के उस काल खण्ड में जिसमें दैनन्दिन नित्य कर्मों का अनुष्ठान उपासक करता है, उसकी गणना इस सदा के परिवेश में नहीं की जाती। उस काल को छोड़ कर जो समय बचता है, स्वप्न और सुषुप्ति से जो समय बचता है, उसमें 'सदा' अव्यय का प्रयोग किया गया है।

जहाँ तक विद्या शब्दार्थ का प्रश्न है, यह अपने उपास्य इष्ट देवता के वाचक मन्त्र के लिये ही प्रयुक्त है। इसी इष्टमन्त्र की जिसे गुरुमन्त्र भी कहते हैं, उसकी अनुसंहति होनी चाहिये। 'अनुसंहति' शब्द अनुसन्धान अर्थ में प्रयुक्त है। अनुसन्धान मन्त्रों में प्रतिष्ठित दिव्य रहस्यार्थों का ही किया जाता है।

अनुसंहति शब्द का एक अन्य अर्थ भी लगाया जा सकता है। वस्तुतत्त्व का अनुसन्धान सदा मानसिक होता है। अतः सदा अनुसंहति शब्द मानस जप की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है, आसन आदि नियमों से रहित जप नहीं हो सकता, इस प्रकार की आशङ्का मानस जप में नहीं करनी चाहिये। परमानन्दतन्त्र में स्पष्ट लिखा हुआ है कि,

"मानस जप का अनन्तगुना फल होता है। इसमें किसी प्रकार के नियम की कोई आवश्यकता नहीं होती। यह चलते-फिरते सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते किसी भी अवस्था में किया जा सकता है। इसमें स्नान भी आवश्यक नहीं होता। कभी अपवित्रता का अवसर भले आ जाय, उसमें भी इसे करना चाहिये।"

इस सूत्र में प्रयुक्त सदा, विद्या और अनुसंहति शब्द अपने वैशिष्ट्य का पूरा ख्यापन कर रहे हैं।।१७।।

षष्ठं धर्ममाह

सततं शिवतासमावेशः ।।१८।।

'सततम्' अस्याप्यर्थः पूर्वसूत्रस्थ-सदा-शब्दवत्। शिवतायाः समावेशः आविर्भावः कर्त्तव्य इति शेषः। नित्यकर्मानुष्ठानव्यतिरिक्तकाले शिवोऽहमस्मीति भावयेद् इति तात्पर्यम्।

वस्तुतस्तु पूर्वधर्मेण सहायं विकल्प्यते। अन्यथा उभयोर्भावनयोर्युगपत्सम्पादनासम्भवात्। पूजादि-व्यतिरिक्तकाले अन्यतरस्यानुष्ठानमिति भावः।

यद्वा— पूर्वधर्मो मन्दाधिकारिणः। अयं मुख्याधिकारिणः।।१८।।

पूर्वसूत्र 'सदा विद्यानुसंहतिः' में सदा शब्द जिस अर्थ को अभिव्यक्त कर रहा है, उसी अर्थ में इस सूत्र में प्रयुक्त 'सतत' शब्द का भी व्यवहार किया गया है। शिवतासमावेश में षष्ठी तत्पुरुष है। शिव का धर्मानुगुण्य ही शिवत्व

है। उसका समावेश अर्थात् आविर्भाव। शिवत्व का अविर्भाव करना चाहिये। नित्यकर्मों का अनुष्ठान करने के बाद यह भावन करना चाहिये कि, 'मैं स्वयं शिव हूँ'। इस सूत्र का यही तात्पर्य है।

वास्तविकता यह है कि, शिवत्व का भावन एक वैकल्पिक कर्त्तव्य है। पहले नित्य कर्म का विकल्प। पुनः शिवत्व भावन का विकल्प। दोनों भावों का युगपद् सम्पादन असम्भव है। पूजादि के बाद इसका अनुष्ठान ही होना चाहिये।

इसका एक अन्य अर्थ भी विचारणीय है। पूर्वधर्म मन्द अधिकारी का धर्म है और यह मुख्य अधिकारी का धर्म है।

वस्तुतः मेरे विचार से इस सूत्र का ऊपर प्रतिपादित अर्थ आगमिक परम्परा के पूर्णतः प्रतिकूल है। समावेश भावना नहीं एक दशा है। भावन में भावना अर्थात् मानस अनुसन्धान होता है। समावेश अकिञ्चित् चिन्तन की निर्विकल्प दशा की रूढि है। समावेश में गुरु द्वारा कृत शक्तिपातजन्य प्रतिबोध का उल्लास करना नहीं पड़ता, वरन् वह स्वयं स्पन्दमान रहता है। इसका सतत शब्दार्थ पूर्वसूत्रवत् नहीं है। इसके सातत्य का अर्थ उस दशा से शाश्वत अप्रच्याव है। शिवता समावेश का षष्ठ्यर्थ सप्तम्यर्थ गर्भ है। पहले अणु था। पार्थक्य प्रथा से प्रथित था। अब वह स्वयं शिव है। शिवत्व से शिवत्व में समाहित है। तत्त्वेन प्रवेष्टुं प्रयत्नशील नहीं है, वरन् समा चुका है। वह शिव हो चुका है। यह समावेश दशा है। शिवतासमावेश शाम्भव समावेश है। यह श्रीचक्र साधक का सर्वातिशायी धर्म है। इसका मुख्याधिकारी वाला विकल्प आगमिकता के अनुकूल है।।१८।।

सप्तममाह

काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्याविहित-हिंसा-स्तेय-लोक-विद्विष्टवर्जनम्।।१९।।

कामो वैषयिकी इच्छा। इदं मे भूयादित्याकारिका क्रोधस्तमस उद्रेकेण जनितोऽसौ अन्तःकरणधर्मः। लोभो द्रव्यादिनिष्ठस्वत्वत्यागप्रतिबन्धकोऽत्यन्तमनुरागविशेषः। मोहः, कार्याकार्याविचारणम्। मदो गर्वः। मात्सर्यं

द्वेषजनितो गुणिनि दोषारोपः। अविहितहिंसा, रागेण भक्षणार्थं पश्वादिवधः। स्तेयं, परानानुमत्या परद्रव्यहरणम्, लोकविद्विष्टं, मातृबुद्ध्याऽपि एकान्ते परस्त्रीसंलापादि। एतेषां वर्जनं त्यागः कर्त्तव्य इति शेषः।।१९।।

वैषयिकी इच्छा को काम कहते हैं। 'मुझे यह वस्तु मिल जाय' इस विषय सम्बन्धी इच्छा को काम मानते हैं। क्रोध में तामसिकता का उद्रेक होता है। यह अन्तःकरण का धर्म है। द्रव्य में अधिकारी का स्वत्व होता है। इस स्वत्व के त्याग के साथ द्रव्य दूसरे को साधिकार देना दान है किन्तु इसका प्रतिबन्धक आत्यन्तिक अनुराग पूर्व लिप्सा ही लोभ है। मोह में कार्य और अकार्य का विचार नहीं होता क्योंकि इसमें चेतना अपना काम नहीं कर पाती। मद मूर्खतापूर्ण गर्व होता है। मात्सर्य में द्वेषभाव से अच्छे पुरुष में दोष दिखायी पड़ने लगते हैं। हिंसा दो प्रकार की होती है— १. विहित और २. अविहित। वैदिकी हिंसा विहित मानी जाती है। मांस खाने की तामसी इच्छा से पशुवध अविहित हिंसा मानी जाती है। स्तेय विना स्वामी की अनुमति के उसका द्रव्य-हरण करना कहलाता है। यद्यपि ये सारी क्रियायें और आचरण लोकविरुद्ध हैं, फिर भी कुछ ऐसे कार्य होते हैं, जो प्रत्यक्षतः लोकविद्वेष के कारण बन जाते हैं। जैसे मातृ-भावन अपनाकर दूसरी स्त्री से एकान्त में बातें करना आदि। इन सब का वर्जन आवश्यक है।

भगवान् परशुराम श्रीविद्या के उपासक को आदर्श चरित पुरुष के रूप में देखना चाहते हैं। यह आशा स्वाभाविक है कि, उपासक सर्वगुणसम्पन्न हो। यह भी सच्चाई है कि, इन दुर्गुणों का त्याग सामान्य स्तर के व्यक्ति के लिये असम्भव है। इस सूत्र में जिस पुरुष का प्रकल्पन किया गया है, वह साधना के सोपानों को पार कर पारमेश्वर शक्तिपात का अधिकारी हो जाता है। केवल कथन से यह सम्भव नहीं। आयास-साध्य उपासकधर्म अपनाना आवश्यव है।।१९।।

अष्टमं धर्ममाह

एकगुरूपास्तिरसंशयः।।२०।।

न विद्यते संशयो यत्रेति विग्रहेण असंशय इत्येकगुरूपास्ति-विशेषणम्, भिन्नलिङ्गत्वमार्षम्।

अयं भावः—अनेकगुरूपास्तौ पूर्वगुरूक्तविरुद्धं यदि वदेत् तर्हि संशयो भवेदेव।

एकगुरूपास्तौ न संशयो भवेत्। अत एकगुरूपास्तिः कार्येति भावः। गुरूपास्तेः 'सम्प्रदायविश्वासाभ्याम्' इति पूर्वसूत्रेणैव प्राप्तौ पुनर्विधानम् एकं गुरुमाश्रित्य न गुर्वन्तरमाश्रयेद् इति इतरगुर्वाश्रयनिवृत्तिफलकेयं परिसंख्या।।२०।।

असंशय शब्द का अर्थ करते समय नञ् समास का अभाव अर्थ और संशय इन दोनों का साथ विचार करना चाहिये। इस आधार पर कहा जा सकता है कि, जहाँ संशय का अभाव हो, उसे असंशय कहते हैं। पूरे सूत्र का इस सन्दर्भ में अर्थ होता है— एक गुरु की उपासना संशयरहित होनी चाहिये। असंशय शब्द में पुंलिङ्ग प्रयोग और उपास्ति का स्त्रीलिङ्ग प्रयोग आर्ष प्रयोग है। इस तरह असंशय शब्द उपास्ति का विशेषण सिद्ध हो जाता है।

गुरु शब्द से यहाँ दीक्षागुरु अभिप्रेत है। गुरु ज्ञान के प्रकाश से शिष्य के जीवन को धन्य बना देता है। ऐसे गुरु की असंशय उपासना शिष्य का परमकर्त्तव्य है। अनेक गुरु नहीं हो सकते। 'ज्ञानवान् गुरुरिष्यते' के अनुसार गुरु ज्ञानवान् होना ही चाहिये। अनेक गुरुओं की उपासना से व्यवहार खण्डित हो जाता है। पहले गुरु के वचन के विरुद्ध कुछ कहने पर संशय उत्पन्न होना स्वाभाविक है। वहीं एक ज्ञानवान् गुरु के तपःपूत व्यक्तित्व और उनकी दीक्षा के लाभ से अभिभूत शिष्य के मन में शङ्का के लिये कोई स्थान नहीं होता। इसलिये गुरु एक ही होना चाहिये और उसी में श्रद्धा और आस्था की दृढता अपनानी चाहिये। पहले आये हुए सूत्र—**'सम्प्रदायविश्वासाभ्याम्'** में सम्प्रदाय शब्द सम्यक् रूप से गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान प्रकर्ष के उत्तरदायित्व के नियमों को व्यक्त करता है। शिष्य उन नियमों का विश्वासपूर्वक पालन करता है। गुरु की उपासना के ये दो मूलभूत तत्त्व हैं— १. सम्प्रदाय और २. विश्वास। इस सूत्र से भी एक गुरु की उपासना संकेतित हो रही है। फिर भी इस सूत्र द्वारा पुनः एक गुरूपासना का विधान एक गुरु का त्याग कर गुर्वन्तर आश्रय का बलपूर्वक निषेध करने के लिये किया गया है। गुर्वन्तरोपास्तिनिवृत्तिफलक यह सिद्धान्तनिष्ठ विधान है। इसमें संशयवाद और तर्क के लिये कोई स्थान नहीं रह गया है।।२०।।

नवमं धर्ममाह

सर्वत्र निष्परिग्रहता ।।२१।।

सर्वत्र मपञ्चकादिषु निष्परिग्रहता। निर्गतः परिग्रह इच्छा यस्य सः निष्परिग्रहः। तस्य भावस्तत्ता। "पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः" इत्यमरः। अत्रादानस्य परिग्रहस्य मूलम् इच्छैव, एतादृशकोशानुसारेण परिग्रह-शब्द इच्छावाचकः। मपञ्चकं मे भूयाद् इतीच्छया न स्वीकार्यम्।

यद्वा—सर्वत्र वस्तुमात्रे निष्परिग्रहता स्वीयबुद्धित्यागः सम्पादनीयः। सर्वत्र ममता त्याज्येति यावत्।।२१।।

सर्वत्र मपञ्चक आदि में निष्परिग्रहता होनी चाहिये। यह सूत्र का संक्षिप्त अर्थ है। यहाँ सर्वत्र शब्द का मपञ्चक आदि में यह अर्थ किया गया है। सामान्यतया सर्वत्र शब्द से सर्वस्थान का प्रकल्पन होता है। सर्व शब्द के परिवेश में सारा विश्वप्रपञ्च आता है। इस दृष्टि से इसका अर्थ 'इस विश्वात्मक प्रपञ्च और स्थानात्मक विस्तार में परिग्रह बुद्धि नहीं रहनी चाहिये' यही होना चाहिये।

परिग्रह शब्द अमरकोश के अनुसार पत्नी, परिजन, आदान, मूल और शाप इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। कुछ लोग आदान को मूल के साथ जोड़कर चार अर्थ ही करते हैं। इस दृष्टि से जिन व्यक्तियों के स्वभाव से ये निर्गत हो जाते हैं, वे निष्परिग्रह कहलाते हैं। निष्परिग्रह का भाव ही निष्परिग्रहता कहलाती है। परिग्रह शब्द का 'इच्छा' अर्थ भी करते हैं। मपञ्चक में मेरी इच्छा हो अथवा मपञ्चक मुझे हो इस इच्छा से किसी की स्वीकृति नहीं होनी चाहिये। इस सूत्र का एक वैकल्पिक अर्थ भी वृत्तिकार ने प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार सर्वत्र वस्तु मात्र में 'यह मेरी है' इस प्रकार की बुद्धि का त्याग ही सर्वत्र निष्परि-ग्रहता है। इसका सदैव सम्पादन होना चाहिये। अर्थात् कहीं ममता नहीं होनी चाहिये।।२१।।

दशमं धर्ममाह

फलं त्यक्त्वा कर्मकरणम् ।।२२।।

फलं पूर्वोक्तं कृत्रिमं तत्साधनं च धर्मार्थकामा इति यावत्। फलविषयिणी इच्छा फलपदस्यार्थः। तं त्यक्त्वा कर्मणो विहितस्य करणं

भवतीति शेषः। काम्यं कर्म न कर्त्तव्यमित्यर्थः। काम्यं कर्म न कर्त्तव्यमिति वक्तव्ये फलं त्यक्त्वा कर्त्तव्यमिति कथनात् काम्यानामपि कर्मणामीश्वरार्पण-बुद्ध्या अनुष्ठानं कर्त्तव्यमिति ज्ञायते।।२२।।

'फल का त्याग कर कर्म करना चाहिये' यह सूत्र का सार अर्थ है। जहाँ तक फल का प्रश्न है, इसके कृत्रिम फल साधन धर्म, अर्थ और काम हैं। फल का तात्पर्य फलविषयक इच्छा ही है। इस फलाकाङ्क्षा का परित्याग कर विहित कर्म का करना उत्तम होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, काम्य कर्म नहीं करना चाहिये। सूत्र में यही कहना चाहिये था। उसके स्थान पर फल का त्याग कर करना चाहिये, यह कथन यह निर्दिष्ट करता है कि, ईश्वरार्पण बुद्धि से काम्य कर्म सम्पादित करना चाहिये।।२२।।

एकादशं धर्ममाह

अनित्यकर्मलोपः ।।२३।।

नित्यं च तत्कर्म च नित्यकर्म, स्नानसन्ध्यापूजादि। तस्य लोपः अननुष्ठानं नित्यकर्मलोपः। न विद्यते नित्यकर्मलोपो यस्मिन्नुपासके स अनित्यकर्मलोपो भवेदिति शेषः। नित्यकर्म अवश्यंकर्त्तव्यमित्यर्थः। नित्य-कर्म कर्त्तव्यमिति वक्तव्ये व्यतिरेकमुखेन कथनं, त्यागे न केवलं क्रतुवैगुण्यम्, प्रत्यवायो निरयश्चेति ज्ञापयति।।२३।।

नित्य और कर्म दो शब्दों का समवायगत अर्थप्रद यह नित्यकर्म शब्द है। स्नान, संध्या और पूजा आदि नित्यकर्म माने जाते हैं। इनका अनुष्ठान नियमित होना चाहिये। अनुष्ठान का लोप अर्थात् अननुष्ठान ही नित्यकर्म लोप माना जाता है। नित्यकर्म लोप जिस उपासक का नहीं होता है, वह अनित्यकर्मलोप उपासक होता है। अर्थात् उपासक का यह धर्म है कि, वह नित्यकर्म अवश्य करे। नित्य-कर्म करना चाहिये, वस्तुतः सूत्र में यही कहना चाहिये था किन्तु सूत्रकार ने व्यतिरेक शैली का आश्रय लिया है। इससे यह सूचित होता है कि, नित्यकर्म के त्याग से न केवल कर्म-वैगुण्य होता है, नरक की भी प्राप्ति सम्भव है।।२३।।

ननु नित्यकर्म-साधनीभूत-मपञ्चकालाभे कथं कार्यमित्याशङ्कायामाह

मपञ्चकालाभेऽपि नित्यक्रमप्रत्यवमृष्टिः।।२४।।

मपञ्चकालाभे मुख्यं नास्तीति न कर्मलोपः। किन्तु प्रतिनिधिनाऽपि नित्यक्रमो नित्यपूजा तस्याः प्रत्यवमृष्टिः अनुष्ठानं कर्त्तव्यमिति शेषः। तेन नित्यपूजायां विशेषद्रव्यालाभेऽपि प्रतिनिधिना निर्वाहः सूचित इति नित्य-पूजायामेवाभ्यनुज्ञा, नान्यत्रेति।।२४।।

मपञ्चक द्रव्यों की अप्राप्ति होने पर मुख्य द्रव्य नहीं है, यह सोच कर कर्म में अवरोध नहीं आने देना चाहिये। प्रतिनिधि द्रव्य से भी नित्यपूजा का क्रम पूरा करना कर्म का अनुष्ठान ही होता है। इसलिये यह सिद्धान्त रूप से मान्य है कि, विशेष द्रव्य के न रहने पर भी प्रतिनिधि द्रव्य से निर्वाह करना आवश्यक है। यह अभ्यनुज्ञा नित्यकर्म के लिये है। किसी अन्य काम्य या नैमित्तिक के लिये नहीं।।२४।।

द्वादशं गुणमाह

निर्भयता सर्वत्र ।।२५।।

सर्वत्र सर्वतः मपञ्चकस्वीकारे कौलमार्गावलम्बनेन नरकादि-प्रतिपादकानि यानि शास्त्राणि तेभ्यः सर्वेभ्यो निर्गतं भयं यस्मात् स निर्भयः, तस्य भावस्तत्ता सम्पादनीयेति शेषः। तानि सर्वाणि शास्त्राणि रागिणं भीषयन्ति कामं भीषयन्तु, अहं तु न रागी किन्तु शास्त्रेण प्रवर्त्तितेन न मे भीतिरिति निर्धारणेन निर्भयता सम्पादनीयेति भावः।।२५।।

मपञ्चक से सर्वत्र पूजा को कौलमार्ग अङ्गीकार करता है। कौल शास्त्र यह प्रतिपादित करते हैं कि, इनसे निरय (नरक) आदि की सम्भावना नहीं होती। इससे उपासक निर्भय हो जाता है। भय तो रागी व्यक्तियों को होता है। श्रीविद्योपासक रागी नहीं होता। अतः इसे निर्भय रहना चाहिये।।२५।।

सकलसिद्धान्तसारभूतं धर्ममाह

सर्वं वेद्यं हव्यम्, इन्द्रियाणि स्रुचः शक्तयो ज्वालाः स्वात्मा शिवः पावकः स्वयमेव होता।।२६।।

इति भावयेदिति शेषः। अन्तःकरणवृत्तिभिरिति वेद्यमित्यस्यादौ पूरणीयम्। अन्तःकरणवृत्तिवेद्यं सर्वं हविष्ट्वेन भावयेत्। यथा अग्नौ प्रक्षिप्तं हविस्तदाकारं

भवति एवं वृत्तिवेद्यानां सर्वेषां शिवरूपेऽग्नौ होमे सति शिवाकारसम्पत्तेस्तेषु हविष्ट्वेन भावनं युक्तम्।

तादृशहविष आधारभूतहोमसाधनीभूत-जुहूरेव स्रुक्पदेन गृह्यते, न स्रुवादयः, तेषां स्रुक्पदवाच्यत्वेऽपि होमसाधनत्वाभावेन होमभावनाप्रकरणे स्रुवादीनामयोग्यत्वात्।।२६।।

यह सारा विश्व ही वेद्य है। वेद्यवस्तु का ज्ञान अन्तःकरण की वृत्तियों से होता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि, अन्तःकरण की वृत्तियों द्वारा सारा वेद्यमात्र आध्यात्मिक यज्ञ में अर्पित करने योग्य हवनीय द्रव्य है। सारी इन्द्रियाँ स्रुक् हैं। हविष्य के आधारभूत होम में साधन रूप से प्रयुक्त मुख्य पात्र स्रुक् होता है। स्रुवा आदि नहीं। स्रुवा होम का साधन नहीं होता। होम भावना के सन्दर्भ में स्रुवा स्रुक् के समक्ष कोई महत्त्व नहीं रखता। शक्तियाँ ज्वाला हैं। स्वात्मा शिव ही पावक है। और उपासक स्वयं होता माना जाता है। जैसे अग्नि में अर्पित हविष्य अग्निसात् होकर अग्निरूप में परिवर्त्तित हो जाता है। इसी तरह वृत्तिवेद्य सभी वस्तुजात को शिवरूप अग्नि की ज्वाला में हवन से शिवरूपत्व की उपलब्धि हो जाती है। इसलिये वेद्यों का हविष्ट्व-भावन और शिव रूप में सर्व समर्पण का भाव उपासक व्यक्ति के लिये अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है।।२६।।

एवमनुष्ठितभावनायाः फलमाह

निर्विषयचिद्विमृष्टिः फलम्।।२७।।

निर्विषयाया निर्विकल्परूपायाश्चितो विमृष्टिः फलम्। पूर्वोक्तभावनाया इति शेषः।।२७।।

पौराणिक भगवान् शिव को सच्चिदानन्द कहते हैं। आगमिक चिदानन्दघन कहते हैं। चित् निर्विकल्प रूप ज्ञान होता है।

आणव भाव में सविकल्पकात्मकता का प्रभाव होता है। जब उपासक अणुता पर विजय कर आध्यात्मिक यज्ञ का होता बनकर इसे सिद्ध कर लेता है, उस समय उसका चिद्विमर्श निर्विकल्पदशा का स्पर्श कर लेता है। यही इस उपासना का फल है।।२७।।

ननु किमीदृशफललाभेनेत्यत आह

आत्मलाभान्न परं विद्यते।।२८।।

आत्मलाभात् स्वरूपलाभात् परं श्रेष्ठं फलम् इति पूर्वसूत्रस्थमनुषज्यते। न विद्यते नास्तीत्यर्थः। "पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः" इति 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति" इति च श्रुतिः। इममर्थं प्रतिपादयति। मोक्षः परमपुरुषार्थ इत्यत्र न कोऽपि विवादं करोति। अतस्तादृशभावनया परमपुरुषार्थ इति भावः। पूर्वं "स्वविमर्शः पुरुषार्थः" इत्यनेन पुरुषार्थस्वरूपं प्रतिपादितम् अत्र स्तुतिरिति न पौनरुक्त्यम्।।२८।।

इस जीवन में स्वात्म रूप ही विस्मृत हो चुका है। इसी की उपलब्धि जीवन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानी जाती है। स्वरूप लाभ से बढ़कर कोई लाभ नहीं हो सकता। इसे ही निर्विषय चिद्-विमृष्टि शब्द के माध्यम से पूर्व सूत्र में परिभाषित किया गया है। भगवती श्रुति कहती है—

"पुरुष से पर अर्थात् उसको अतिक्रान्त कर वर्त्तमान कोई नहीं है। पुरुष सत्ता की अनुभूति सर्वातिशायिनी सीमा है और वही सर्वोत्तम गति भी है।" इसके अतिरिक्त भी कहा गया है कि, "उस परमेश्वर को इस रूप में जानने वाला स्वयम् अमृत हो जाता है।"

ये दोनों उक्तियाँ इस सूत्र का समर्थन कर रही हैं। मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहते हैं। वह निर्विवाद तथ्यात्मक सत्य है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, उक्त पुरुषार्थ भाव का भावन जीवन के चरम उत्कर्ष का साधक हो सकता है। पहले स्वात्मविमर्श को पुरुषार्थ कहा गया है। यहाँ पुरुषार्थ के महत्त्व का प्रतिपादन है, पुनरुक्ति नहीं है।।२८।।

अत्रायं सिद्धान्तः इत्यारभ्य प्रक्रान्तमर्थमुपसंहरति

सैषा शास्त्रशैली।।२९।।

सैषा पूर्वोक्ता शास्त्रशैली। शास्तीति शास्त्रं पञ्चाम्नायरूपं, तस्य शैली रीतिर्भवतीति शेषः ।।२९।।

ऊपर निर्दिष्ट धर्मों का स्वरूप, उनका प्रतिपादन और उनके अनुसन्धानपूर्वक आचरण विज्ञान का सारा विस्तार शास्त्र की शैली मानी जाती है। शैली

को रीति भी कहते हैं। किन्तु शैली रीति से महत्त्वपूर्ण होती है। अभिव्यक्ति के विशिष्ट प्रकार को शैली कहते हैं। वहीं रीति एक अनुकरणीय पद्धति मात्र होती है। शास्त्र का शील पाँच आम्नायों में अभिव्यक्त है। उसे पूर्व, दक्षिण, उत्तर, पश्चिम और ऊर्ध्वाम्नाय रूपों में जाना जाता है।।२९।।

एतादृशं शास्त्रं श्रोतृप्रवृत्तये प्रशंसति

वेश्या इव प्रकटा वेदादिविद्याः ।
सर्वेषु दर्शनेषु गुप्तेयं विद्या ।।३०।।

वेश्या इव प्रकटाः सुलभा वेदादि-विद्याः। आदिना स्मृत्यादिः। वेश्योपभोगो द्रव्यादिव्ययेन यथा सुलभः, एवं वेदादि-विद्यालाभो द्रव्यादिदानेन सुलभ इत्यर्थः। अध्ययनस्य लोभमूलता शास्त्रेणैव प्रतिपादिता। "षण्णां तु कर्मणां मध्ये त्रीणि कर्माणि जीविका"। इति।

अस्याः मोक्षसाधनीभूतब्रह्मविद्यायास्तु न कोटिकनकव्ययेनापि लाभः किन्तु गुरुकृपैकलभ्यत्वम्।।३०।।

सारी वेद आदि विद्यायें जो प्रकट हैं अर्थात् सर्वसुलभ हैं, उनका परमपुरुषार्थ लाभ की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। वे रहस्य विद्यायें नहीं हैं। वेद आदि शब्द में आदि शब्द से स्मृति आदि का ग्रहण होता है।वे भी प्रकट विद्यायें हैं। ये सारी विद्यायें सूत्रकार की दृष्टि से वेश्याओं के समान हैं।

वेश्याओं का उपभोग द्रव्य आदि के व्यय से सभी लोग कर सकते हैं। वेद आदि विद्याओं के स्वाध्याय का अभिलाष मन में और पास में द्रव्य का प्रबन्ध हो तो, अध्यापक को घर पर बुला कर भी पढ़ा जा सकता है। सूत्रकार के समकालीन पैसा लेकर पढाने वालों पर यह एक कटाक्ष की तरह प्रतीत होता है। यह सत्य है कि, इन प्रकटविद्याओं का उपभोग उसी तरह सर्वसुलभ है जैसे वेश्या वर्ग का उपभोग।

अध्ययन की लोभमूलकता की चर्चा शास्त्रों में भी की गयी है। एक स्थान पर कहा गया है कि,

"ब्राह्मणों के छः कर्म (पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना और दान देना एवं लेना) निर्धारित हैं। इनमें से तीन कर्म (पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना) तो जीविकार्थ ही स्वीकृत हैं।"

जीविका के प्रति लोभ स्वाभाविक है। इन तीनों से द्रव्योपार्जन होता है। अर्थ के अभाव से जीवन कष्टसाध्य हो जाता है। पर इस कष्ट को प्राचीन ब्राह्मण वर्ग सहर्ष स्वीकार करता था।

जहाँ तक परमपुरुषार्थसाधनीभूत ब्रह्मविद्या का प्रश्न है, यह रहस्य विद्या है। करोड़ों द्रव्य व्यय कर भी इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह एकमात्र गुरुकृपा और उनके अनुग्रह पर निर्भर है। इसलिये यह सर्वातिशायिनी ब्रह्मविद्या है ।।३०।।

एतावत्पर्यन्तं शास्त्रमनूद्य उपासकेन प्रथमां कर्त्तव्यां क्रियामाह

तत्र सर्वथा मतिमान् दीक्षेत ।।३१।।

सप्तमी षष्ठ्यर्थे, प्रकृत्यर्थः श्रीविद्योपास्तिः। षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः तदव्यवहितपूर्ववृत्तित्वम्। तस्य दीक्षापदार्थे आश्रयतया अन्वयः। तस्य करणत्वसम्बन्धेन भावनायामन्वयः। तथा च श्रीविद्योपासनाऽव्यवहितपूर्ववृत्ति दीक्षया इष्टं भावयेद् इति विशिष्टबोधः। अत एवोत्पत्तिविधिः। सर्वथा अवश्यं मतिमान् पूर्वोक्तभूमिकामारूढः। एतत्पदस्वारस्यादेव अयमधिकारविधिरपि। तादृशभूमिकामारूढस्यैव अधिकारो नान्यस्येति सिद्धम्।।३१।।

तत्र शब्द में सप्तमी विभक्ति का अर्थ सम्बन्ध का द्योतक है। प्रकृत प्रक्रान्त तत्त्व यहाँ श्रीविद्या है। सम्बन्ध अव्यवहितपूर्व वस्तु से होता है। श्रीविद्योपासना के अव्यवहितपूर्व दीक्षा होनी चाहिये। श्रीविद्योपासना दीक्षा पर ही आश्रित है। दीक्षा में करण कारक का अन्तर्भाव है अर्थात् दीक्षा के ग्राह्य सिद्धान्तों के द्वारा उपासना करे। इसे इस तरह कह सकते हैं कि, श्रीविद्योपासना के अव्यवहितपूर्व दीक्षा द्वारा इष्ट का भावन करना चाहिये। यह विशिष्ट बोध उत्पन्न होता है। इस आधार पर इस सूत्र को उत्पत्तिविधि भी कह सकते हैं। पूर्व भूमिका में आरूढ व्यक्ति ही मतिमान् कहा जाता है। उपासना में मति है। अत एव वह मतिमान् है। ऐसे मतिमान् को ही दीक्षा में अधिकार है। इसलिये इस सूत्र को अधिकारविधि सूत्र भी कह सकते हैं ।।३१।।

दीक्षात्रयम्

एवं दीक्षां विधाय तत्र अवान्तरभेदवतीषु तासु एककालसम्बन्धं विधातुम् आदौ तां विभज्य विभागप्रयोजकं धर्मं च प्रदर्श्य तासु तिसृष्वपि एककालसम्बन्धरूपं गुणं विधत्ते—

दीक्षास्तिस्रः, शाक्ती, शाम्भवी मान्त्री चेति। तत्र शाक्ती शक्तिप्रवेशनात्, शाम्भवी चरणविन्यासात्, मान्त्री मन्त्रोपदिष्टया सर्वाश्च कुर्यात् ।।३२।।

चेतीत्यन्तेन विभागं कृत्वा तासां नामकथनम्। तत्र तासु मध्ये शाक्तीत्यस्यार्थं विवृणोति— शक्तिप्रवेशनात्। जातेति शेषः। यद्वा शक्तिप्रवेशनाद् इति हेतौ पञ्चमी। शक्तिप्रवेशनाद् या दीक्षा शक्तिप्रवेश-हेतुकीत्यर्थः। एवमेवाग्रेऽपि। प्रवेशनादिति स्वार्थे ल्युट्। शक्तिप्रवेशनं नाम अग्रे 'तदमृतक्षालितम्' इत्यारभ्य पाशान् दग्ध्वा' इत्यन्तं प्रतिपादिता क्रिया।

चरणविन्यासो नाम शिष्यशिरसि गुरुकर्त्तृकं कामेश्वरी-कामेश्वरयो रक्तशुक्लचरणभावनम्। मन्त्रोपदेशस्तु स्पष्टः। शिष्यमात्रश्रावणविषय-गुरुकर्त्तृकशब्दोच्चारणरूपः। सर्वाः पूर्वोक्ताः। तिस्रश्चेत्यनेन एककालसम्बन्धः तासु बोध्यते। च-शब्दः साहित्यवाची। साहित्यं च एककालसम्बद्धत्वरूपम्। तथा च सर्वा दीक्षाः सह कुर्यादिति फलितोऽर्थः।

दीक्षात्रय

प्रथम सूत्र में यह प्रतिज्ञा की गयी है कि, दीक्षा की व्याख्या करने जा रहा हूँ। उसके बाद उपासना के स्वरूप और उपासकों के धर्मों एवं गुणों की चर्चा की गयी। पुनः शास्त्र-शैली के प्रसङ्ग में विद्या की अत्यन्त गोपनीयता का वर्णन सूत्र ३० तक कर दिया गया है। सूत्र ३१ में दीक्षा की आज्ञा प्रदान कर दी गयी। इस बत्तीसवें सूत्र में दीक्षा के भेद और इनके एककालिक संबन्ध का विधान करने के लिये सूत्र का प्रवर्त्तन कर रहे हैं—

दीक्षायें तीन प्रकार की होती हैं— १. शाक्ती दीक्षा, २. शाम्भवी और ३. मान्त्री।

१. शक्ति प्रवेशन के माध्यम से दी जाने वाली दीक्षा शाक्ती कहलाती है। हेतु अर्थ में 'प्रवेशनात्' में प्रयुक्त पंचमी विभक्ति शक्ति-प्रवेश के द्वारा दी जाती है, यह अर्थ अभीप्सित है। स्वार्थ में ल्युट् का प्रयोग किया गया है। शक्ति प्रवेशन की प्रक्रिया का वर्णन इसी क्रम के सूत्र ३५ और ३६ में किया गया है।

२. शाम्भवी दीक्षा चरण विन्यास द्वारा दी जाती है। चरण विन्यास एक आध्यात्मिक भावन है। कामेश्वरी और कामेश्वर के रक्त और शुक्ल वर्ण के अरुण चरण का शिष्य के शिर पर गुरु द्वारा भावन किया जाता है। शिष्य यह ध्यान करता है कि, वे चरण उसके उत्तमाङ्ग से सारे शरीर में आध्यात्मिक ऊर्जा का संचार कर रहे हैं। इस अनुभूति से वह कृतार्थ हो जाता है।

३. मान्त्री दीक्षा मन्त्र के उपदेश से पूरी होती है। गुरु मन्त्र का उच्चारण करते हैं। शिष्य ध्यान से सुनकर उस नाद सुधा का अनुसन्धान करता है।

जहाँ तक एककाल सम्बन्ध की बात है, इसे सूत्र में प्रयुक्त 'च' अव्यय से वृत्तिकार ने आविष्कृत किया है। एककालिकता सम्प्रदाय और परम्परा पर निर्भर करती है। यदि सूत्र क्रम को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट माना जाय, तो गुरु पहले शिष्य पर शक्तिपात करें। तब शाम्भवी का भावन करावें और तदुपरान्त मन्त्रोपदेश देकर शिष्य को कृतार्थ करें। ये सारी क्रियायें एक दिन में ही पूरी करें, यह क्रम उपयुक्त लगता है। अन्य विद्वद्वर्ग की दृष्टि से 'च' का तीनों भेदों का स्पष्ट उल्लेख कर उनका यथावसर शिष्य की परीक्षा के उपरान्त अनुपालन करना चाहिये, यही वास्तविक अर्थ है। जो हो, परम्परा का प्राधान्य सर्वमान्य है। आणव, शाक्त और शाम्भवोपाय-क्रम के अनुसार सर्वप्रथम मान्त्री दीक्षा, पुनः शाक्ती दीक्षा और अन्त में प्रतिबोध को सिद्ध करने के लिये शाम्भवी दीक्षा दी जानी चाहिये। सूत्र में प्रयुक्त क्रम, विशिष्ट साम्प्रदायिक क्रम का द्योतक है। इस पर श्रीविद्या के उपासकों को विचारपूर्ण निर्णय लेना चाहिये।।३२।।

परेषां मतमाह

एकैकां वेत्येके ।।३३।।

वीप्सया त्रयाणां समुच्चयः। काल-भेदमात्रमिति ज्ञापितम्। 'वा'कारेण मध्ये चिरकालव्यवधानं कार्यम्, न तु दिवसत्रय इति सूचितम्।।३३।।

सूत्र-संख्या ३२ के हिन्दी अर्थ में इसी पक्ष का समर्थन किया गया है। भेद सिद्ध है, तो काल-क्रम भी सिद्ध है। अन्यथा एक ही क्रिया की ये तीन प्रक्रियायें मान ली जायेंगी। वस्तुतः ये स्वतन्त्र प्रक्रियायें हैं, और असामान्य रूप से अपनाने योग्य हैं। दीक्षा जीवन के उत्कर्ष की विधायिका और परमपुरुषार्थ की साधयित्री है। अतः इसमें सावधानी की अपेक्षा की जाती है।।३३।।

इतःपरं गुरुकर्त्तृकां क्रियामाह

सद्गुरुः क्रमं प्रवर्त्त्य साङ्गं हुत्वा तरुणोल्लासवान् शिष्यमाहूय वाससा मुखं बद्ध्वा गणपति-ललिता-श्यामा-वार्त्ताली-परा-पात्र-बिन्दुभिस्तमवोक्ष्य सिद्धान्तं श्रावयित्वा।।३४।।

साङ्गम् अङ्गैः सहितं क्रमं प्रधानदेवतापूजां प्रवर्त्त्य कृत्वा। अत्र अङ्गानि गणपति-ललिता-श्यामा-वार्त्ताली-पराः। प्रधानं च ललिता अत्र अङ्गपदेन अङ्गक्रमोपलक्ष्यते। अङ्गक्रमसहितं प्रधानक्रमम् इत्यर्थः। द्वितीयखण्डारम्भे "इत्थं सद्गुरोराहितदीक्षो महाविद्याराधनप्रत्यूहापोहाय गाणनायकीं पद्धतिमामृशेत्" इत्यत्र विघ्नापोहाय यत्क्रियते तत्प्रधानम् अङ्गं लोके दृष्टम्।

एवं तृतीयखण्डारम्भे "एवं गणपतिमिष्ट्वा नायिकायाः श्रीललितायाः क्रममारभेत" इति क्त्वाप्रत्ययेनापि ललितोपास्त्यङ्गत्वं स्पष्टम्।

श्यामोपास्तिखण्डे तस्याः प्रधानसचिवपदं श्यामा। अन्यास्तस्मादिमा अङ्गदेवताः।

शिष्यमाहूय इत्यनेन तावत्पर्यन्तं शिष्यस्यान्तः प्रवेशो नास्ति इति ज्ञापितम्। अत्र पात्रपदेन विशेषार्घ्यपात्रं ग्राह्यम्। सिद्धान्तं सिद्धान्तप्रतिपादकवाक्यसमूहं श्रावयित्वा।।३४।।

ये सूत्र गुरुकर्त्तृक प्रक्रिया का प्रवर्त्तन कर रहे हैं। सद्गुरु शब्द गुरु के सर्वातिशायी पारदृश्वा स्तर के स्वरूप का संकेत कर रहे हैं। ऐसे ज्ञानवान् गुरुदेव दीक्षा क्रम का प्रवर्त्तन करते हुए आङ्गिक शक्तियों के क्रमानुसार हवन करने की व्यवस्था करें। उनमें सम्प्रदाय की आस्था का ओज है, श्रद्धा का उल्लास है और विश्वास का तारुण्य है। इन उच्च गुणों से गौरवास्पद गुरुदेव शिष्य को वहाँ आहूत करें। अब तक शिष्य वहाँ नहीं था। गुरुदेव ने इन प्रक्रियाओं को पूरा करने के उपरान्त शिष्य को बुलाया है। शिष्य वहाँ आया। आज्ञा लेकर वहीं बैठ गया। गुरुदेव ने सबसे पहले कपड़े से उसके पूरे मुख को ढक कर बाँध दिया। मुख बाँधने की क्रिया ऐकाग्र्य के उद्देश्य से करनी पड़ती है।

गुरुदेव ने अब तक सारा उपक्रम पूरा कर लिया है। दीक्षा देने के अवसर पर समस्त करने योग्य विधियाँ पूरी कर ली गयी हैं। इस सूत्र के सन्दर्भ में

सर्वप्रथम करने योग्य सारे अङ्गों से समन्वित क्रम का प्रवर्त्तन कर लिया है। शिष्य आ गया है। उसके नेत्र बाँध दिये गये हैं। अब उसे श्रीविद्योपासना के सिद्धान्तों को सुनाना है।

सूत्रकार के निर्देशानुसार सर्वप्रथम गणपति, ललिता, श्यामा, वार्त्ताली, और परा रूप उपास्यों के निर्धारित विशेषार्घ्य पात्र में रखे पवित्र जल-बिन्दुओं से शिष्य को प्रोक्षित करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि, इनमें प्रधान उपास्या माँ ललिताम्बा है। सूत्र में प्रयुक्त अङ्गशब्द क्रम का भी द्योतन करता है। अङ्गक्रम के साथ ही प्रधान क्रम अपनाना उचित होता है।

इस अङ्ग क्रम के अनुसार प्रथम अङ्ग गणपति हैं। द्वितीय खण्ड के आरम्भ में एक तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। वहाँ लिखा गया है कि,

"सद्गुरु द्वारा दीक्षा के लिये निर्देशानुसार स्वीकृत अनुशासन की योग्यता से विभूषित और दीक्षा के लिये निर्धारित स्थान पर अवस्थित दीक्ष्य श्रीविद्योपासना में आने वाले विघ्नों के निराकरण के लिये गणपति-क्रम-पद्धति का स्वात्म परामर्श करे।"

इस निर्देश में यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि, विघ्नों के निराकरण के लिये जो सबसे पहले स्वीकार्य होता है, वही प्रधान अङ्ग माना जाता है। यह लोकसमर्थित दृष्टि है।

इसी तरह तृतीय खण्ड के आरम्भ में भी लिखा है कि, गणपति की आराधना से उपासना में आने की सम्भावना वाले सारे विघ्नों का निराकरण करने के उपरान्त समस्त शक्तिचक्र की एकमात्र नायिका सर्वेश्वरी भगवती श्री माँ ललिताम्बा की उपासना का क्रम अपनाये।"

इस देशना में आने वाली पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय से यह प्रतीत होता है कि, गणपति-क्रम के बाद ललितोपासना का ही क्रम अपनाना चाहिये।

श्यामोपासना खण्ड में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, "माँ ललिताम्बा के प्रधान सचिव पद पर श्यामा ही प्रतिष्ठित हैं।" इस प्रकार अङ्ग की दृष्टि से विचार करने पर अन्य सभी अङ्ग रूप से उपास्य हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। अन्त में सिद्धान्त श्रावण की प्रक्रिया अपनायी जाती है। सिद्धान्त शब्द

श्रीविद्योपासना में स्वीकृत विधियों के प्रतिपादक वाक्य समूह की ओर संकेत करता है। यहाँ सिद्धान्त का सुनाना मात्र ही निर्दिष्ट है। अर्थबोधपूर्वक समझाने की अपेक्षा एक संस्कार उत्पन्न करने के लिये शिष्य को सिद्धान्त श्रावण करे, यही तात्पर्य है।।३४।।

अथ शाम्भवीदीक्षामाह

तच्छिरसि रक्तशुक्लचरणं भावयित्वा तदमृतक्षालितं सर्वशरीरमलङ्कुर्यात् ।।३५।।

तच्छिरसि शिष्यस्य शिरसि। रक्तशुक्लचरणं, रक्तं कामेश्वर्या रजः-स्वभावात्। तदुक्तं 'रक्तचरणां ध्यायेत् परामम्बिकाम्'' इति। श्यामा-रहस्येऽपि—

''रक्तं तु चरणं देव्या रजोरूपं प्रकीर्त्तितम्।
शुक्लं च तदधिष्ठानचरणं सात्त्विकं भवेत्।।''

एतेन शुक्लचरणमपि व्याख्यातम्। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। भावयित्वा ध्यात्वा। तदमृतं चरणसम्बन्धि यदमृतम् उदकं तेन क्षालितं नाशितं सर्वपातकं यस्य। ईदृशं शिष्यं कुर्यात्। तस्य सर्वं यावच्छरीरं गन्धवस्त्रभूषणकुसुमादिभिः गुरुः अलङ्कुर्यात्।।३५।।

शाम्भवी दीक्षा के लिये तैयार शिष्य के शिर पर रक्त-शुक्ल चरणों का ध्यान गुरु करे। भावन क्रिया ध्यानमय होती है। शिर व्यक्ति का उत्तमाङ्ग होता है। उसमें नादानुसन्धान से लेकर समनापर्यन्त समस्त शक्तियों का उल्लास होता है। इसलिये शाम्भवी दीक्षा सदृश महत्त्वपूर्ण दीक्षा के लिये उसके शिरोभाग में कामेश्वरी के रक्त और कामेश्वर के शुक्ल चरणों का भावन कर शिष्य के मस्तिष्क चक्र को चरण चेतना की चिन्मयता से समन्वित करना आवश्यक होता है।

जहाँ तक रक्त चरण का प्रश्न है, आगम कहता है कि, ''रजः स्वभाव के कारण कामेश्वरी के चरण रक्तवर्णी होते हैं।''

साथ ही यह भी कहा गया है कि, ''परा अम्बिका का ध्यान करते समय माँ के चरणों की लाली में डूब जाना चाहिये''।

श्यामारहस्य नामक साधना उपासना के महान् ग्रन्थ में रक्त और शुक्ल दोनों चरणों के विषय में इस प्रकार लिखा गया है—

"परमोपास्या माँ के चरण लाली से ललित और आकर्षक हैं। यह लालिमा रजोरूपता की प्रतीक है, ऐसा शास्त्र कहते हैं। कामेश्वर के चरण शुक्लता से ललाम लगते हैं। इसका कारण परमेश्वर की पारमार्थिक सात्त्विकता है।

सूत्र में चरण शब्द के एकवचन का कारण व्याकरण शास्त्र का वह नियम है, जिसके अनुसार प्राणियों के अङ्ग प्रयोग में एकवचनत्व हो जाता है।

ऐसे चरण शिष्य के शिरोभाग पर अमृत उड़ेल रहे हैं। चरणों से गङ्गा-रूप ब्रह्मद्रव की परिकल्पना कितनी हृदयावर्जक है। यहाँ सूत्रकार के अनुसार उनसे अमृत बरस रहा है। शिष्य के सारे पाप-ताप धुल गये हैं। अब वह पातकरहित तप्तदिव्यकाञ्चनवत् निर्मल हो गया है। उसका सारा शरीर पावनता का प्रतीक बन गया है। उसे गुरुदेव अपने अनुग्रह से अलङ्कृत करते हैं। सूत्रकार ने गुरु के लिये यहाँ विधिलिङ् परस्मैपद प्रयोग द्वारा यह निर्देश दिया है कि, उसे ऐसा करना चाहिये। वृत्तिकार द्वारा गन्ध, वस्त्र, अलङ्कार द्वारा अलङ्कृत करने की बात व्यावहारिक नहीं लगती। यहाँ अलंकरण का तात्पर्य सारे शरीर को सजाने से नहीं वरन् अनुगृहीत कर पुलकायमान करने मात्र से है।।३५।।

शाक्तीं दीक्षामाह

तस्यामूलब्रह्मविलं प्रज्वलन्तीं प्रकाशलहरीं ज्वलदनलनिभां ध्यात्वा तद्रश्मिभिस्तस्य पापपाशान् दग्ध्वा ।।३६।।

तस्य शिष्यस्य मूलं पायूपस्थमध्यवर्त्ति-चतुर्दलकमलाधारदेशः, तन्म-र्यादेति आमूलम्। एवम् अधोमर्यादामुक्त्वा ऊर्ध्वमर्यादामाह ब्रह्मबिलं सहस्र-दलकमलाधारभूतं मर्यादा अस्येति आब्रह्मबिलं प्रज्वलन्तीम्, अत एव प्रकाशानां लहर्य ऊर्मयो यस्यां तादृशीम्, अत एव ज्वालायुक्तो योऽनलोऽग्निस्तन्निभां तदुपमां ध्यात्वा संविदमिति शेषः। ज्वलदनलनिभत्वादेव पापपाशदाहकत्वमुप-पन्नम्। पापपाशस्य दाह एव न भावनम् अत एव दग्ध्वेति। यद्यप्यत्रत्यपाठ-क्रममनुसृत्य आदौ शाम्भवी, ततः शाक्तीति प्रतिभाति, तथाप्युपक्रमे दीक्षा-

विभागवेलायां शाक्ती शाम्भवी मान्त्री चेति चोक्तत्वाद् उपक्रमानुसारेण उपसंहारोऽन्यथा नेयः, वेदोपक्रमाधिकरणन्यायेन। अत एव तत्पाशदाहानन्तरं तद्भस्मरूपमलस्य सत्त्वात् चरणनिर्गतजलेन तत्क्षालनरूपार्थवत्त्वादर्थक्रमोऽप्युपपन्नः। तथा चादौ शाक्तीं दीक्षां सम्पाद्य पश्चाच्छाम्भवीं कुर्यादिति सिद्धम् ।।३६।।

शिष्य के मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र के परिवेशपर्यन्त निरन्तर जलने वाली प्रकाश लहरी के जाज्वल्यमान अग्निपुञ्ज की ज्वालामयी लपटों से उद्दीप्त अनुभव कर उसी ध्यान में समाहित होकर उसकी पापमयी पाशराशि को जलाकर शिष्य को निष्पाप कर देना शाक्ती दीक्षा का एक स्वरूप है।

उस शिष्य में मूलाधार चक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सुषुम्ना के माध्यम से उद्दीप्त संवित्ति का गुरुदेव सर्वप्रथम आकलन करें। मूलाधार चक्र कहाँ है, टीकाकार आचार्य रामेश्वर के अनुसार यह पायु और उपस्थ के मध्य में है। वास्तव में उस स्थान को कन्द कहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि, सारे चक्र मेरुदण्ड से सम्बद्ध हैं। मेरुदण्ड की निचली और नुकीली अस्थि जहाँ समाप्त होती है, कुण्डलिनी वहीं साढ़े तीन आवृति में लिपटी होती है। उसे जागृत करने के लिये अश्विनी मुद्रा और ह्रस्व कूर्च बीज का आन्तर उच्चार आवश्यक है। यह क्रिया कन्द में नहीं अपनायी जा सकती। चतुर्दल कमलवाली उक्ति सर्वमान्य है। इस प्रसङ्ग में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। मेरुदण्ड में अवस्थित चक्रों के आगे के मानव देह की संरचना में कोई न कोई अंग सामने पड़ता है, जैसे— मूल के समक्ष कन्द, स्वाधिष्ठान के समक्ष लिङ्गमूल, मणिपूर के समक्ष नाभि, अनाहत के समक्ष स्तनमध्य, विशुद्ध के समक्ष गले की हँसुलियों का मध्य और आज्ञा के समक्ष भ्रूमध्य। इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि, कन्द मूलाधार चक्र का प्रतिष्ठान है, स्थान नहीं। यह शरीर के स्वः, भुवः और भू-खण्डों में से भूखण्ड के चक्रों का अन्तिम स्थान रूप मूलाधार है। भूखण्ड में ही स्वाधिष्ठान चक्र भी आता है।

भुवः खण्ड में मणिपूर, अनाहत एवं विशुद्ध ये तीन खण्ड आते हैं। स्वः खण्ड में आज्ञा और सहस्रार ये दो चक्र ही आते हैं। आज्ञाचक्र के पीछे तालुरन्ध्र और इसके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है। इसमें सुषुम्ना समाप्त हो जाती है।

प्राणशक्ति अत्यन्त सूक्ष्म रूप से कई पड़ावों को पार कर सहस्रदल कमल तक पहुँच कर परतत्त्व में समाहित होती है।

इन दोनों अर्थात् मूलाधार और ब्रह्मबिल के मध्य में संविद् तत्त्व की प्रकाश-लहरी अनुभूति का विषय है। वह प्रत्येक जीव की जीवनी शक्ति है। शिष्य साधना के बल पर इसे और जागृत कर लेता है। गुरु से शिष्य का परिष्कृत रूप छिपा नहीं रहता। वह उसमें अपनी ऊर्जा का अमृत उड़ेल कर जाज्वल्यमान उद्दीप्त अग्नि के समान समिद्ध कर शिष्य के पाप-पाशों को दग्ध कर देता है। सूत्र में दाहक्रिया का प्रयोग पूर्वकालिक क्रिया के रूप में किया गया है।

पूर्वकालिक क्रिया के बाद मुख्य क्रिया होती है। वही मुख्य क्रिया शाक्ती दीक्षा है। एक दूसरी बात भी यहाँ ध्यातव्य है। ध्यान तो अग्नि का हुआ। यह ध्यान गुरु करता है। इसे शिष्य को भी भावित करना चाहिये। अग्नि दाह करता है। केवल दाह का ही ध्यान यहाँ नहीं, वरन् पापराशि के जलने का भी ध्यान है। ये आन्तर आनुभूतिक प्रक्रियायें साधना से ही सम्पन्न होती हैं।

इस सन्दर्भ में एक और बात जो ध्यान देने योग्य है, वह है, सूत्र का पाठक्रम। पहले शाम्भवी दीक्षा की बात कही गयी है फिर शाक्ती दीक्षा देने का उल्लेख है। वास्तविक क्रम क्या है? यह जिज्ञासा यहाँ शेष रह जाती है। दीक्षा का विभाग करते समय सर्वप्रथम शाक्ती का क्रम परम्पराप्राप्त है। तदन्तर शाम्भवी दीक्षा दी जाती है। इनसे ऊर्जस्वल शिष्य को मान्त्री दीक्षा देकर गुरुदेव उसे मन्त्रात्मिका चेतना की चिन्मयता से समन्वित करते हैं।

उपक्रम और उपसंहार दो स्थितियों पर ध्यान देकर उस विषय में विचार करना चाहिये। इसमें प्रमाण वेदोपक्रमाधिकरण की व्यवस्था है। यह एक न्याय अर्थात् नियम है कि, उपक्रम का स्वरूप क्या है। यहाँ उपक्रम शांभवी से किया गया है। शाक्ती बीच में है किन्तु उपसंहार अन्यथा घटित है। पापदाह तो कर दिया गया। पापदाह में भी यह ध्यातव्य है कि, शरीर में रहने वाला मल ही जलता है। दूरीकृत मल नहीं। शरीरस्थ मल जब भस्म बनकर शरीर में ही रह जाय, यह भी ठीक नहीं। इसीलिये उस शिष्य के शिर पर चरणनिर्गत अमृतवारि से उसका प्रक्षालन करते हैं। इस प्रकार क्रमवत्ता की पूर्त्ति भी होती है, और मान्त्री दीक्षा से दीक्षा का उपसंहार भी हो जाता है।।३६।।

मान्त्रीदीक्षाप्रयोगं वक्तुमुपक्रमते

त्रिकटु-त्रिफला-चतुर्जात-तक्कोल-मदयन्ती-सहदेवी-दूर्वा-भस्म-मृत्तिका-चन्दन-कुङ्कुम-रोचना-कर्पूरवासितजलपूर्णं वस्त्रयुगवेष्टितं नूतनकलशं बालाषडङ्गेनाभ्यर्च्य श्रीश्यामा-वार्त्तालीचक्राणि निःक्षिप्य तिसृणामावरणमन्त्रैरभ्यर्च्य संरक्ष्यास्त्रेण प्रदर्श्य धेनुयोनी।।३७।।

त्रिकटुः–पिप्पली-शुण्ठी-मरीच्यः।

त्रिफला–हरीतकी-धात्री-विभीतक्यः।

तदुक्तं वैद्यसारे

शुण्ठी मरीचिपिप्पल्यः प्रोक्तास्त्रिकटुसंज्ञकाः।
त्रिफलेति समाख्याता पथ्या-धात्री-विभीतकैः।।

चतुर्जातम्—उशीरैलालवङ्गनागकेसराणि।

तदुक्तं मदनमहार्णवे

लवङ्गमेलोशीरं च त्रिसुगन्धं प्रकीर्त्तितम्।
नागकेसरसंयुक्तं चतुर्जातं प्रचक्षते ।।

तक्कोलः—मरीचिसदृशस्ताम्बूलेन सह भक्ष्यः शैत्योपचारहेतुवस्तु-विशेषः।

मदयन्ती सहदेवी। वैद्यके प्रसिद्धे आरण्यके। दूर्वा-भस्म-मृत्तिकाः प्रसिद्धाः। एतैर्युक्तं जलेन साकं वासितं चन्दनम्, कुङ्कुमं काश्मीरम्, रोचना गोरोचनं, कर्पूरं प्रसिद्धम्। एतैर्वासितं यज्जलं तेन पूर्णं। वस्त्रयुगेन वेष्टितं नूतनम् अभुक्तं कलशं बालाषडङ्गेन।

("ऐं हृदयाय नमः, क्लीं शिरसे स्वाहा, सौः शिखायै वषट्, ऐं कवचाय हुम्, क्लीं नेत्रत्रयाय वौषट्, सौः अस्त्राय फट्") अग्नीशासुरवायु-कोणेषु मध्ये पूर्वादिदिक्षु क्रमेण अभ्यर्च्य, श्रीश्च श्यामा च वार्त्ताली चेति तासां चक्राणि निक्षिप्य जले स्थापयित्वेत्यर्थः। तिसृणां ललितादीनामावरणमन्त्रै-रभ्यर्च्य पूजयित्वा, अस्त्रेण संरक्ष्य, धेनु-योनि-मुद्रे प्रदर्श्य।।३७।।

त्रिकटु, त्रिफला, उशीर-इलायची-लवङ्ग-नागकेसर रूप चतुर्जात, ताम्बूल-सहद्रव्य रूप तक्कोल, सहदेवी, दूर्वा, भस्म, मृत्तिका इन औषधि रूप द्रव्यों से वासित जल में चन्दन, कुङ्कुम, गोरोचन और कर्पूर मिलाकर तैयार पवित्र जल से कलश को भर देना चाहिये। साथ ही दो लाल वस्त्रों से उसे सजा कर उस कलश की पूजा करनी चाहिये। पूजा में पहला कार्य कलश का संस्कार माना जाता है। कलश उसी समय संस्कृत होता है, जब उसे बालाषडङ्ग मन्त्र से अभिमन्त्रित किया जाता है। इन मन्त्रों को मैंने संस्कृत टीका में कोष्ठक में स्पष्ट कर दिया है। इनसे सभी पूर्वादि दिशाओं एवं अग्नि, ईशान, नैऋत्य और वायुकोणों में भी पूजन का विधान है।

दूसरी पूजा प्रक्रिया चक्रपूजा है। श्रीविद्या-चक्र, श्यामा-चक्र और वार्त्ताली-चक्र इन तीनों चक्रों की पूजा-पद्धति कलश के अतिरिक्त भूमि पर, पत्र पर या यन्त्र पर करने की प्रक्रिया को भी मान्यता देती है। किन्तु सूत्रकार के अनुसार चक्र पर पूजा कर चक्र कलश में ही स्थापित किया जाना प्रतीक बन जाता है। उसी समय कलश पूजा पूरी होनी चाहिये।

इसके बाद ललिताम्बा, श्यामा और वार्त्ताली के आवरण मन्त्रों से सचक्र, सवस्त्रवेष्टित जलपूर्ण कुम्भ की भी अर्चना सम्पन्न करनी चाहिये। परम्परा के अनुसार चक्रोद्धार की भी क्रिया करते हैं। अस्त्रमन्त्र से विघ्नों का अपसारण कर चक्र स्थान पर चक्रों को रख देते हैं। तदनन्तर धेनु-मुद्रा और योनि-मुद्रा का प्रदर्शन करते हैं। धेनु-मुद्रा से आराध्या परमाम्बा में वात्सल्य का उद्रेक होता है और योनि-मुद्रा से यह सिद्ध होता है कि, माँ तू ही विश्व की मूल उत्स है। ये मुद्रायें स्तुतिपरक मुद्रायें मानी जाती हैं।।३७।।

मातृकायन्त्रमाह

शिवयुक्सौवर्णकर्णिके स्वरद्वन्द्वजुष्ट-किञ्जल्काष्टके क च ट त प य श लाक्षरवर्गाष्टयुक्ताष्टदले दिगष्टकस्थित ठं वं चतुरस्त्रे मातृकायन्त्रे शिष्यं निवेश्य तेन कुम्भाम्भसा तिसृभिः विद्याभिः स्नपयेत् ।।३८।।

शिवो हकारः, तेन युक्तः 'सौ'वर्णः सौ इति वर्णः, स कर्णिकायां कमलमध्यदेशे यस्य एतादृशे। अत्र पूर्वोक्तवर्णोपरि विसर्गोऽपि योजनीयः "व्योमेन्द्वौरसनार्णकर्णिकम्" इति शङ्करभगवत्पादैरुक्तत्वात्। इमानि सर्वाणि कमलविशेषणानि। स्वरा अकारादि-विसर्गान्ताः षोडश। तेषां द्वन्द्वं द्वयं द्वयं तेन जुष्टं युक्तं किञ्जल्काष्टकं पत्रयुगमध्यवर्त्तिदेशविशेषो यस्येति बहुव्रीहिः। कश्च चश्च टश्च तश्च पश्च यश्च लश्च इति द्वन्द्वः, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकं सम्बध्यते इति न्यायेन वर्गपदं सर्वैः सम्बध्यते। तथा च कवर्गमारभ्य पवर्गपर्यन्तं पञ्च पञ्च वर्णाः। यवर्गः चत्त्वारः शवर्गोऽपि। लक्ष इति लवर्गः। एवमष्टवर्गैर्युक्तानि अष्टदलानि यस्येति बहुव्रीहिः। एकैकदले एकैकं वर्गं लिखेदिति फलितार्थः।

केसरेषु दलेषु च वर्णलेखने क्रमाकाङ्क्षायां प्राच्यादिक्रम एव वर्त्तव्यः। दिशां यदष्टकं प्राच्यादीशान-दिगन्तं तेषु स्थितौ वकारठकारौ यस्मिन् ईदृशं चतुरस्रं यस्मिन्निति बहुव्रीहिः। ईदृशे मातृका-संज्ञके यन्त्रे शिष्यं निवेश्य स्थापयित्वा, तेन कुम्भाम्भसा तिसृभिः विद्याभिः श्रीश्यामा-वार्त्ताली-विद्याभिः स्नपयेत्। अयमेव पूर्णाभिषेक इत्युच्यते।।३८।।

चतुरस्रमातृकायन्त्र

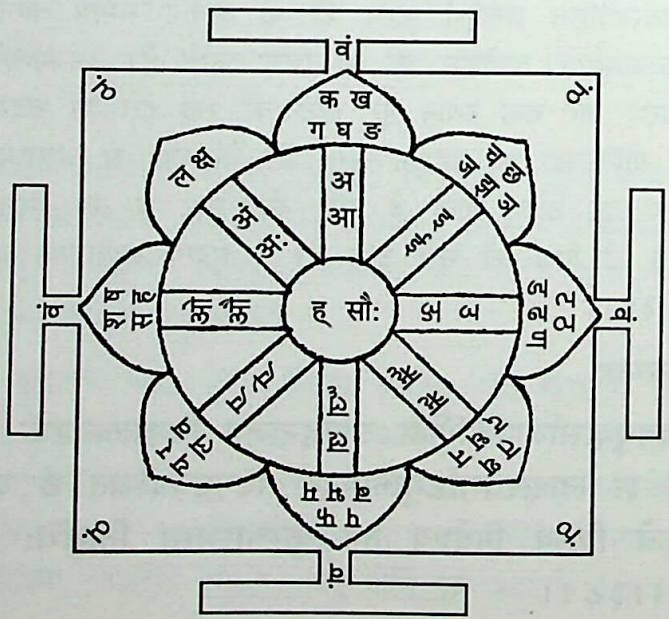

यह मातृका यन्त्र है। इसकी विधि इस चित्र से स्पष्ट है। पूरी संस्कृत विवृति में यही क्रम बताया गया है। बीच में एक वृत्त बनाइये। उसमें ह्सौः लिख दीजिये। उसके ऊपर एक बड़ा वृत्त बनाइये। उस वृत्त के ऊपर कमलपत्तों के समान बराबर-बराबर आठ दल बनाइये। पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर कमल दलों का स्पर्श करती चार ऐसी सीधी रेखायें खींचिये, जिससे एक समचतुर्भुज बन जाय। इस चित्र में जैसे अक्षर लिखे हुए हैं। उसे अपने द्वारा निर्मित चित्र में भर दीजिये। मातृका यन्त्र तैयार। इसी के बीच में शिष्य को बिठलाना चाहिये। उसी कलश के पावन जल से शिष्य को श्रीविद्या मूलमन्त्र, श्यामा मूलमन्त्र और वार्त्ताली मूलमन्त्र से स्नान कराना चाहिये। इसे पूर्णाभिषेक कहते हैं।।३८।।

मान्त्रीं दीक्षामुपसंहरति

सदुकूलं सालेपं साभरणं समालं सुप्रसन्नं शिष्यं पार्श्वे निवेश्य मातृकां तदङ्गे विन्यस्य विमुक्त-मुखकर्पटस्य तस्य हस्ते त्रीन् प्रथम-सिक्तान् चन्दनोक्षितान् द्वितीयखण्डान् पुष्पखण्डान्निक्षिप्य तत्त्वमन्त्रै-र्ग्रासयित्वा दक्षिणकर्णे बालामुपदिश्य पश्चादिष्टमनुं वदेत् ।।३९।।

सदुकूलमित्यादि पार्श्वे निवेश्यान्तः स्पर्शः। बहिर्मातृकान्यासः स्वाङ्गे तन्त्रान्तरोक्तो यथा क्रियते तद्वच्छिष्याङ्गे विन्यस्य विमुक्तमुखकर्पटस्य पूर्वं मुखं येन बद्धं विमुक्तं मुखं वस्त्रं यस्य तस्य हस्ते त्रीन् प्रथमसिक्तान् चन्दनोक्षितान् द्वितीयखण्डान् पुष्पखण्डान्निक्षिप्य तत्त्वमन्त्रैर्ग्रासयित्वा दक्षिणकर्णे बालामुपदिश्य पश्चादिष्टमनुं वदेत् ।।३९।।

शिष्य को उत्तरीय से अलङ्कृत किया गया है। उसे शुभ्रसुगन्धित द्रव्यों से उपलिप्त कर दिया गया है। यथोचित आभूषण से भूषित है। मालायुक्त है। अत्यन्त प्रसन्न है। गुरु ने उसे अपने पास ही बिठला लिया है। जैसे बहिर्मातृका न्यास अपने अङ्गों पर करते हैं। उसी तरह शिष्य के शरीर पर भी गुरु मातृका न्यास कर दे।

अब तक शिष्य का मुख ढक दिया गया था, ताकि वह अपनी आँखें दृश्य विषयों में न लगाये। मन से मन्त्रात्मक बने। मातृका न्यास के बाद उसे

मुख-बन्ध से मुक्त कर दिया गया, जिससे वह खुली आँखों से पारमेश्वरी सर्जना का शैव स्वरूप ध्यान में ला सके।

उसके हाथ में प्रथम सिक्त अर्थात् पहले से ही सिक्त होने के लिये रखे गये थे और गुरु द्वारा शिष्य को देने के लिये रखे गये दूसरे भाग को देकर तत्त्व मन्त्रों से (ऐं आत्मतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा) (क्लीं विद्यातत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा) (सौः शिवतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहाः) उसे खिलाना चाहिये। यह ध्यातव्य है कि, उस खण्ड को चन्दन से भी सिक्त करना चाहिये।

उसके बाद उसके दाहिने कान में त्र्यक्षरी बाला मन्त्र का उपदेश करना चाहिये। त्र्यक्षरी बाला "ऐं क्लीं सौः" मन्त्रमयी मानी जाती है। इस मन्त्र का उपदेश मन्त्र बोलकर होना चाहिये, जिसे शिष्य ग्रहण कर सके। इसके बाद इष्ट मन्त्र का कथन भी करना चाहिये। इष्ट मन्त्र गुरु पर निर्भर है।।३९।।

गुरुकर्त्तृकं कर्मशेषं वदति

ततस्तस्य शिरसि स्वचरणं निक्षिप्य सर्वान् मन्त्रान् सकृद्वा क्रमेण वा यथाधिकारमुपदिश्य स्वाङ्गेषु कमप्यङ्गं शिष्यं स्पर्शयित्वा तदङ्गमातृकावर्णादि द्व्यक्षरं त्र्यक्षरं चतुरक्षरं वा आनन्दनाथशब्दान्तं तस्य नाम दिशेत् ।।४०।।

तत इत्यनेन वक्ष्यमाणधर्माणाम् उत्तराङ्गत्वं सूचितम्। स्वस्य गुरोः चरणम् "अनादेशे दक्षिणं प्रतीयात्" इति परिभाषया दक्षिणचरणमेव न्यसेत्। सर्वान् मन्त्रान् श्रीविद्याङ्गभूतान् गणपति-श्यामा-वार्त्ताली-परा-पञ्चदशी नित्या-रश्मिमाला-मन्त्रादीन् सर्वान् सकृद्वा इत्यत्र वाकार एवकारार्थः। क्रमेण वा तत्तदुपासनवेलायां वा यथाधिकारम् उपदिश्य स्वाङ्गेषु किमप्यङ्गं शिष्यं स्पर्शयित्वा 'कस्यापि ममाङ्गस्य स्पर्शं कुरु' इत्यादिश्य। ततः शिष्यो यमवयवं स्पृशेत् तत्र मातृकान्यासे यो वर्णः स आदिर्यस्मिन् ईदृशम्। यथा शिरःस्पर्शे तत्र मातृका-वर्णः अकारः स आदिर्यस्य अमृतानन्दनाथ इति। द्व्यक्षरं वेत्यादि स्पष्टार्थः। आनन्दनाथशब्दान्तं स्पष्टम्। तस्य शिष्यस्य नाम दिशेत् ।।४०।।

इतना कर्मकाण्ड सम्पन्न कर लेने के बाद गुरुदेव अपना दाहिना चरण शिष्य के शिर पर रखें। यह ध्यातव्य है कि, पादाधस्तल में श्री देवी का निवास होता है। श्रीविद्या की दीक्षा के क्रम में शिष्य का सहस्रार श्रीविद्या की रश्मियों से प्रकाशमान हो उठे, यह शिष्य के शिर पर गुरुचरण रखने का रहस्य है। सूत्र में दायें-बायें किसी चरण का निर्देश नहीं है। अतः जहाँ निर्देश नहीं होता, वहाँ दाहिना ग्रहण करना चाहिये। इस नियम के अनुसार गुरु का दाहिना चरण ही शिष्य के शिर पर रखना चाहिये, उपासना में या उसी अवस्था में सभी मन्त्रों का चाहे एक बार या श्रीविद्या के अङ्गभूत गणपति-श्यामा-वार्त्ताली परा-पञ्चदशी-नित्या-रश्मिमाला इत्यादि सभी मन्त्रों का क्रमशः अधिकारानुसार उपदेश करना चाहिये। श्रद्धा, भक्ति की कमी पर अपेक्षानुसार अधिकार की परीक्षा गुरु कर लेता है।

इसके बाद गुरुदेव शिष्य को यह आदेश देते हैं कि, मेरे शरीर के किसी अवयव का स्पर्श करो। आज्ञानुसार शिष्य गुरु के जिस अङ्ग का स्पर्श करता है, गुरु यह जानता है कि, इस अङ्ग पर मातृका के किस अक्षर का न्यास है। उस अक्षर से प्रारम्भ होने वाले द्व्यक्षर, त्र्यक्षर या चतुरक्षर संज्ञा शब्द के साथ अमृतानन्द सदृश शब्द से नाथ लगाकर शिष्य का नाम रखने का आदेश दे। जैसे शिष्य ने शिर का स्पर्श किया। गुरु का वह अङ्ग 'अ' अक्षर से न्यास-युक्त है। अतः अमृतानन्दनाथ नाम रखना उचित माना जाता है क्योंकि इसके आदि में 'अ'कार आता है। नाम दो, तीन और चार अक्षरों का होना चाहिये। अमृत शब्द भी तीन अक्षरों वाला ही है।।४०।।

गुरुपादुकामन्त्रदानम्

बालोपदिष्टेः पूर्वमात्मनः पादुकां षट्तारयुक्तां दद्यात् ।।४१।।

द्वितीयशकल-ग्रासानन्तरं बालोपदिष्टेन पूर्वम् आत्मनः पादुकाम् आत्मनः गुरोर्दीक्षाकाले दत्तं यन्नाम तद्घटितपादुकाऽन्तं मन्त्रं षट्तारयुक्तं तस्मै उपदिशेत्। षट्ताराश्च कुलार्णवे—

वाग्भवं च परा श्रीश्च कालीबीजं ततः प्रिये ।
भुवनेशी मन्मथं च षट् ताराश्च प्रकीर्त्तिताः।।

अमुकानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामीति।।४१।।

उपर्युक्त क्रम में द्वितीय खण्ड के ग्रास का वर्णन किया गया है। उसके बाद और बालामन्त्रोपदेश के पहले गुरु अपनी पादुका का मन्त्र शिष्य को बतलाये। गुरु की दीक्षा के समय परमगुरु ने उन्हें जो मन्त्र दिया होता है, उस नाम को लगा कर कहना चाहिये कि, ''अमुकानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि'। इस मन्त्रात्मक वाक्य के पहले वाग्भवबीज, पराबीज, श्रीबीज, कालीबीज, भुवनेशीबीज और मन्मथबीज रूप छः देवी प्रणवों का उच्चारण करना चाहिये। गुरुपादुकामन्त्र परमेष्ठिगुरु, परमगुरु और दीक्षागुरु के क्रम से कुछ पृथक् से प्रयुक्त किये जाते हैं।।४१।।

आचारानुशासनादिः

आचाराननुशिष्य हार्द-चैतन्यमामृश्य विद्यात्रयेण तदङ्गं त्रिः परिमृज्य परिरभ्य मूर्धन्यवघ्राय स्वात्मरूपं कुर्यात् ।।४२।।

आचारान् दशम-खण्डे वक्ष्यमाणान् अनुशिष्य शिक्षयित्वा हार्दं हृदयाकाशसम्बन्धि चैतन्यं तं शिष्यमामृश्य ध्यात्वा स्वहृदयस्थचैतन्याभिन्नं शिष्यं भावयेदित्यर्थः। विद्यात्रयेण श्री-श्यामावार्त्तालीविद्याभिः तदङ्गं त्रिः स्वहस्तेन शिष्यस्य सर्वशरीरं संस्पृश्य परिरभ्य आलिङ्ग्य मूर्धन्यवघ्राय स्वात्मरूपं कुर्यात्। स्वस्य यथा आत्मा मोक्षप्रतिबन्धकपौरुषमलरहितस्तथा तं कुर्यात् ।।४२।।

दशवें खण्ड में निर्दिष्ट आचारों की शिक्षा शिष्य के लिये गुरु दे। हृदयाकाश में प्रकाशमान चैतन्य गुरु के हृदय में जैसे है, उसी प्रकार के चैतन्य को शिष्य के हृदयाकाश में ध्यान द्वारा उल्लासित और अभिन्न रूप से उद्रिक्त कर दे। श्री, श्यामा और वार्त्ताली विद्याओं के उच्चारणपूर्वक पारम्परिक रूप से शिष्य के सारे शरीर का स्पर्श करे। शिष्य को अपने हृदय से लगा ले। शिर को सूँघकर उसे स्वात्म रूप में आत्मसात् कर ले। जैसे मोक्ष के प्रतिबन्धक पौरुष मल से स्वयम् उन्मुक्त हैं, उसी तरह उसे भी निर्मल बनाकर मोक्ष मार्ग में अग्रसर कर दे। यह दीक्षागुरु का उत्तरदायित्व है।।४२।।

शिष्यस्य अशेषमन्त्राधिकारित्वम्, शिष्यकर्त्तृकक्रिया च

शिष्योऽपि पूर्णतां भावयित्वा कृतार्थस्तं गुरुं यथाशक्तिवित्तै-रुपचर्य विदितवेदितव्योऽशेषमन्त्राधिकारी भवेदिति शिवम् ।।४३।।

पूर्णता पूर्वमेव व्याख्याता। अत एव कृतोऽर्थो मोक्षसाधनं येन सः, तादृशः। तं गुरुं यथाशक्तिवित्तैः 'लक्षं लक्षपतिर्दद्याद्दरिद्रस्तु वराटिकाम्' इति रीत्या उपचर्य सन्तोष्य विदितं ज्ञातं वेदितव्यं ज्ञातुं योग्यं येन सः सर्वज्ञ इत्यर्थः। अशेषमन्त्राणां सौरवैष्णवादिसप्तकोटिमन्त्रेषु अधिकारी भवेत्। एतेन एतदुपदेशेन सर्वमन्त्रोपदेशो जातः। यच्चोपक्रान्तं दीक्षा-प्रकरणं तत् समाप्तमिति ज्ञापकः शिवशब्दः ।।४३।।

।। इति श्रीरेणुकागर्भसम्भूत-श्रीभार्गवोपाध्यायजामदग्न्यमहादेवप्रधानशिष्य-महाकौलाचार्य-श्रीमत्परशुरामकृतौ कल्पसूत्रे श्रीरामेश्वररचितायां सौभाग्योदयनाम्न्यां परशुरामकल्पसूत्र-(मुख्यांश)वृत्तौ दीक्षाविधिर्नाम प्रथमः खण्डः सम्पूर्णः।।

इस दीक्षा से परिष्कृतचेतन शिष्य को दृढ़तापूर्वक यह भावन करना चाहिये कि, अब मैं पूर्णपुरुष हो गया हूँ। मैंने मोक्ष साधन रूप सर्वोत्तम अर्थ को दीक्षा द्वारा प्राप्त कर लिया है। मैं सचमुच कृतार्थ हो गया हूँ। पूर्ण भी हूँ और पूर्ण क्रियावान् भी हो चुका हूँ। यदि तत्काल दीक्षा में अवस्थित हो, तो उस समय तत्काल यथाशक्ति अर्थात् वित्तशाठ्य से बचते हुए गुरु के चरणों में भूरि दक्षिणा उपस्थित करे। निर्धन व्यक्ति वराटिका, कौड़ी या बाटी ही दे। इस विषय में एक उक्ति है—

'लखपति देवे लाख, निर्धन केवल बाटी'। इस उक्ति के अनुसार गुरुदेव को सन्तुष्ट कर स्वयं प्रसन्नता का अनुभव करे।

इसी जीवन में सब कुछ जाना जा सकता है किन्तु वही जानना श्रेष्ठ माना जाता है, जो सचमुच जानने योग्य हो, जानने योग्य ब्रह्म है, गुरुदेव हैं और स्वात्म का अस्तित्व है। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही सबसे अधिक उपयोगी और जानने योग्य माना जाता है। जो ऐसा जानकार होता है उसे विदितवेदितव्य कहते हैं। शिष्य अपने को ऐसा ही समझे।

जो इतना जान गया, वह धन्य हो गया, यह समझना चाहिये। गुरुमन्त्र मिल जाने पर शिष्य सौर-वैष्णव आदि सात करोड़ मन्त्रों का अधिकारी हो जाता है। इस उपदेश से सारा ज्ञानविज्ञानोपदेश हो गया। यह दृढ़ता ही शिष्य का अधिकार है। इस प्रकार यह दीक्षाविधि-प्रकरण जो प्रारम्भ किया गया था, अब सम्पन्न हो गया। यह अर्थ अन्त में आये 'शिवम्' इस अमृत प्रयोग का है।।४३।।

।। श्रीरामेश्वरकृत मुख्यांश सौभाग्योदयवृत्तिसहित
डॉ. परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य-समन्वित
श्रीपरशुरामकल्पसूत्र का दीक्षाविधि-नामक प्रथम खण्ड परिपूर्ण ।।१।।

।। शुभं भूयात् ।।

महागणपतिक्रमः

[द्वितीयः खण्डः]

पूर्वखण्डे दीक्षाविधिं परिसमाप्य श्रीललितोपास्तिप्रकरणं विवक्षुस्तदुपास्तेः पूर्वाङ्गभूतां श्रीमहागणपत्युपास्तिं वक्तुं प्रक्रमते—

इत्थं सद्गुरोराहित-दीक्षो महाविद्याराधन-प्रत्यूहापोहाय गाणनायकीं पद्धतिमामृशेत् ।।१।।

इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण सद्गुरोः शास्त्रोक्त-लक्षण-सहितगुरोः सकाशाद् आहिता प्राप्ता दीक्षा येन ईदृशः। महाविद्या पञ्चदशी षोडशी वा। तस्या आराधनं जपः। यद्वा महाविद्या श्रीललिता। महाविद्यावाच्यत्वाद् वाच्यवाचकयोरभेदात्, तस्या आराधन-फलप्राप्त्यन्तं पूजनं, तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकीभूता ये प्रत्यूहा विघ्नाः "विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः" इत्यमरः। तेषामपोहाय नाशाय गाणनायकीं गणेशसम्बन्धिनीं पद्धतिं मार्गं, "सरणिः पद्धतिः पद्यावर्त्तन्येकपदीति च" इत्यमरः। उपासनासरणिमित्यर्थः। आमृशेत् स्वीकुर्यात्।।१।।

परशुरामकल्पसूत्र के प्रथम खण्ड में दीक्षा के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उसी के अनुसार सद्गुरु सम्बन्धी समस्त शास्त्रीय लक्षणों से सम्पन्न सद्गुरुदेव के शरण में जाना चाहिये। उनसे दीक्षा लेनी चाहिये। उनसे दीक्षा प्राप्त करने के उपरान्त शिष्य 'आहितदीक्ष' हो जाता है। दीक्षा के अनन्तर श्रीविद्या की उपासना का अधिकार शिष्य को प्राप्त होता है। महाविद्या शब्द से सर्वप्रथम पञ्चदशी विद्या का अर्थ ग्रहण करते हैं। यों षोडशी भी महाविद्या ही है किन्तु पञ्चदशी उपासना के पूर्ण होने पर ही षोडशी की उपासना का क्रम अपनाना चाहिये। महाविद्यारूपिणी पञ्चदशी की आराधना से जीवन धन्य हो उठता है।

आराधना शब्द में आ उपसर्ग है। राध् धातु है और ल्युट् प्रत्यय है। नपुंसक लिङ्ग में आराधन शब्द निष्पन्न होता है। सेवा, उपासना, अर्चना, प्रार्थना, समृद्धि और सामर्थ्य का चिन्तन कर समर्थ के प्रति श्रद्धा का आचरण इस शब्द के अर्थ के परिवेश में गृहीत होते हैं। जप इस शब्द का अर्थ नहीं है। उपासना का एक अंग मात्र ही जप होता है।

महाविद्या श्रीललिताम्बा को भी कहते हैं। उसका आराधन भी महाविद्या का ही आराधन है। इस प्रकरण में भी आराधन का अर्थ फलप्राप्ति के लिये पूजन ही हो सकता है। आराधना में बड़े विघ्न आते हैं। विघ्नों का निराकरण ही प्रत्यूह का अपोह माना जाता है। प्रत्यूहों के अपाकरण के लिये भगवान् परशुराम साधक को विधि में उतार रहे हैं। 'आमृशेत्' विधि क्रिया का प्रयोग कर साधक को सावधान कर रहे हैं। आ के साथ मृश धातु के चिन्तन, स्वीकरण आदि अर्थ होते हैं। इसके अनुसार भगवान् गणेश की पूजा-उपासना पद्धतियों का आश्रय लेना चाहिये। इससे भगवान् गणेश प्रसन्न होते हैं। फलस्वरूप विघ्नों का विनाश होता है और उपासना शान्तिपूर्वक सम्पन्न होती है।।१।।

एवं गणनायकोपास्तेरावश्यकतामुक्त्वा तदुपासनाप्रकारं प्रपञ्चयति

ब्राह्मे मुहूर्त्त उत्थाय द्वादशान्ते सहस्रदलकमलकर्णिकामध्यनिविष्ट-गुरुचरणयुगलविगलदमृतरसविसरपरिप्लुताखिलाङ्गो हृदयकमलमध्ये ज्वलन्तमुद्यदरुण-कोटि-पाटलमशेषदोषनिर्वेष-भूतमनेकपाननं नियमित-पवनमनोगतिर्ध्यात्वा तत्प्रभापटलपाटलीकृततनुर्बहिर्निर्गत्य मुक्तमलमूत्रो दन्तधावनस्नानवस्त्रपरिधानसूर्यार्घ्यदानानि विधाय उद्यदादित्यवर्त्तिने महागणपतये 'तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' इत्यर्घ्यं दत्त्वा नित्यकृत्यं विधाय चतुरावृत्तितर्पणं कुर्यात्।

आयुरारोग्यमैश्वर्यं बलं पुष्टिर्महद्यशः।
कवित्वं भुक्तिमुक्ती च चतुरावृत्तितर्पणात् ।।२।।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उषःकाले उत्थाय शयनादिति शेषः। द्वादशान्ते ललाटोर्ध्वे कपालोर्ध्वावसानं द्वादशान्तपदवाच्यम्। तदुक्तं स्वच्छन्दसङ्ग्रहे—

"द्वादशान्तं ललाटोर्ध्वं ललाटोर्ध्वावसानकम्" इति। यद्वा द्वादशान्ते स्थूलशरीरे सुषुम्नानाडीमाश्रित्य द्वात्रिंशत्पद्मानि सन्ति। तेषु सहस्रदलकमले द्वे, सर्वाधः अकुलनामकमेकमूर्ध्वमुखं सर्वोर्ध्वं द्वादशान्तनामकमधोमुखमपरम्। अत्र प्रमाणं सविस्तरं योगिनीतन्त्रस्योत्तरचतुश्शतीव्याख्याने सेतुबन्धे अस्मत्परम-गुरुकृते द्रष्टव्यम्।

द्वादशान्तसंज्ञकं यत्कमलं तत्कर्णिका-मध्यनिविष्ट-गुरुचरण-युगलं द्वन्द्वं तस्माद् विगलत् स्रवद्यद् अमृतं तस्य रसस्य यो विसरो विस्तारस्तेन परिप्लुतं क्लिन्नम् अखिलाङ्गं यस्य एवं भूत्वेति शेषः।

नियमिता पवनमनोगतिर्येन, प्राणान् मनश्चाचलं कृत्वेत्यर्थः। हृदय-कमल-मध्ये अनाहते ज्वलन्तमित्यनेन स्वशरीरस्थपापदाहकर्तृत्वं सूचितम्। उद्यदरुणकोटिपाटलमित्यनेन अभूतोपमानेन ब्रह्माण्डमध्ये एतदुपममन्यन्ना-स्तीति सूचितम्। अशेषदोषनिर्वेषमशेषाणां स्वकीयदोषाणां निर्वेषो निर्गतो वेषः स्वरूपं येषां ते स्वरूपशून्याः।

अनेकपो द्विपस्तस्य आननं यस्य ईदृशं ध्यात्वा तस्य देवस्य प्रभायाः पटलेन समूहेन पाटलीकृतः। उद्यदादित्यवर्त्तिने महागणपतये गणेशगायत्र्या अर्घ्यं दत्त्वा, नित्यकृत्यम् अग्निहोत्रादिकं विधाय चतुरावृत्तितर्पणं कुर्यात्। आयुरारोग्यमित्यर्थवादः। गणपतिप्रीतये इति सङ्कल्पं विधायेति।

साधक का यह कर्त्तव्य है कि, वह ब्राह्म मुहूर्त्त में उठ जाय। शय्या का परित्याग कर सर्वप्रथम उसे महागणपति का ध्यान करना चाहिये। ध्यान के क्रम का निर्देश स्वयं सूत्रकार ने किया है। वह इस प्रकार है—

१. उपासक ध्यान की मुद्रा में विराजमान होकर दैनिक साधना के अनुसार द्वादशान्त ललाटोर्ध्वकेन्द्र की कर्णिका के मध्य में या अन्य तन्त्रानुसार (अ उ म, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रेखिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना इन बारह चक्रों के ऊर्ध्वान्त केन्द्र में) एक हजार पत्रों वाले कमल की मध्यरेखा के ऊपर अवस्थित गुरुदेव के दो चरणों का प्रकल्पन करे।
२. उन चरणों से स्रवित होने वाली सुधाधारा से पूरी तरह स्वात्म के सर्वाङ्ग को सुख-स्नात अनुभव करे।

३. अब अपने हृदय केन्द्र में हृत्पद्म का ध्यान करे। उस पद्मकोश में विराजमान महागणपति का ध्यान में ही दर्शन करे। मानो भगवान् गणेश प्रकाश परमोज्ज्वल उदीयमान अनन्त आदित्यों की पाटलिमा को भी अतिक्रान्त करने वाले आरुण्य से अलङ्कृत हो रहे हैं।

४. दोष-राशि के वेष की कल्पना यदि की जाय और उसे साकार होने से पहले ही प्रध्वस्त कर दिया जाय, उस स्थिति को निर्वेष कहते हैं। गणेश ऐसे ही हैं। दोषों के अस्तित्व का उनमें सर्वथा अभाव है।

५. यह प्रसिद्ध है कि, उनका मुख अनेकप (द्विप अर्थात् गज) के समान है। यह पौराणिक मान्यता है। तान्त्रिक प्रक्रिया प्राण को ही गणेश मनती है।

६. उपासक उस समय ब्रह्मवेला के वर्चस् की ऊर्जा से ओत-प्रोत हो रहा है। उसने पवन अर्थात् प्राणापानवाह को नियन्त्रित कर लिया है। मन उसके वशीभूत हो चुका है। वह भगवान् गणेश के उस दिव्यरूप में समाविष्ट हो चुका है।

७. गणेश का वह प्रभाभास्वर स्वरूप और उससे सतत विनि:सृत रश्मिराशि से स्वयं भासमान हो उठा है। उसकी व्यक्तिसत्ता में दिव्यता खिल उठी है। लगता है, उसका शरीर भी गणेश की अरुण आभा से लाल-लाल हो रहा है।

गणेश उपासक का यह दैनन्दिन उपक्रम उसे सतत आनन्दोल्लास से उल्लसित करता है। इतनी प्रक्रिया अपनाने के बाद अब उपासक शयन-कक्ष से बाहर निकलता है।

८. अब वह दैनिक प्राकृतिक प्रक्रिया पूरी करता है। शौच आदि से निवृत्त होता है। मुख प्रक्षालन, दन्तधावन, स्नान, वस्त्र, आभूषण एवं अन्य परिधानीय धारण कर सूर्य को अर्घ्य अर्पित करता है।

९. अब अरुणोदय का समय हो गया है। नये निकलते लालिमा लिये उगते आदित्य में अपने आराध्य एकदन्त का वह दर्शन करता है। उन्हें पवित्र अर्घ्य अर्पित करता है। इसका एक मन्त्र है। उसे गणेश गायत्री कहते हैं। उसे इस रूप से जानते हैं।

"तत्पुरुषाय विद्महे, वक्रतुण्डाय धीमहि, तन्नो दन्ती प्रचोदयात्" इस मन्त्र का अर्थ है, उदीयमान दिवाकर की दिव्य आभा से भासमान भगवान् गणेश को हम उपासक लोग तात्त्विक रूप से जानते हैं। वे वक्रतुण्ड हैं। हम उनका ध्यान करते हैं। वे एकदन्त द्वैमातुर हेरम्ब हमारी बुद्धि शक्ति के प्रेरक बनें।

इस मन्त्र से इस भावना के साथ गणेशार्घ्य प्रदान कर अवशिष्ट नित्यकृत्य जैसे अग्निहोत्र आदि सम्पन्न करे। इसके बाद तर्पण करना चाहिये। तर्पण करने से, 'आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, 'बल' पुष्टि, महती कीर्त्ति, कवित्व-शक्ति, भुक्ति और मुक्ति अवश्य प्राप्त होती है। इसे चार बार करना चाहिये। सूत्र के साथ इस अर्थवाद वाक्य को जोड़ दिया गया है। इससे उपासक के लिये इसको प्रतिदिन सम्पन्न करना अनिवार्य कर दिया गया है।।२।।

तदेव स्पष्टं विशिनष्टि

प्रथमं द्वादशवारं मूलमन्त्रेण तर्पयित्वा मन्त्राष्टाविंशतिवर्णान् स्वाहान्तानेकैकं चतुर्वारं मूलं च चतुर्वारं तर्पयित्वा पुनः श्री-श्रीपति-गिरिजागिरिजापति-महीमहीपति-महालक्ष्मीमहालक्ष्मीपति-ऋद्ध्यामोद-समृद्धिप्रमोद-कान्तिसुमुख-मदनावतीदुर्मुख-मदद्रवा-विघ्न-द्राविणी-विघ्न-कर्त्तृ-वसु-धारा-शङ्खनिधि-वसुमतीपद्मनिधि-त्रयोदशमिथुनेष्वेकैकां देवतां चतुर्वारं च तर्पयेत्। एवं चतुश्चत्वारिं-शदधिकचतुःशततर्पणानि भवन्ति ।।३।।

मूलमुच्चार्य तर्पयामीति मन्त्रेण तर्पणम्। एवमेव अग्रे सर्वत्र मूलस्थले संयोज्यम्। स्वाहान्त इत्यनेन प्रतिवर्णमन्त्रे स्वाहाकारघटकत्वं सूचितम्। स्वाहान्ते तर्पयमि इत्यपि योज्यम्।

तथा च मूलस्यैकवर्णः, तत्र बिन्दुयोगोऽपि शिष्टसम्प्रदायात्, ततः स्वाहाकारः, ततस्तर्पयामीति। एवं चतुर्वारं। ततो मूलेन चतुर्वारम्। एवं सर्वेषु वर्णेषूह्यम्। पूर्वं द्वादशवारं तर्पयित्वेति एको गणः सूचितः। तदुत्तरं चतुर्वारं तर्पयित्वेत्यन्ततर्पणम् एको गणः सूचितः। अस्मिन् सूत्रे पुनरित्यनेन त्रयोदशमिथुनतर्पणम् अन्यो गणः सूचितः। गणत्रयसूचनाफलं च एकैकगणस्य

एकैकापूर्वजनकत्वात् तन्मध्ये एकस्य विस्मरेण पुनस्तद्गणमारभ्यैवव अनुष्ठानं न सकलादिमारभ्य।

श्रीश्रीपतीत्येकं, गिरिजागिरिजापतीत्येकं मिथुनम्। एवं रीत्या एकं स्त्रीलिङ्गान्तमेकञ्च पुंलिङ्गान्तं मिथुनं ज्ञेयम्। एवं त्रयोदशमिथुनेषु एकैकां देवतां द्वितीयान्तमुच्चार्य तर्पयामीति योजयेत्। इत्थं चोक्तरीत्या एकदेवतायाश्चतुर्वारं तर्पणम्, ततो मूलेन चतुर्वारं कार्यं पूर्ववत्। तदित्थं मूलतर्पणानि २२८ वर्ण-तर्पणानि ११२ मिथुनतर्पणानि १०४ आहत्य ४४४ तर्पणानि भवन्तीत्यर्थः।।३।।

मूलमन्त्र पहले उच्चारण कर उसके साथ 'तर्पयामि' क्रिया लगाकर तर्पण का मन्त्र बनता है। इसी तरह सर्वत्र मूल के साथ 'तर्पयामि' क्रिया का संन्नियोजन करना चाहिये। चार बार तर्पण में क्रिया की आवृत्ति आवश्यक नहीं होती। मन्त्र की आवृत्ति नितान्त आवश्यक मानी जाती है। स्वाहान्त शब्द प्रयोग का तात्पर्य प्रतिवर्ण मन्त्र में 'स्वाहा' का प्रयोग आवश्यक है, यही मानना चाहिये। स्वाहा के अनन्तर 'तर्पयामि' क्रियायोग ही परम्परा में गृहीत है।

इस प्रकार मूल के एक वर्ण और इसके साथ बिन्दु के प्रयोग शिष्टस्वीकृत माने जाते हैं। इसके बाद 'स्वाहा' का प्रयोग और तदनन्तर 'तर्पयामि' क्रिया का प्रयोग कर तर्पण मन्त्र का निर्माण करते हैं। इस मन्त्र से चार बार तर्पण कर पुनः मूलमन्त्र से ही चार बार तर्पण करना चाहिये, इस तरह ऊह द्वारा वर्ण मन्त्रों का प्रयोग कर तर्पण का विधान पूरा करने का नियम है। गण के अनुसार तर्पण का निर्देश सूत्रों से प्राप्त होता है। जैसे पहले १२ बारह बार तर्पण करने की प्रक्रिया से प्रथम गण का सूचन हो रहा है। पुनः चतुर्वार तर्पण की बात से यह स्पष्ट हो रहा है कि, यह एक पृथक् गण है। 'पुनः' के प्रयोग के आधार पर इसके बाद तेरह मिथुनों का तर्पण सूचित हो रहा है। यह एक तीसरा गण प्रतीत होता है। इन गणों के पृथक्-पृथक् तर्पण का फल भी बड़ा अच्छा मिलता है। कभी बीच में विस्मृतिवश यदि प्रमाद घटित हो जाय तो, उसी गण से पुनः प्रारम्भ किया जाता है। अन्यथा इसे प्रारम्भ से शुरू करना पड़ता है।

श्री और श्रीपति का एक मिथुन, गिरिजा-गिरिजापति यह द्वितीय मिथुन, इसी तरह एक स्त्रीलिङ्ग शब्द तथा साथ के पुल्लिङ्ग शब्द को मिलाकर तेरह

मिथुनों का सूत्र में उल्लेख है। इनमें से एक-एक देवता के साथ द्वितीया विभक्ति लगाकर 'तर्पयामि' क्रिया का प्रयोग कर तर्पण करना चाहिये। इस तरह एक देवता का चार बार तर्पण कर पुनः मूल से भी चार बार तर्पण करने का विधान है। इस तरह मूल तर्पण २२८ बार, वर्ण तर्पण ११२ बार, मिथुन तर्पण १०४ बार होते हैं। कुल मिलाकर चार सौ चौवालिस तर्पण होते हैं।।३।।

एवं तर्पणक्रममुक्त्वा पूजाविधिं वक्तुमुपक्रमते

अथ यागविधिः। गृहमागत्य स्थण्डिलमुपलिप्य द्वारदेश उभयपार्श्वयोर्भद्रकाल्यै, भैरवाय, द्वारोर्ध्वे लम्बोदराय नम इति अन्तः प्रविश्य आसनमन्त्रेण आसने स्थित्वा, प्राणानायम्य षडङ्गानि विन्यस्य मूलेन व्यापकं कृत्वा स्वात्मनि देवं सिद्धलक्ष्मीसमाश्लिष्ट-पार्श्वम् अर्द्धेन्दुशेखरमारक्तवर्णं मातुलुङ्गगदापुण्ड्रेक्षु-कार्मुकशूल-सुदर्शनशङ्खपाशोत्पलधान्यमञ्जरीनिजदन्ताञ्चलरत्नकलशपरिष्कृत-पाण्येकादशकं प्रभिन्नकटमानन्दपूर्णमशेषविघ्नध्वंसनिघ्नं विघ्नेश्वरं ध्यात्वा ।।४।।

अथ अधिकारान्तरवाक्यमिदम्। एतेन तर्पणप्रकरणं समाप्तम्। गृहमागत्येत्यनेन तर्पणं नद्यादौ गृहाद्बहिः कार्यम् इति सूचितम्। स्थण्डिलं यागदेशमुपलिप्य गोमयेनेति शेषः। उभयपार्श्वयोरित्यत्रानादेशाद्दक्षिणं प्रथमं पश्चाद्वामम्। दक्षवामौ द्वाराद्बहिर्निर्गमनवेलायां तौ ग्राह्यौ। नम इत्युत्तरं यजेदिति शेषः। अन्तः प्रविश्य इत्यनेन द्वारपूजा बहिः स्थित्वैव कार्या इति सिद्धम्। आसनमन्त्रेणेत्यनेन श्यामाप्रकरणपठितो मन्त्रो ज्ञेयः, सन्निकृष्टत्वात्। प्राणायामः श्वासनिरोधः। षडङ्गानि मूलमन्त्रषडङ्गानि हृदयादीनि। तेषु विन्यस्य सर्वाङ्गे विन्यसेत्। इदमेव व्यापककरणम्। स्वात्मनि स्वहृदये। गदा आयुधविशेषः, पुण्ड्रेक्षुः नानारेखायुक्तेक्षुः। कार्मुकश्चापः। शूल आयुधविशेषः। सुदर्शनं चक्रम्। शङ्खपाशौ प्रसिद्धौ। एवं मातुलुङ्गादिरत्नकलशान्तैः परिष्कृतं पाण्येकादशकं यस्येदृशम्। यद्यपि श्रीमहागणपतिमूर्तेः दश भुजाः प्रसिद्धाः, अत्रैकादशेति विरुद्धम्, तथापि पाणिपदेन शुण्डादण्डोऽप्यत्र ग्राह्यः, तत्र पाण्यपरपर्यायेण करः हस्त इति व्यवहारात्। करी हस्तीति सर्वलोकप्रसिद्धेः। इत्थं च दश

भुजाः, एकादशः शुण्डादण्ड इति तदभिप्रायेण सूत्रकृता भगवता पाण्येकादश-मित्युक्तम्। प्रभिन्नः प्रस्रवन् कटो गण्डो यस्य तम्। अशेषा ये विघ्नजनिता ध्वंसा अनिष्टकलापास्तेषां निघ्नं नाशकं विघ्नेश्वरम् उक्तगुणविशिष्टं ध्यायेत् ।।४।।

'अथ' यह अव्यय शब्द पूरे एक वाक्य के लिये प्रयुक्त है। इससे यह सूचित हो रहा है कि, एक वर्ण्यविषय का अधिकार क्षेत्र समाप्त हो गया, अर्थात् पूर्वप्रवर्त्तित तर्पण प्रकरण समाप्त हुआ। अब याग-विधि का वर्णन यहाँ से प्रारम्भ हो रहा है। इसके तुरत बाद 'गृहमागत्य' इस वाक्य में पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग किया गया है। इससे यह सूचना-सी प्राप्त हो रही है कि, तर्पण की प्रक्रिया नदी आदि में घर से बाहर पूरी करनी चाहिये। बाहर तर्पण कर याग-गृह में आने का उपक्रम करना चाहिये। सर्वप्रथम स्थण्डिल के स्थान अर्थात् यागभूमि को गाय के गोबर से लीप कर पवित्र करना आवश्यक माना जाता है।

द्वार में प्रवेश के पहले ही द्वार के उभयपार्श्व में द्वारपूजा के उद्देश्य से दाहिनी ओर 'भद्रकाल्यै नमः', बायीं ओर 'भैरवाय नमः' और ऊपर 'लम्बोदराय नमः' ये तीन नमस्कार मन्त्र लिखना चाहिये। द्वारपूजा बाहर रहकर ही पूरी की जाती है। दक्ष और वाम पार्श्व का निर्णय प्रवेश की दृष्टि से नहीं, वरन् निर्गम की दृष्टि से करना चाहिये।

अब याग गृह में उस द्वार से प्रवेश कर आसनशुद्धि के मन्त्र से आसन को दिव्य बनाकर उस पर उपवेशन करना चाहिये। यह आसन मन्त्र श्यामा प्रकरण में लिखा गया है। उसी का प्रयोग करना उचित है। आसन पर आसीन होकर मूलमन्त्र से प्राणायाम की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये। यद्यपि सूत्र में संकल्प का उल्लेख नहीं है फिर भी 'श्रीविद्या की उपासना में निर्विघ्नता की सिद्धि के लिये श्रीमहागणपति-क्रम का अनुपालन कर रहा हूँ' यह संकल्प अवश्य कर लेना चाहिये।

तदनन्तर षडङ्गन्यास का क्रम आता है। मूलमन्त्र से हृदय, शिर, शिखा, नेत्रत्रय, कवच और अस्त्रात्मक विन्यास आवश्यक है। इसमें क्रमशः नमः स्वाहा, वषट्, वौषट्, हुम् और फट् इन पूरकों का उच्चारण चतुर्थ्यन्त अङ्गशब्दों के साथ

करना विधिसम्मत है। इसके बाद सर्वाङ्ग न्यास करना चाहिये। इसे ही 'व्यापक' प्रक्रिया भी कहते हैं। यह प्रक्रिया भी मूल मन्त्र से ही पूरी की जाती है।

इसके बाद स्वात्म में सिद्धलक्ष्मी द्वारा समाश्लिष्ट पार्श्व, रक्तवर्ण, अर्धेन्दुशेखर, एकादश हस्तों में एकादश प्रकार के आयुध एवं पदार्थ धारण करने वाले, मद प्रभिन्न गण्डस्थल, परमानन्दनिमग्न और निखिल विघ्नराशि से उत्पन्न उपद्रवों के दारक भगवान् विघ्नेश्वर का ध्यान करना चाहिये।

उनके द्वारा धार्यमाण द्रव्य एवं आयुध—

१. मातुलुङ्ग— एक प्रकार का जम्बीर चकोतरा (नींबू)

२. गदा— प्रसिद्ध आयुध।

३. पुण्ड्रेक्षु— एक प्रकार का गन्ना (पुण्ड्र-कमल, इक्षु-गन्ना) यह अर्थ भी है।

४. कार्मुक— धनुष।

५. शूल— प्रसिद्ध आयुध।

६. सुदर्शन— चक्र।

७. शङ्ख

८. पाश

९. उत्पल— कमल (संख्या तीन में कमल अर्थ गौण है)

१०. धान्य-मञ्जरी।

११. निजदन्ताञ्चल-रत्नकलश।

इन सभी से उनके हाथ शाश्वत परिष्कृत अर्थात् शोभायमान रहते हैं। जहाँ तक स्वात्म शब्द का प्रश्न है, टीकाकार ने उसका अर्थ मन लगाया है और मन तथा हृदय के ऐक्य का समर्थन किया है। तान्त्रिक दृष्टि इससे पृथक् है। स्वात्म अपनी शैवसत्ता का केन्द्र होता है। मन को जीत कर हृदय केन्द्र में ध्यान की विधि पूरी की जाती है।।४।।

एवं ध्यानान्तमुक्त्वा ततोऽर्घ्यस्थापनविधिं वक्तुमुपक्रमते

पुरतो मूलसंप्ताभिमन्त्रितेन गन्धाक्षतपुष्पपूजितेन शुद्धेन वारिणा त्रिकोण-षट्कोण-वृत्त-चतुरस्राणि विधाय तस्मिन् पुष्पाणि विकीर्य

वह्नीशासुरवायुषु मध्ये दिक्षु च षडङ्गानि विन्यस्य अग्निमण्डलाय दशकलात्मने अर्घ्यपात्राधाराय नमः, सूर्यमण्डलाय द्वादशकलात्मने अर्घ्यपात्राय नमः, सोममण्डलाय षोडशकलात्मने अर्घ्यामृताय नम इति शुद्धजलमापूर्य अस्त्रेण संरक्ष्य कवचेनावकुण्ठ्य धेनु-योनि-मुद्रां प्रदर्शयेत् ।।५।।

पुरतः स्वस्येति शेषः। मूलेन सप्तत्वम् आवृत्त्या सम्पादनीयम्। तैः अभिमन्त्रितेन गन्धपुष्पाक्षतैः पूजितेन शुद्धेन पवित्रेण पटपूतेन वारिणा त्रिकोणषट्कोण-वृत्त-चतुरस्राणि विधाय निर्माय तस्मिन् सङ्घात्मके मण्डले पुष्पाणि विकीर्य वह्नीशासुरवायुषु मध्ये दिक्षु च षडङ्गानि मूलषडङ्गानि विन्यस्य अग्निमण्डलाय नम इत्यारभ्य लिङ्गेन विभज्य मन्त्राणां त्रयाणाम् 'आधाराय नमः' 'पात्राय नमः' 'अमृताय नमः' इत्यन्तं शुद्धजलमापूर्य अस्त्रमन्त्रेण संरक्ष्य कवचेनावकुण्ठ्य अन्यत्र गमनशक्तिरहितं कृत्वा धेनुयोनिमुद्रां प्रदर्शयेत् ।।५।।

अपने समक्ष मूलमन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित गन्ध, अक्षत और पुष्पों द्वारा पूजित शुद्ध जल से त्रिकोण, षट्कोण, वृत्त और चतुष्कोणों का निर्माण कर उन पर फूलों को बिखेर कर अग्नि और ईशान तथा नैऋत्य और वायव्य कोणों में मध्य में और पूर्वादि दिशाओं में भी षडङ्गविन्यास करना चाहिये। त्रिकोण आदि का निर्माण निर्धारित मुद्रा द्वारा ही करणीय है। सर्वप्रथम चतुरस्र में, पुनः वृत्त में और इसके बाद त्रिकोण में अर्घ्यविधि सम्पन्न करनी चाहिये। त्रिकोण, षट्कोण और चतुरस्र मण्डलों में तीन दिव्य मण्डलों की पूजा की जाती है— १. अग्निमण्डल, २. सूर्यमण्डल और ३. सोममण्डल। अपने स्वात्म रूप गणपति में त्रिनेत्र अग्निमण्डल, दक्षनेत्र सूर्यमण्डल और वाम नेत्र सोममण्डल माना जाता है। अग्नि की दश कलायें होती हैं। इन दशों की पूजा होती है। सम्प्रदायान्तर में इसे दशार रूप दश कला संयुक्त के स्थान पर अष्टार चक्र कहते हैं। अग्निमण्डल में अर्घ्य पात्र का आधार स्थापित होता है। अग्नि बीज के साथ और मूल मन्त्रों के साथ स्थापना की विधि पूरी होती है।

सूर्यमण्डल द्वादशार चक्र माना जाता है। सूर्य की द्वादश कलायें होती हैं। इसमें मूल मन्त्र के साथ सविता का 'आ सत्येन रजसा वर्त्तमानः' इस मन्त्र

में हकारयुक्त सबिन्दु दीर्घस्वर मन्त्र के साथ 'पात्राय नमः' कहकर पात्र की स्थापना की जाती है।

इसी तरह सोममण्डल षोडशार चक्र होता है। चन्द्र की १६ कलायें विख्यात हैं। समस्त सबिन्दुक स्वर इनके बीज हैं। इसमें 'अमृताय नमः' कहकर अमृत रूप वारि सम्पूरण किया जाता है।

अस्त्र मन्त्र में इनकी संरक्षण प्रक्रिया पूरी होती है। कवच मुद्रा से इन्हें सुप्ररुद्ध कर स्थिर कर देते हैं। इसके बाद धेनु और योनि मुद्रा का प्रदर्शन करते हैं। धेनु मुद्रा से महागणपति का अनुग्रह दुग्धवत् स्रवित होने लगता है और योनि मुद्रा से उनके आदि कारण होने की मान्यता का समर्थन होता है। महागणपति के अर्घ्य स्थापन की यह प्रक्रिया गुरु के पास बैठकर सीखनी चाहिये। शास्त्रपारङ्गत सिद्ध साधक स्वयं भी करने में समर्थ हो जाता है।।५।।

अर्घ्यसंस्कारशेषानाह

सप्तवारमभिमन्त्र्य तज्जल-विप्रुड्भिरात्मानं पूजोपकरणानि च सम्प्रोक्ष्य तज्जलेन पूर्वोक्तं मण्डलं परिकल्प्य तद्वदादिमं संयोज्य तत्रोपादिमं मध्यमं च निक्षिप्य वह्न्यर्केन्दुकला अभ्यर्च्य वक्रतुण्ड-गायत्र्या गणानां त्वेत्यनया ऋचा चाभिमन्त्र्य अस्त्रादिरक्षणं कृत्वा तद्बिन्दुभिस्त्रिशः शिरसि गुरुपादुकामाराधयेत् ।।६।।

मूलमन्त्रेण सप्तवारमित्यस्यादिः। तज्जलेन सामान्यार्घ्योदकेन आत्मानं पूजोपकरणानि च सम्प्रोक्ष्य पूर्वोक्तं त्रिकोणादिरूपं मण्डलं संस्कृतदेशविशेषम्। आदिमं प्रथमं संयोज्य आधारे वह्निकलाः धूम्रार्चिरादयः, पात्रे सूर्यकलाः तापिन्यादयः, अमृते अमृतादयः चन्द्रकलाः चतुर्थ्यन्ततत्तन्नामभिः प्रागादि-प्रादक्षिण्येन वृत्ताकारं यजेत्। वक्रतुण्डगायत्र्या 'तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' इत्यनया। 'गणानां त्वा' प्रसिद्धा ऋक्। अभिमन्त्र्य अभिमन्त्रणं नाम मन्त्रपठनकाले संस्कार्य द्रव्यस्पर्शः। तद्बिन्दुभिः संस्कृतप्रथमबिन्दुभिः त्रिशः त्रिवारं शिरसि विधिबिले गुरुपादुकामारा-धयेत् ।।६।।

मूलमन्त्र से सात बार अभिमन्त्रण करना चाहिये। सामान्यार्घ्य के जल-बिन्दुओं से अपने को और पूजा के द्रव्यों का सम्प्रोक्षण भी आवश्यक है। उसी जल से पहले कहे गये त्रिकोण, षट्कोण और चतुरस्र मण्डलों की परिकल्पना कर आदि से अन्त तक की योजनाबद्ध रूप से आधार में वह्निकलाओं की, पात्र में सूर्य-कलाओं की एवं अमृत में अमृतादि चन्द्र-कलाओं की पूजा करनी चाहिये। कलाओं की पूजा उनके चतुर्थ्यन्त नामों के साथ पूर्व से दक्षक्रमानुसार करनी चाहिये। जैसे 'श्रीं ह्रीं क्लीं यं धूमार्चिकलायै नमः' कहकर पूर्व में धूम्रार्चिकला की पूजा की जाती है। इसके पहले मूलमन्त्र अग्नि ऋक् और अग्निबीज में सबिन्दु दीर्घस्वरों के प्रयोग के साथ रमलवरयूं कहकर अग्निमण्डल की कल्पना पूरी कर लेनी चाहिये।

यही क्रम सूर्य और सोम-कलाओं की पूजा में मूलमन्त्र और अन्य स्वीकृत बीज मन्त्रों से पात्र एवं अमृत की स्थापना कर तापिन्यादि एवं अमृतकलादि कलाओं की सविधि पूजा होनी चाहिये। वक्रतुण्ड गायत्री संस्कृत टीका में लिखी है। 'गणानां त्वा' गणेश मन्त्र प्रसिद्ध मन्त्र है। इससे सभी उपचार द्रव्यों का अभिमन्त्रण कर अस्त्र मन्त्र से संरक्षित करने का उल्लेख किया जा चुका है। अर्घ्य जल से स्वात्म को संस्कृत कर गुरुपादुका को शिर पर धारण करना चाहिये। इसकी आराधना के भी निर्धारित मन्त्र हैं। उन्हें गुरुदेव से सीखना उचित है ।।६।।

पीठनियमपूर्वकं यन्त्रोद्धारमाह

पुरतो रक्तचन्दननिर्मिते पीठे महागणपतिप्रतिमायां वा चतुरस्राष्टदलषट्कोणत्रिकोणमये चक्रे वा तीव्रायै, ज्वालिन्यै, नन्दायै, भोगदायै, कामरूपिण्यै, उग्रायै, तेजोवत्यै, सत्यायै, विघ्ननाशिन्यै, ॐ धर्माय, ॐ ज्ञानाय, लं वैराग्याय, लृं ऐश्वर्याय, ॐ अधर्माय, ॐ अज्ञानाय, लं अवैराग्याय, लृं अनैश्वर्याय नम इति पीठशक्तीर्धर्माद्यष्टकं चाभ्यर्च्य मूलमुच्चार्य 'महागणपतिमावाहयामि' इत्यावाह्य पञ्चधोपचर्य दशधा सन्तर्प्य मूलेन मिथुनाङ्गब्राह्म्यादीन्द्रादिरूपपञ्चावरणपूजां कुर्यात् ।।७।।

पुरत इति पीठे इत्यन्तं मूर्त्याधारनियामकम्। वाकारद्वयं समविकल्प-द्योतकम्। चतुरस्रं सर्वस्माद् बहिः, तदन्तः अष्टदलं तदन्तः षट्कोणं तदन्तः त्रिकोणम् इति क्रमो ज्ञेयः। तीव्रादिषु पीठशक्तिरिति सङ्केताद् आसां श्रीगणपत्याधारभूतपीठे रक्तचन्दननिर्मिते पूजनमिति ज्ञायते। तत्र क्रमानुक्तौ प्रागादिष्वष्टदिक्षु मध्ये च नवशक्तयः पूज्याः। धर्मादीनां चतुष्टयं वायव्यादि-विदिक्षु अधर्मादि चतुष्टयं पश्चिमादिप्रादक्षिण्येन पीठ एव समर्चयेत्। पीठशक्तीः धर्माद्यष्टकं चेति द्वयोरेकदेशस्य श्रुतत्वात्। धर्मादीनां दिङ्नियमो वायुकोणतः। पञ्चधा पञ्चप्रकारैः गन्ध-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्यरूपैः। उपचर्य पूजयित्वा। अत्र मन्त्राः —

'लं' पृथिव्यात्मने गन्धं कल्पयामि। 'हं' आकाशात्मने पुष्पं कल्पयामि। 'यं' वाय्वात्मने धूपं कल्पयामि। 'रं' अग्न्यात्मने दीपं कल्पयामि। 'वं' अमृतात्मने अमृतनैवेद्यं कल्पयामि।

मूलेन दशधा दशवारम्। सन्तर्प्य इत्यत्र तर्पण-साधनद्रव्यं विशेषार्घ्यपात्रम्। तत्प्रकारश्च श्यामाक्रमे वक्ष्यमाणधर्म एव ग्राह्यः। एवमावरण-पूजायामपि तत एव ग्राह्यः। तर्पणे तु मूलमुक्त्वा श्रीमहागणपतिं तर्पयामि इति मन्त्रशेषः। मिथुनानामावरणद्वयम्। अङ्गदेवतास्तृतीयावरणम्। ब्राह्म्याद्याश्चतुर्था-वरणम्। इन्द्राद्याः पञ्चमावरणम्। एवं पञ्चावरणपूजां कुर्यात् ।।७।।

समक्ष सुव्यवस्थित चन्दन निर्मित पीठ पर श्रीमहागणपति की पावन प्रतिमा प्रतिष्ठित है। उसी प्रतिमा में निर्धारित देवियों, धर्माद्यष्टक और पीठ-शक्तियों की पूजा की जाती है। इसमें विकल्पान्तर की प्रक्रिया सूत्रकार भी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि, यह पूजा प्रतिमा के अतिरिक्त चतुरस्र, अष्टदल, षट्कोण अथवा त्रिकोणमय चक्र में भी लोग करते हैं।

पूजा करने योग्य पीठशक्तिरूपा देवियों का सूत्र में नामोल्लेखपूर्वक कथन है। वे हैं— १. तीव्रा, २. ज्वालिनी, ३. नन्दा, ४. भोगदा, ५. काम-रूपिणी, ६. उग्रा, ७. तेजोवती, ८. सत्या और ९. विघ्नविनाशिनी। इनके अतिरिक्त धर्माद्यष्टक की समन्त्रक पूजा की जाती है। श्रीरामेश्वरवृत्ति में उनका

उल्लेख कर दिया गया है। उन्हीं मन्त्रों से इनकी पूजा पूरी करने के उपरान्त मूल का उच्चारण कर 'मैं महागणपति का आवाहन कर रहा हूँ। इस प्रकार श्रीमहागणपति का आवाहन करने के उपरान्त गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य से 'लं' पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि, 'हं' आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि, 'यं' वाय्वात्मकं धूपमाघ्रापयामि और 'वं' अमृतात्मने अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि इन मन्त्रों से पञ्चोपचार पूजन का विधान है। इसके बाद मूल से दश बार सन्तर्पण करना चाहिये। तर्पण का साधक द्रव्य विशेषार्घ्यपात्र में अवस्थित रहना चाहिये। तर्पण के लिये श्यामाक्रम में निर्दिष्ट विधि का अनुसरण करना चाहिये। पञ्चावरण पूजा का क्रम तर्पण के बाद ही आता है। दो आवरण तो मिथुनाङ्गभूत तर्पण मात्र हैं। तीसरा आवरण अङ्गदेवताओं के लिये सुरक्षित माना जाता है। चौथे आवरण में ब्राह्मी आदि देवियों की पूजा होती है और पञ्चम आवरण इन्द्र आदि देवों की पूजा के लिये निर्धारित है। इस प्रकार पञ्चावरण पूजा पूरी होती है।।७।।

तत्र प्रधानदेवतातर्पणदेशं सविस्तरं प्रपञ्चयति

त्रिकोणे देवः, तस्य षडस्रस्यान्तराले श्रीश्रीपत्यादि-चतुर्मिथुनानि अङ्गानि च ऋद्ध्यामोदादि-षण्मिथुनानि षडस्रे मिथुनद्वयं षडस्रोभय-पार्श्वयोस्तत्सन्धिष्वङ्गानि ब्राह्म्याद्या अष्टदले चतुरस्राष्टदिक्ष्विन्द्राद्याः पूज्याः सर्वत्र देवतानामसु श्रीपूर्वपादुकामुच्चार्य पूजयामीत्यष्टाक्षरीं योजयेत् ।।८।।

त्रिकोणे देवः, तर्प्य इति शेषः। तत् त्रिकोणं षडस्रं च तयोरन्तराले अनुक्तत्वात् प्रागादिदिक्षु चतुरावृत्तितर्पणपाठक्रमानुरोधेन श्रीश्रीपतिप्रभृति-मिथुनचतुष्टयं पूज्यम्। एतावत् प्रथमावरणम्। ऋद्ध्यामोदमिथुनमारभ्य षण्मिथुनानि षडस्रकोणेषु। एतदुत्तरवृत्ति मिथुनद्वयं षडस्रपार्श्वद्वये इति द्वितीयावरणम्। षट्कोणयन्त्रे रेखोपरि रेखा यत्र गच्छति स तत्सन्धिः। तत्र ईदृशाः सन्धयः षट् सन्ति, तादृशसन्धिषु क्रमस्यानुक्तत्वाद् अग्नीशा-सुरवायुकोणक्रमस्यासम्भवात् प्रागपवर्गता उत्तरापवर्गता यथा स्यात् तथा, क्रममनादृत्य षडङ्गानि यजेत्। इति तृतीयावरणम्।

अष्टदले क्रमाकाङ्क्षायां श्रीविद्यार्णवोक्तः। आद्यचतसृणां वायव्यादि-विदिक्षु प्रादक्षिण्येन पूज्या ब्राह्म्याद्या अष्टमातर इति चतुर्थावरणम्। चतुरस्रे प्रागाद्यष्टदिक्षु तत्तद्दिक्पतीन् यजेत्, मन्त्राकाङ्क्षासत्त्वात् सन्निकृष्टश्यामाक्रमोक्त-दिक्पालमन्त्रा ग्राह्याः। अथवा वक्ष्यमाणाष्टाक्षरीयुक्तनाममन्त्रेणैव। इति पञ्चमावरणम्। सर्वत्र पूजासामान्ये देवतानामसु नाममन्त्रेषु। श्रीपूर्व-प्रथम-पदमुच्चार्य ततः पादुकाम् इति। ततः पूजयामीति। तथा च श्रीपादुकां पूजयामीति योज्यमिति यावत् ।।८।।

त्रिकोण में देवेश्वर का तर्पण करना चाहिये। तस्य अर्थात् त्रिकोण और षट्कोण के अन्तराल में पूर्वादिक् से प्रारम्भ कर श्री-श्रीपति से लेकर महालक्ष्मी-महालक्ष्मीपति पर्यन्त चार मिथुनों की पूजा करनी चाहिये। इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि, सूत्रकार ने चतुरावृत्तितर्पण क्रम का ही उल्लेख किया है। यह प्रथम आवरण की पूजा है।

द्वितीय आवरण में ऋद्ध्यामोद मिथुन से लेकर वसुमती-पद्मनिधि पर्यन्त छः मिथुन षट्कोण के छः कोणों में पूजित होते हैं। सातवाँ और आठवाँ मिथुन षडस्र के पार्श्वद्वय में पूजनीय है। यह द्वितीयावरण की पूजा मानी जाती है। षट्कोण यन्त्र में छः सन्धियाँ होती हैं। एक रेखा को जब दूसरी रेखा काटती है, तो उस स्पर्श बिन्दु को सन्धि कहते हैं। इन सन्धि बिन्दुओं पर प्रथमतः अग्निकोण, द्वितीयतः ईशानकोण, तृतीयतः निर्ऋति और चतुर्थतः वायव्यकोण का क्रम न अपना कर छः अङ्गों की इस तरह पूजा करनी चाहिये, जिससे प्रागपवर्गता और उत्तरापवर्गता का क्रम सिद्ध हो सके। पूरी व्याप्ति से अपकर्षण की दृष्टि को अपवर्ग कहते हैं। समाप्ति को भी अपवर्ग कहते हैं। यहाँ अपवर्ग का मोक्ष अर्थ नहीं है। प्राक्पूर्त्ति और उत्तरपूर्त्ति का क्रम अर्थात् हृदय से अस्त्र पर्यन्त ही इसका अर्थ है। इस तरह की यह पूजा तृतीय आवरण में होती है।

ब्राह्मी आदि अष्ट मातृकाओं की पूजा अष्टदल वाले अष्टकोणों में होनी चाहिये। ब्राह्मी आदि चार मातृकाओं की पश्चिम उत्तर पूर्व और दक्षिण तथा वाराही की वायव्य में, माहेन्द्री की ईशान में, चामुण्डा की अग्नि में और महालक्ष्मी की नैऋत्य में पूजा करनी चाहिये। यह चतुर्थ आवरण की पूजा है।

पञ्चम आवरण में चतुष्कोण की रेखाओं में पूर्व से प्रारम्भ कर मूल मन्त्र के साथ श्यामा-क्रम के अनुसार अथवा अष्टाक्षरी नाम-मन्त्रानुसार पूजा करनी चाहिये। जैसे श्रीं ह्रीं क्लीं लां इन्द्राय वज्रहस्ताय सुराधिपतये ऐरावतवाहनाय सपरिवाराय नमः, इन्द्र श्रीपादुकां पूजयामि नमः। इस मन्त्र से पूर्व रेखा पर इन्द्र की पूजा करनी चाहिये। इसी तरह अन्य पञ्चमावरण देवताओं की आगे रेखाओं पर पूजा करनी चाहिये। अन्त में सामान्याघ्र्योदक से देवहस्त में पूजा का अर्पण करना चाहिये।।८।।

गणनाथस्य पुनरुपतर्पणादि

एवं पञ्चावरणीमिष्ट्वा पुनर्देवं गणनाथं दशधोपतर्प्य षोडशोपचारैरुपचर्य प्रणवमायान्ते सर्वविघ्नकृद्भ्यः सर्वभूतेभ्यो हुं स्वाहा इति त्रिः पठित्वा बलिं दत्त्वा गणपतिबुद्ध्यैकं बटुकं सिद्धलक्ष्मीबुद्ध्यैकां शक्तिं चाहूय गन्धपुष्पाक्षतैरभ्यर्च्यादिमोपादिम-मध्यमान् दत्त्वा मम निर्विघ्नं मन्त्रसिद्धिर्भूयादित्यनुग्रहं कारयित्वा नमस्कृत्य यथाशक्ति जपेत् ।।९।।

एवम् उक्तप्रकारेण पञ्चानामावरणानाम् आवरणदेवतानां समूहः पञ्चावरणी, 'द्विगोः' इति ङीप्। ताम् इष्ट्वा पूजयित्वा। दशधा दशवारम्। षोडशोपचारैरुपचर्य पूजयित्वा प्रणवः प्रसिद्धः। माया ह्रीं एतयोरन्ते स्वाहान्तं शेषं पठेत्। बलिदानमन्त्रं त्रिः पठित्वा ततो बलिदानं कुर्यात्। गणपतिबुद्ध्या गणपतिस्वरूपं भावयित्वेति यावत्। पाठक्रमं बाधित्वा अर्थक्रमेण आदौ आवाहनं पश्चाद् भावनं ततोऽर्चनम्। एवमग्रेऽपि। आदिमं स्पष्टम्। उपादिमं द्वितीयम्। मध्यमं तृतीयञ्च दत्त्वा। अनुग्रहं कारयित्वा। तयोरनुग्रहो यथा भवेत् तथा तत्सन्तोषं स्वयं सम्पादयेद् इति भावः। नम इत्यारभ्य जपेद् इत्यन्तः स्पष्टार्थः।।९।।

पहले निर्देश के अनुसार पाँचों आवरण देवताओं की पूजा करनी चाहिये। इसी में गणनाथ के अर्चन का क्रम विधिपूर्वक पूरा कर गणनाथ का तर्पण भी कर लेना चाहिये। सोलह उपचारों— पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, नीराजन, पुष्पाञ्जलि, प्रदक्षिणा,

साष्टाङ्ग प्रणति ये षोडशोपचार में गृहीत हैं। इस प्रक्रिया में होम का ग्रहण नहीं किया गया है। इसके बाद तीन बार मन्त्रपाठ करने का विधान है। मन्त्र का निर्देश सूत्रकार ने किया है 'प्रणव, मायाबीज 'ह्रीं' सर्वविघ्नकृद्भ्यः सर्वभूतेभ्यो हुं स्वाहा' यह मन्त्रोद्धार का स्वरूप है। इस मन्त्र को तीन बार पढ़कर बलि देनी चाहिये। बलि-प्रक्रिया पूरी कर लेने के अनन्तर गणपति की भावना से भावित कर बटुक और सिद्धलक्ष्मी की भावना से भावित की गयी एक शक्तिरूपिणी कुमारी को वहाँ बिठा कर गन्ध, पुष्प और अक्षत आदि से संक्षिप्त पूजा करनी चाहिये। आवाहन, देवबुद्धि से भावन और तत्पश्चात् पूजन का क्रम ही वास्तविक क्रम होता है। वहाँ जो दानीय पदार्थ सुरक्षित है, उसमें पहला, दूसरा, तीसरा पदार्थ बटुक और शक्ति के उद्देश्य से दान कर देना चाहिये।

उनसे यह प्रार्थना आवश्यक होती है— 'हे शक्ति और शक्तिमन्त के प्रतीक बटुक और शक्ति! मेरी निर्विघ्न मन्त्रसिद्धि सम्पन्न हो''। इस प्रार्थना के आधार पर अनुग्रह का अमृतोद्वलन होने लगता है। इस तरह उनको अपनी ओर आकर्षित कर उन्हें सन्तुष्ट और तृप्त कर और नमस्कार कर महागणपति के गुरुप्रदत्त मन्त्र का यथाशक्ति जप करना चाहिये।

गणपत्युद्वासनम्

यद्यदग्निकार्यसम्पत्तिर्बलेः पूर्वं विधिवत् संस्कृतेऽग्नौ स्वाहान्तैः श्रीश्रीपत्यादिविघ्नकर्त्तृपर्यन्तैर्मन्त्रैर्हुत्वा पुनरागत्य देवं त्रिवारं सन्तर्प्य योग्यैस्सह मपञ्चकमुररीकृत्य महागणपतिमात्मन्युद्वास्य सिद्धसङ्कल्पः सुखी विहरेद् इति शिवम् ।।१०।।

यदीत्यनेन होमस्य कृताकृतत्वं सूचितम्। बलेः पूर्वमित्यनेन क्रमशेषः सूचितः। विधिवत्। श्रीश्रीपतिमिथुनमेका देवता श्रीश्रीपतिभ्यां स्वाहेति मन्त्र-स्वरूपम्। विघ्नकर्त्तृपर्यन्तैरिति अग्रिममिथुननिवर्त्तकम्। हुत्वा इत्यत्र द्रव्या-काङ्क्षायाम् 'अनादिष्ट आज्यं भवति' इति परिभाषया आज्यमेव। कामनाविशेषे तु द्रव्यविशेषो मोदकादिः। पुनरागत्य इत्यनेन पूजाप्रदेशादन्यो होमप्रदेशः। योग्यैः सम्प्रदायाभिज्ञैः सह। मपञ्चकमुररीकृत्य स्वीकृत्य। उद्वासनमुद्रया उद्वास्य। सिद्धसङ्कल्पः सिद्धकार्यः। सुखी विहरेद् इति

प्रतिपादितकर्मणो न केवलं प्रत्यूहनाशः किन्तु इदमपि फलं दर्शितम्। शिवमिति पूर्ववत् प्रकरणसमाप्तिद्योतकम्।

।। इति श्रीपरशुरामकल्पसूत्रे श्रीरामेश्वरनिर्मितायां सौभाग्योदयनाम्न्यां परशुरामकल्पसूत्रवृत्तौ (मुख्यांशमात्रायां) गणनायकपद्धतिर्नाम द्वितीयः खण्डः सम्पूर्णः।।

यदि शब्द के प्रयोग से यह अर्थ सूचित हो रहा है कि, गणपतिक्रम की प्रक्रियाओं के अन्त में हवन कार्य करते भी हैं और नहीं भी करते हैं। कोई अनिवार्य नहीं है कि, हवन करना ही चाहिये। न करने में भी कोई दोष नहीं है। यदि करने का निर्णय आचार्य ने ले ही लिया है, तो बलि कर्म के पहले ही इसे सम्पादित करना उचित है। वह्निसंस्कार वैदिक द्वारा वैदिक मन्त्रों से करना चाहिये अथवा श्यामादिक्रम में जो विधि लिखी गयी है, उसके ही अनुसार पूरा करना चाहिये। श्री-श्रीपति से लेकर अविघ्नद्राविणी-विघ्नकर्तृ पर्यन्त मिथुन रूप देवताओं के साथ स्वाहा शब्द प्रयोग के साथ मन्त्रोद्धार कर हवन करना चाहिये। जैसे, 'श्रीं ह्रीं क्लीं श्रीश्रीपतिभ्यां स्वाहा' इस मन्त्र से श्री-श्रीपति मिथुन के लिये हवन करना चाहिये। इसी तरह १० मिथुनों का हवन आवश्यक माना जाता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि, यह हव्य की और चरु की आहुति नहीं होती, वरन् मात्र आज्याहुति ही होती, शास्त्र में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, जहाँ हवनीय किसी द्रव्य का उल्लेख नहीं होता है वहाँ मात्र आज्य का ही ग्रहण होता है, किसी काम्य कर्म में कामना विशेष में मोदक आदि द्रव्यों के हवन भी किये जाते हैं।

उस स्थान पर जहाँ हवन होता है, वह पूजा प्रदेश से पृथक् रहना चाहिये। यहाँ सूत्रोल्लिखित पुनरागत्य शब्द यही व्यक्त कर रहा है। पूजा देश में आकर महागणपति का तीन बार सन्तर्पण करना चाहिये। देवतर्पण के अनन्तर योग्य कुलाचार विशेषज्ञ उपासकों के साथ मपञ्चक अर्थात् पञ्चमकार का सेवन किया जाना चाहिये। पञ्चमकार का प्रयोग गुरु के निर्देश में होना चाहिये। स्वच्छन्द आचार कुलाचार नहीं होता। इसीलिये श्री भार्गव महोपाध्याय परशुराम को कुलाचार्य भी कहा गया है।

तदनन्तर महागणपति का उद्वासन करना चाहिये। उद्वासन शब्द लोक में जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसके विपरीत यहाँ स्वात्मसात् करने अर्थ में

प्रयुक्त किया गया है। बहिर्याग में बाहर उनकी पूजा सम्पन्न हो चुकी। अब स्वात्म में समाहित कर स्वयं गणपतिरूप बनकर दिव्य अनुभूतियों से भर जाना चाहिये। इस तरह व्यक्ति सिद्धसंकल्प हो जाता है। विघ्नों के विनाशक विघ्नेश्वर की प्रसन्नता और स्वात्म संविदुत्कर्ष के फलस्वरूप सुखपूर्वक विश्व में विहार कर सकता है। अन्त में समाप्तिपूर्वक कल्याण कामना के लिये 'इति शिवम्' इस मन्त्र रूप मङ्गल शब्द का प्रयोग सम्प्रदाय के अनुकूल है।

।। श्रीरामेश्वरकृत मुख्यांश सौभाग्योदयवृत्तिसहित
डॉ. परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य-समन्वित
श्रीपरशुरामकल्पसूत्र का महागणपतिक्रम नामक द्वितीय खण्ड परिपूर्ण ।।२।।

।। शुभं भूयात् ।।

श्रीक्रमः
श्रीललिताधिकारः
[तृतीयः खण्डः]

एवं श्रीललितोपास्त्यङ्गभूतं गणपत्युपासनमुक्त्वा श्रीपरदेवतायाः श्रीललितायाः क्रमं वक्तुमुपक्रमते

एवं गणपतिमिष्ट्वा विधूतसमस्तविघ्नव्यतिकरः शक्तिचक्रैकनायिकायाः श्रीललितायाः क्रममारभेत ।।१।।

एवमिति विघ्नव्यतिकर इत्यन्तेन ग्रन्थेन पूर्वं कञ्चित्कालं गणपत्याराधनं कृत्वा पश्चात् श्रीललितोपास्त्यारम्भ इति सूचितम्। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण इष्ट्वा उपास्य विधूता निरस्ताः समस्ताः सम्पूर्णा विघ्नानां प्रत्यूहव्यतिकराः सञ्जाता येन, विधूतसमस्तविघ्नव्यतिकर इति पूर्वोक्तफलस्यानुवादकम्। एवं चारम्भो नाम सङ्कल्पविशेषः। ललिताक्रममारभेत इत्यनेन यावज्जीवं वर्त्तिष्य इति सङ्कल्पः सिद्धः। तदङ्गं गणपत्याराधनम्।

गणपत्युपास्तिं सम्पाद्य सम्पन्नाधिकारस्ततः श्रीविद्योपास्तिं कुर्यात्। शक्तिचक्रैकनायिकायाः शक्तिचक्राणि श्रीचक्रावयवनवचक्राणां मध्ये त्रिकोणादीनि पञ्चचक्राणि। तदुक्तं ब्रह्माण्डपुराणे—

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः।।
त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा ।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च ।।

तेषामेका मुख्या नायिका या तस्याः। यद्वा शक्तयः सधवाः स्त्रियस्तासां चक्रं समूहस्तेषां मध्ये एका अद्वितीया चेदं नायिका जगन्नियन्त्री। यद्वा शक्तयः श्यामा-वार्त्ताली-प्रभृतयः। ता एव चक्रं परिवारस्तासामेका नायिका, अद्वितीयनियन्त्री। एतेन श्रीविद्यायाः प्राधान्यं सूचितम्। शक्तिचक्रनायिकेति ललिताया गुणः। इत्थं च यत्र देवतानामकीर्त्तनमावश्यकं तत्र गुणविशिष्टस्यैव कीर्तनम्। यथा सन्ध्या-जपादौ शक्तिचक्रैकनायिकायाः श्रीललितायाः प्रीतये अमुकं कर्म करिष्य इति। क्रमं पूजामुपासनां वाऽऽरभेत। ललितं शृङ्गारभावजन्यः क्रियाविशेषः, तद्वती ललिता ।।१।।

एवं से विघ्नव्यतिकर पर्यन्त सूत्रवाक्य द्वारा यह स्पष्ट होता है कि, गणपति की आराधनासिद्धि के उपरान्त ही परमाम्बा श्रीललिताम्बा की उपासना का आरम्भ करना चाहिये। इस प्रकार गणपति की उपासना पूरी करने से उपासक के समस्त विघ्नसंघात स्वतः निरस्त और इष्ट के अनुग्रह से ध्वस्त हो जाते हैं। ऐसा उपासक निर्विघ्न श्रीविद्या उपासना में संलग्न होकर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार के आरम्भ में संकल्प विशेष का स्वरूप भी दृष्टिगोचर होता है।

अन्त में ललिता-क्रम का आरम्भ करे, यह सूत्रकार का निर्देश है। इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि, उपासक यह संकल्प ले कि, मैं आजीवन माँ की उपासना के लिये स्वात्म को अर्पित कर रहा हूँ। वास्तविकता यह है कि, गणपति की आराधना मातृ-उपासना का ही एक अंग है।

भगवान् श्री महागणपति की उपासना का यह सुखप्रद परिणाम है कि, उपासक श्रीललिताम्बा की उपासना का अधिकारी बन जाता है। सम्पन्नाधिकार उपासक ही माँ की उपासना में प्रवृत्त हो, यही उचित है। माँ शक्तिचक्र की एकमात्र नायिका है। शक्तिचक्र शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिये। श्रीचक्र के अवयव रूप नव चक्र प्रसिद्ध हैं। उनके मध्य में त्रिकोण आदि पाँच चक्र हैं। यह सभी उपासक जानते हैं। इस सम्बन्ध में श्री ब्रह्माण्ड-पुराण में स्पष्ट उल्लेख है कि—

"चार शिव-चक्र' 'पाँच शक्ति-चक्र' और नव चक्रों से निर्मित श्रीचक्र शिव और शक्ति का सामरस्यमय साकारविग्रह है। इसमें त्रिकोण, अष्टकोण, द्वादश कोण, पाँच शक्तिचक्र रूप चतुर्दशार श्रीचक्र सर्वातिशायित्वेन वर्त्तमान उपास्य चक्र है।"

शक्तिचक्रैकनायिका शब्द श्लिष्ट अर्थों का उत्स है। इसके कुछ अर्थ इस प्रकार किये गये हैं—

१. वह उक्त चक्रों की एकमात्र मुख्य नायिका अर्थात् सर्वनियामिका नियन्त्री शक्ति है।

२. शक्ति-चक्र अर्थात् सधवा स्त्रियों का समूह। उनके मध्य एका अर्थात् अद्वितीया जयन्नियन्त्री माँ श्रीललिताम्बा।

३. सर्वस्वरूपा सर्वेश्वरी सर्वशक्ति-समन्विता सर्वकार्य-निर्वाहिका शक्तियों की एकमात्र प्रेरयित्री माँ जगदीश्वरी ललिता।

४. श्यामा, वार्ताली आदि अङ्गभूत शक्तियों के चक्र रूप परिवार की एकमात्र संचालिका।

इन अर्थों में माँ ललिताम्बा श्रीविद्या की प्रधानता का ही द्योतन हो रहा है। इससे एक और संकेत मिलता है कि, जब किसी प्रसङ्ग में देवता का नाम लिया जाय, तो उसके वैशिष्ट्य-बोधक आदरयुक्त विशेषणों के साथ ही लिया जाय। जैसे सन्ध्या या जप के संकल्प में 'शक्तिचक्रैकनायिकाया: श्रीललिताम्बाया आराधनमहं करिष्ये' इस प्रकार का योजन करना उचित है। इसी तरह इस क्रम को आरम्भ करना चाहिये। यह वाक्य क्रमार्थक उपासना का ही अध्याहार करता है। ललित शब्द का अर्थ शृङ्गारभाव रूप क्रियाविशेष माना जाता है। उसी विशेषता से पूरित माँ श्रीललिताम्बा भी हैं।।१।।

ततो गुरुध्यानादीनुपदिशति सूत्रद्वयेन

ब्राह्मे मुहूर्त्ते ब्राह्मणो मुक्तस्वापः पापविलापाय परमशिवरूपं गुरुमभिमृश्य ।।२।।

ब्राह्मो मुहूर्त्तः, दिवसः षष्टिघटिकात्मकं त्रिंशता विभाज्य अष्टाविंशो मुहूर्त्तः स ब्राह्मः। तदुक्तं देवीभागवते—

अष्टाविंशतिमो यश्च मुहूर्त्तो ब्रह्मनामकः।
तस्मिन्नुत्थाय मतिमाँश्चिन्तयेदात्मनो हितम् ।।

तस्मिन् ब्राह्मणो मुक्तस्वापो निद्रां त्यक्त्वा ईदृशकाल उत्थाय सर्वपाप-क्षयाय शिव एव गुरुः, न ततोऽन्य इति अभिमृश्य मनसि ध्यात्वा ।।२।।

६० घड़ियों का एक दिन माना जाता है। इसमें ३० भाग करने पर जो अट्ठाइसवाँ भाग आता है, उसे ब्राह्म मुहूर्त्त कहते हैं। देवीभागवत में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, सूर्योदय से सूर्योदय तक के ६० घटी के काल को तीस भागों में बाँटने पर अट्ठाइसवाँ मुहूर्त्त महत्त्वपूर्ण होता है। उसे 'ब्राह्म' नाम से जानते हैं। वही ब्राह्म मुहूर्त्त है। इसमें उठकर सुबुद्ध पुरुष आत्मकल्याण अर्थात् निःश्रेयस् का चिन्तन करे।

उस अतिविशिष्ट मुहूर्त्त में नींद से जागकर बिस्तर छोड़ दें। बाह्यान्तर शुद्धि कर समस्त जन्मजन्मान्तरीय दुरितों के क्षय के लिये तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये। एतदर्थ सर्वप्रथम 'शिव ही मेरे गुरुदेव हैं। उनके अतिरिक्त नहीं' इस आन्तर चिन्तन में रत होना चाहिये। उसे ही अभिमर्श कहते हैं। विमर्श का ही यह पहला परामर्श है। ध्यान की यह एक मानस-प्रक्रिया है। श्रद्धा का यहाँ से उद्रेक होने लगता है।।२।।

मूलादिविधिपर्यन्तं तडित्कोटिकडारां तरुण-दिवाकरपिञ्जरां ज्वलन्तीं मूलसंविदं ध्यात्वा तद्रश्मिनिहतकश्मलजालः कादिं हादिं वा मूलविद्यां मनसा दशवारमावर्त्य ।।३।।

मूलमाधारचक्रं तदादि तदारभ्य विधिबलिपर्यन्तम्। एतस्य ज्वलन्ती-मित्यनेनान्वयः। तडित्कोटयो विद्युत्कोटयस्तद्वत् कडारां कपिशां, तरुण-दिवाकरो नभोमध्यवर्ती सूर्यस्तद्वत् पिञ्जरामत एव ज्वलन्तीं मूलसंविदं निर्विषयचितं ध्यात्वा तद्रश्मिभिर्निहतानि परिहृतानि कश्मलानां जालानि समूहा येन ईदृशः सन् कादिं कामोपास्तीहादिं लोपामुद्रोपासितां वा विद्यां पञ्चदशीं मनसा क्रमविशिष्टान् वर्णान् ध्यात्वा।।३।।

मूलाधार चक्र से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त संविद् तत्त्वरूपा मूल निर्विकल्पिका चितिशक्ति जीवन के वरदान रूप से शरीर में शाश्वत व्याप्त है। उसकी भूरे रंग से भाव्यमान आभा करोड़ों की संख्या में एक साथ कौंधने वाली बिजलियों की कपिशवर्णी शोभा के समान प्रकाशमान रहती है। आकाशमध्यवर्त्ती ज्येष्ठ के तपते आदित्य की दीप्ति के समान पिञ्जरवर्णी संवित्ति देवी अपनी दिव्यता से शाश्वत उद्दीप्त रहती है। उसका ध्यान श्रीविद्या का उपासक ब्राह्म मुहूर्त्त में

करे, यह सूत्रकार कह रहे हैं। इस ध्यान का सुपरिणाम साधक को तत्काल प्राप्त हो जाता है। संवित्ति देवी की दिव्य रश्मियों की आन्तर आग से उपासक के सारे कश्मल-जाल जल जाते हैं। अब वह तप्त दिव्य कञ्चन की तरह दिव्य बन जाता है। इस दशा में अब वह काम द्वारा उपासना से सिद्ध कादि अथवा लोपामुद्रा द्वारा उपासित हादि नामक मूलविद्या का मन ही मन दश बार आवर्त्तन करे। यहाँ सूत्रकार ने मुख्य रूप से अनिवार्य करणीय कृत्य का ही निर्देश दिया है। इस प्रसङ्ग में मुद्राओं से पादुका-पूजन, अनेकानेक श्लोक-पाठ, दन्तधावन और गण्डूष मन्त्र आदि को त्याज्य ही सिद्ध कर दिया गया है।।३।।

ततः स्नानसन्ध्ये वदति

स्नानकर्मणि प्राप्ते मूलेन दत्त्वा त्रिः सलिलाञ्जलीन् त्रिस्तदभिमन्त्रिताः पीत्वापस्त्रिस्सन्तर्प्य त्रिः प्रोक्ष्यात्मानं परिधाय वाससी हां हीं हूं सः इत्युक्त्वा मार्त्तण्डभैरवाय प्रकाशशक्तिसहिताय स्वाहेति त्रिः सवित्रे दत्त्वार्घ्यः ।।४।।

स्नानकर्मणि प्राप्ते स्नानावसरे। एतेन वैदिक-स्नानोत्तरत्वम् अस्य सूचितम्। मूलेन मूलमुच्चारयन्नित्यर्थः। दत्त्वा स्वशिरसि त्रिः सलिलाञ्जलीन्, अत्र प्रत्यञ्जलि मन्त्रावृत्तिः। त्रिः तदभिमन्त्रिता मूलाभिमन्त्रिता आपः पीत्वा। मूलत्रिवाराभिमन्त्रितानाम् अपां सकृदेव प्राशनम्। त्रिः सन्तर्प्य, मूलमुच्चार्य शक्तिचक्रैकनायिकां श्रीललितां तर्पयामीति मन्त्रस्य सकृत्पाठः। त्रिः आत्मानं (मूलेन) सम्प्रोक्ष्य, वाससी परिधाय, वस्त्रपरिधानं स्मृतिप्राप्तमनूद्यते। 'हां हीं हूं सः' इत्युक्त्वा स्वाहान्तो अर्घ्यदानमन्त्रः। सवित्रे दत्तार्घ्यः।।४।।

स्नान उपासना का एक अंग है। इससे शारीरिक सुचिता की प्राप्ति होती है। स्नान के अवसर पर कुछ विशेष करणीय कृत्य के निर्देश यहाँ दिये गये हैं, वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. सर्वप्रथम वैदिक विधि से स्नान करने के उपरान्त ही तान्त्रिक विधि से स्नान करना त्रैवर्णिक का धर्म है।

२. मूल श्रीविद्या के मन्त्र से तीन बार प्रत्यञ्जलि मन्त्र पढ़कर शिर पर डालना चाहिये।

३. मूलाभिमन्त्रित (मूल से तीन बार अभिमन्त्रित) पेय जल पीना चाहिये।

४. माँ श्रीललिताम्बा का (मूलमन्त्र पढ़ते हुए) 'शक्तिचक्रैकनायिकां श्रीललितां तर्पयामि' इस मन्त्र से तीन बार तर्पण करना चाहिये।

५. मूल मन्त्र से ही तीन बार स्वात्म का संप्रोक्षण करना चाहिये। इससे शरीर में दिव्यता का आधान हो जाता है।

६. इतनी प्रक्रिया पूरी कर वस्त्र का परिधान कर्म पूरा होता है। कपड़ा पहनने से स्नान की प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

७. इसके बाद सूर्य को तीन बार अर्घ्य देना चाहिये। अर्घ्य का मन्त्र सूत्र में निर्दिष्ट है। वह इस प्रकार है—

'हां हीं हूं सः मार्त्तण्डभैरवाय प्रकाशसहिताय स्वाहा'। इस मन्त्र से अर्घ्य देकर मार्त्तण्डभैरव रूप सूर्य का प्रणाम करना चाहिये। इस तरह स्नान की प्रक्रिया पूरी कर उपासक अब नयी चेतना प्राप्त कर लेता है। एतदुपरान्त उपासना के आगे के अंगों का विधान उसे पूरा करना चाहिये।।४।।

ततः श्रीचक्रभावनं, सवितृमण्डले देव्यै अर्घ्यदानं च विधीयते

तन्मण्डलमध्ये नवयोनिचक्रमनुचिन्त्य 'वाचमुच्चार्य त्रिपुर-सुन्दरि विद्महे काममुच्चार्य पीठकामिनि धीमहि शक्तिमुच्चार्य तन्नः क्लिन्ना प्रचोदयात्' इति त्रिर्महेश्यै दत्तार्घ्यः शतमष्टोत्तरमामृश्य मनु-मौनमालम्ब्य ।।५।।

तस्य सवितृमण्डलस्य मध्ये नवयोनयः चतस्रः पराङ्मुखा पञ्च स्वाभिमुखा योनयो यस्मिन् तद् नवयोनिचक्रं श्रीचक्रमित्यर्थः। वाचं प्रथमकूटम्। प्रथमकूटानन्तरं विद्महे इत्यन्तं पठेत्। ततः कामं मध्यकूटं तदुच्चार्य 'पीठकामिनि धीमहि' इति पठेत्। शक्तिं शक्तिकूटं तृतीयमुच्चार्य पठित्वा ततः प्रचोदयादित्यन्तं पठेत्। इदं त्रिपुरागायत्रीत्यप्युच्यते। आमृश्य जपित्वा। शेषं स्पष्टम्।।५।।

सूर्य-मण्डल जो देखने में वर्त्तुलाकार प्रतीत होता है, उसके मध्य अर्थात् केन्द्र भाग में श्रीचक्र का ध्यान करना चाहिये। श्रीचक्र को ही नवयोनिचक्र,

कामिकागम और सुन्दरीहृदय भी कहते हैं। इसके चार त्रिकोण पराङ्मुख और ५ त्रिकोण स्वाभिमुख रहते हैं। इस आधार पर भी यह नौ त्रिकोणों वाला चक्र श्रीचक्र ही है।

श्रीचक्र में विराजमान राजराजेश्वरी महामाहेश्वरी को तीन अर्घ्य समर्पित करना चाहिये। इस अर्घ्य मन्त्र को त्रिपुरा गायत्री कहते हैं। इसमें तीन कूट बीज प्रयुक्त होते हैं। प्रथम वाग्भवकूट का उच्चारण कर 'त्रिपुरसुन्दर्यै विद्महे' पुनः कामराजकूट कहकर 'पीठकामिनि धीमहि' और तुरत शक्तिबीज बोलकर 'तन्नः क्लिन्ना प्रचोदयात्' कहना चाहिये। यही त्रिपुरा गायत्री मन्त्र है। अर्घ्य के बाद अष्टोत्तरशत जप करे और मौन होकर ध्यानस्थ हो जाय ।।५।।

ततो यागमन्दिरप्रवेशादीन् वदति

यागमन्दिरं गत्त्वा क्लृप्ताकल्पस्सङ्कल्पाकल्पो वा पीठमनुना आसने समुपविष्टः ।।६।।

यागमन्दिरं पूजा-स्थानं गत्वा एतेन सन्ध्या बहिर्जले नद्यादाविति सिद्धम्। क्लृप्ता धृता आकल्पा भूषणानि येनेदृशः। इदं भूषणधारणं पूजाकर्त्तुरङ्गम्। सङ्कल्पेन मानसक्रियया कल्पित आकल्पो येनेदृशो वा। पीठमनुनेति पूर्वं व्याख्यातम्। समुपविष्ट इत्यत्र आसमाप्ति एकासनेन स्थेयम् इति ज्ञापयति ।।६।।

यागमन्दिर पूजा-स्थान के लिये प्रयुक्त शब्द है। पूजा-स्थान में जाने से पहले शिष्य को सन्ध्या करनी आवश्यक है। सन्ध्या कहाँ की जाय, इसका निर्देश यहाँ नहीं है। इससे स्पष्ट है कि, वह नदी, जलाशय आदि क्षेत्र में कहीं अन्यत्र कर लेनी चाहिये। पूजा मन्दिर में मज-धज कर जाना चाहिये। श्रीमन्त को विहित आभूषण से भूषित होना आवश्यक है। अथवा धनाभाव की अवस्था में मानस प्रक्रिया द्वारा अपने को सुमन बनाकर पूजा में संलग्न होना चाहिये। पीठमन्त्र के विषय में पहले कहा जा चुका है। पूजा में एक आसन में बैठना चाहिये। सम् उपसर्ग से यही ध्वनन हो रहा है।।६।।

एतत्सपर्योपयोगिनीं त्रितारीमाह

त्रितारीमुच्चार्य रक्तद्वादशशक्तियुक्ताय दीपनाथाय नम इति भूमौ मुञ्चेत् पुष्पाञ्जलिम् ।।७।।

त्रितारीं वक्ष्यमाणामुक्त्वा नम इत्यन्तमुच्चरेत्। अनेन भूमौ पुष्पाञ्जलिं दद्यात्। पुष्पाणामञ्जलिगृहीतानां प्रचयः पुष्पाञ्जलिः।।७।।

त्रितारी तीन शाक्त ओङ्कारवान् बीज मन्त्र हैं। उनकी यथावसर चर्चा की गयी है। इन तीन शाक्त बीजों के उच्चारण के बाद नमः तक का उच्चारण करना चाहिये। अर्थात् त्रितारी + नमः। यह मन्त्र दीपनाथ की प्रतिष्ठा के संवर्धन में प्रयुक्त होता है। इस मन्त्र के कहने के बाद अञ्जलि में रखे पुष्पचय का भूमि में परित्याग कर देना चाहिये। अगस्त्य-संहिता नामक महान् ग्रन्थ में लिखा गया है कि, दोनों बँधी अञ्जलियों के मध्य में जो फूल रखे हुए हैं, वे पुष्पाञ्जलि के पुष्प कहलाते हैं।।७।।

सर्वमन्त्रोपयुक्तां काञ्चित् त्रितारी-परिभाषामाह

सर्वेषां मन्त्राणामादौ त्रितारीसंयोगः। त्रितारी वाङ्माया-कमलाः ।।८।।

सर्वेषामित्यत्र सर्वशब्दस्य प्रकरणेन श्रीविद्योपास्त्यङ्गभूतानामेतदुत्तर-पठितानाम् इत्यर्थः। तेनैतत्पूर्वमन्त्रेषु त्रितारीयोगो नास्ति। आदौ इत्यनेनान्त-व्यावृत्तिः। योग इति वक्तव्ये समित्युपसर्गेण त्रितार्युच्चारः स्पष्टमभूत् त्रितारी वाक् सबिन्दुः द्वादशः स्वरः। माया तुरीयोष्मसहितद्वितीयान्तःस्थोत्तरसबिन्दु-स्तुर्यस्वरः। कमला प्रथमोष्मसहितद्वितीयान्तःस्थोपरि सबिन्दुस्तुर्यस्वरः।।८।।

श्रीविद्योपासना के अङ्ग और इस सूत्र के बाद आये हुये मन्त्रों में त्रितारी बीजमन्त्रों का योग अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। अर्थात् पहले कहे गये मन्त्रों में त्रितारी संयोग आवश्यक नहीं माना जाता। सम् उपसर्ग के आधार पर त्रितारी बीजों के व्यवहार में सावधान रहना चाहिये। त्रुटि या स्खलिति होने पर पुनः स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये। त्रितारी के बीज मन्त्रों का उद्धार इस प्रकार किया जाता है—

१. वाक्— बारहवाँ स्वर + बिन्दु।

२. माया— चतुर्थ ऊष्मवर्ण + द्वितीय अन्तःस्थ वर्ण (र्) + चतुर्थ स्वर (ई) + बिन्दु।

३. कमला— प्रथम ऊष्मवर्ण (श्) + द्वितीय अन्तःस्थ (र्) + तुरीय स्वर (ई) + बिन्दु इन संकेतों से निष्पन्न बीज मन्त्रों १. ऐं, २. ह्रीं और ३. श्रीं मन्त्रों को त्रितारी कहते हैं। तार ओङ्कार होता है। शाक्त सम्प्रदाय के ये तीनों तार अर्थात् ओङ्कार ही माने जाते हैं। पहला वाग्भव बीज, दूसरा माया बीज और तीसरा लक्ष्मी बीज माना जाता है।।८।।

इतः परं श्रीचक्रस्वरूपं तत्साधनद्रव्यं चाह

पुरतः पञ्चशक्तिचतुःश्रीकण्ठमेलनरूपं भूसदनत्रयवलित्रय-भूपपत्रदिक्पत्रभुवन-भुवनारद्रुहिणारविधिकोणदिक्कोण-त्रिकोण-बिन्दुचक्रमयं महाचक्रराजं सिन्दूरकुङ्कुमलिखितं चामीकर-कलधौत-पञ्चलोहरत्नस्फटिकाद्युत्कीर्णं वा निवेश्य ।।९।।

पुरत इत्यस्य निवेश्येत्यन्तेन साकमन्वयः पञ्चशक्तयः शक्तिचक्राणि। चतुः श्रीकण्ठाः चत्वारि शिवचक्राणि। एषां मेलनम् अभिन्नस्वरूपम्। भूसदनत्रयं परितश्चतुरस्ररेखात्रयम्। वलित्रयं वृत्तत्रयम्। भूपपत्रं भूपा इति षोडशसङ्ख्यायाः सङ्केतः। षोडशपत्राणि यस्मिंस्तत्। दिक्पत्रं दिगित्यष्ट-सङ्ख्या तावन्ति पत्राणि यस्मिंस्तत्। भुवनारं भुवनमिति चतुर्दशसङ्ख्या। तावदरं तावत्कोणम्। द्रुहिणारं दशकोणम्। विधिकोणम् इति विख्यातप्रायम्। दिक्कोणं त्रिकोणं, बिन्दुचक्रमयम्। मयमित्यनेन समष्ट्येकरूपत्वं ज्ञापितम्। महाचक्रराजं श्रीचक्रस्य नाम सिन्दूरं कुङ्कुमं लिखितम्। चामीकरं सुवर्णं, कलधौतं रौप्यम्, पञ्चलोहं रौप्यं, सुर्वणं, ताम्रम्, लौहम्, पित्तलम्) रत्नानि मरकतादीनि स्फटिकाद्युत्कीर्णं पूर्वोक्तानुसारं निर्मितम् ईदृशं चक्रराजं पुरतो निवेश्य ।।९।।

महाचक्रराज श्रीचक्र को कहते हैं। श्रीचक्र में ही शक्तिचक्रैकनायिका श्रीललिताम्बा की उपासना की जाती है। शक्तिचक्र और शिवचक्र दोनों श्रीचक्र में शाश्वत उल्लसित हैं। सूत्रकार ने सरलरूप से सबके स्वरूप का निर्देश दिया है। इसे पूजा-क्रम में नित्य सूत्रानुसार निर्माण करने का भी संकेत है और पञ्चलौह या स्फटिकादि पर बने सिद्ध यन्त्रों पर भी पूजा का आदेश यह सूत्र देता है। उसके स्वरूप की रचना की सूचना श्रीचक्रस्थित निम्न बिन्दुओं के अनुसार समझी जा सकती है—

१. पाँच शक्तिचक्रों और २. चार श्रीकण्ठ-चक्रों का मेलन, ३. भूसदनत्रय, ४. वलित्रय, ५. भूपपत्र, ६. दिक्पत्र, ७. भुवनार, ८. द्रुहिणार, ९. विधिकोण, १०. दिक्कोण, ११. त्रिकोण और १२. बिन्दु-चक्र।

इन बारह बिन्दुओं का जानकार श्रीचक्र का निर्माण कर लेता है। जहाँ सूत्रकार ने इसे महाचक्रराज की संज्ञा से विभूषित किया है, वहीं ब्रह्माण्डपुराण इसे शिव और शिवा श्रीललिताम्बा का सामरस्यमय विग्रह कहता है। संक्षेप में इसे चार भागों में भी बाँटकर समझ सकते हैं—१. चार शिवचक्र, २. पाँच शक्तिचक्र ३. नौ चक्र (भूपुर, तीन वलय, सोलह दल, दिक् (आठ) दल, भुवनार (चौदह कोण), द्रुहिण (दश) कोण, विधि कोण, पुनः दिक् (आठ) कोण, त्रिकोण) और चौथा भाग बिन्दु-चक्र। १-२ चार शिवचक्र और पाँच शक्तिचक्रों को मिलाकर नव-योनि-चक्र भी कहते हैं। ३-नौ चक्र, चार अधोमुख और पाँच ऊर्ध्वमुख त्रिकोण मिलकर नौ होते हैं—

१. भूपुर— चार द्वारों से शोभित तीन भूपुर निर्मित किये जाते हैं।

२. तीन वलय— तीन वृत्तरेखायें बनायी जाती हैं।

३. भूप— सोलह और पत्र अर्थात् दल। इसके अनुसार षोडशदल कमल का निर्माण।

४. दिक्पत्र— (दिक् = आठ) अर्थात् अष्टदल कमल।

५. भुवनार— भुवन अर्थात् चौदह और अर अर्थात् कोण इसके अनुसार चौदह कोण बनते हैं।

६. द्रुहिण अर्थात् प्रजापति के आधार पर दश संख्या अर्थात् दशार कोण रचना भी आवश्यक है।

७. विधि शब्द भी दश अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

८. दिक् शब्द चौथे बिन्दु पर व्याख्यात है।

९. त्रिकोण। ये नौ चक्र श्रीचक्र के विशिष्ट अङ्ग हैं।

अन्तिम चक्र बिन्दुमय चक्र है। यह केन्द्र में शाश्वत उल्लसित रहता है। मह-धातु उत्सव और पूजा परक है। इस आधार पर ही श्रीचक्र उत्सवमय और चरम अर्चनीय महाराज चक्र है। सिन्दूर और कुङ्कुम दोनों को मिलाकर अथवा

भूमि पर लिखते समय कुङ्कुम से और अन्यत्र सिन्दूर से भी लिखते हैं। इतना वर्णन नित्य निर्मातव्य श्रीचक्र का है। सिद्ध यन्त्र सोने, चाँदी, ताँबा, पीतल और लोह आदि तथा रत्न और स्फटिक पर भी उत्कीर्ण होते हैं। ऐसे चक्र को पूजा के समय आगे रखना अनिवार्यत: आवश्यक है।।९।।

ततो मन्दिराद्यर्चनक्रममाह

तत्र महाचक्रे अमृताम्भोनिधये रत्नद्वीपाय नानावृक्षमहोद्यानाय कल्पवृक्षवाटिकायै, सन्तानवाटिकायै हरिचन्दनवाटिकायै मन्दार-वाटिकायै पारिजातवाटिकायै कदम्बवाटिकायै पुष्परागप्रकाराय पद्मरागरत्नप्रकाराय, गोमेधरत्नप्रकाराय वज्ररत्नप्राकाराय वैदूर्य-रत्नप्राकाराय इन्द्रनीलरत्नप्राकाराय मुक्तारत्नप्राकाराय मरकत-रत्नप्राकाराय विद्रुमरत्नप्राकाराय माणिक्यमण्डपाय सहस्र-स्तम्भ-मण्डपाय अमृतवापिकायै आनन्दवापिकायै विमर्शवापिकायै बालातपोद्धाराय चन्द्रिकोद्धाराय महाशृङ्गारपरिघायै महापद्माटव्यै चिन्तामणिगृहराजाय पूर्वाम्नायमयपूर्वद्वाराय, दक्षिणाम्नायमय-दक्षिणद्वाराय, पश्चिमाम्नायमयपश्चिमद्वारायोत्तराम्नायमयोत्तरद्वाराय रत्नप्रदीपवलयाय, मणिमयमहासिंहासनाय ब्रह्ममयैकमञ्चपादाय विष्णुमयैकमञ्चपादाय रुद्रमयैकमञ्चपादाय ईश्वरमयैकमञ्चपादाय सदाशिवमयैकमञ्चफलकाय हंसतूलतल्पाय हंसतूलमहोपधानाय कौस्तुभास्तरणाय महावितानकाय महाजवनिकायै नम इति चतुश्चत्वारिंशन्मन्त्रैस्तत्तदखिलं भावयित्वा अर्चयित्वा ।।१०।।

तत्र यागमन्दिरे स्थिते महाचक्रे। अमृताम्भोनिधि: अमृतसमुद्र:। रत्नमयो द्वीपो वासयोग्यो देश उन्नतभूमिरिति यावत्। उद्यानं क्रीडावनं, वृक्षवाटिका उपवनम्। कल्पादीनि सुरतरुनामानि। पुष्परागादि-विद्रुमान्ता रत्नभेदा:। तेषां प्राकार: परितो गृहाद्बहिर्निर्मितभित्ति:। माणिक्यं पद्मराग: तस्य मण्डप:। वापी दीर्घिका। उद्गारो लोहितवर्णं समाह्लादकं वस्तु। रत्नमया: प्रदीपास्तेषां वलयम्। हंसतूलं पक्षिविशेषस्य पक्षाध:स्थितरोममालाऽऽकृति-

सूक्ष्मपक्षाः। महोपधानं कौस्तुभास्तरणं रक्तवर्णं तल्पोपरि तन्मालिन्याभावार्थं सूक्ष्मं वस्त्रं पात्यते। वितानम् ऊर्ध्वदेशान्मृत्तिकादिपात-प्रतिबन्धकमुपरि बध्यमानं वस्त्रम्। एवं चतुर्थ्यन्तैः सर्वैर्नमोयोगः। एतैश्चतुश्चत्वारिंशन्मन्त्रै-र्मन्त्रवाच्यानर्थान् आदौ श्रीचक्रे परिभाव्य तेषां पूजनं कुर्यात्। एकस्य ध्यानं ततोऽर्चनं ततोऽपरस्य ध्यानं, ततस्तस्यार्चनम् इति क्रमः। तत्तदिति पदस्वारस्यात् लब्धः ।।१०।।

तत्र अव्यय का प्रयोग यहाँ यागमन्दिर अर्थ में हुआ है। उसमें ही यह महाचक्र प्रतिष्ठापित है। उसमें ४४ चतुर्थ्यन्त तत्त्व पदार्थ विद्यमान हैं। उन सबके साथ नमः अव्यय का योग आवश्यक है। इसके योग से सभी मन्त्रवत् हो जाते हैं। इन ४४ मन्त्रों से चौवालिस तत्त्व पदार्थों और उनके अस्तित्व का भावन करते हुए श्रीललिताम्बा के अङ्गभूत होने के कारण इनकी पूजा भी करनी चाहिये। इन चौवालिस के स्वरूपों का क्रमशः अर्थसहित भावन अनिवार्यतः आवश्यक है। जैसे अमृताम्भोनिधि से अमृत समुद्र का भावन वहाँ होता है, उसी तरह रत्नद्वीप से रत्नों का भी भावन होता है, अर्थात् अत्यन्त रमणीय वह वासभूमि है। आकर्षक तरुवरों से सुशोभित है। कल्पवृक्ष, सन्तान, हरिचन्दन और मन्दार चारों कल्पवृक्ष के विविध नाम हैं। वहाँ सभी हैं। उनकी पूजा की आवश्यकता है। पुष्पराग से लेकर विद्रुम तक रत्नों के भेद हैं। मण्डप तो माणिक्य का ही बना है। उसमें एकसहस्र स्तम्भ हैं। अमृत की उसमें वापी की भी प्रतिष्ठा है। इसके अतिरिक्त आनन्द और विमर्श की बावलियाँ भी उसमें लहराती हैं। बालातप, चन्द्रिका आदि के उद्गार रूप लालवर्ण के आह्लादक पदार्थ भी नमस्कार के योग्य हैं। महाशृङ्गार-परिघा, महापद्माटवी चिन्तामणिमन्दिर पूर्वाम्नायरूप-पूर्वद्वार, दक्षिणाम्नायमय दक्षिण-द्वार, पश्चिमाम्नायमय पश्चिमद्वार और उत्तराम्नायमय उत्तर-द्वार इसमें उल्लिखित हैं। चारों ओर रत्न-प्रदीपों के वलय हैं। मणिमय सिंहासन हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिवमय मञ्चफलक हैं। हंस की पाँखों के भीतरी रोमजाल से निर्मित रूई की उपधान है। हंसतूल का ही मसनद विद्यमान है। कौस्तुभ के समान पाटलिमा-मण्डित आस्तरणरूप चादर है। महावितान तना हुआ है। सुन्दर-सा पर्दा है। ये सभी पदार्थ आराधक और आराध्य के तादात्म्य के साधक हैं। अतः समान रूप से

पूज्य एवं अर्चनीय हैं। श्रीचक्र में इन मन्त्रों से मन्त्रार्थमय आराध्य के अङ्गभूत तत्त्वों का भावन और तत्पश्चात् आराध्य का अर्चन भी आवश्यक है।।१०।।

गन्धपुष्पाक्षतादिस्थापनस्थानं दीपदानं चक्रार्चनं चाह

गन्धपुष्पाक्षतादींश्च दक्षिणभागे दीपानभितो दत्त्वा मूलेन चक्रमभ्यर्च्य मूलत्रिखण्डैः प्रथमस्त्र्यस्त्रे ।।११।।

अत्र दानं न देवतोद्देशेन त्यागः, अपि तु पूजासामग्र्या एकत्र सम्पादनम्। दीपानामभितः पार्श्वद्वये दानं स्थापनम्। चक्रं नवचक्रात्मकं समष्टिचक्रम्। मूलेन पञ्चदश्या अभ्यर्च्य। अत्र पुष्पाक्षतक्षेपणमेवाभ्यर्चनम्। त्रिखण्डैर्वाग्भवकामराजशक्तिभिः। प्रथमं चक्रनिर्माणसमये प्रथमस्य चक्रस्य त्रीणि यान्यस्राणि तानि। द्विगुत्वादेकवद्भावः। क्रमस्यानुक्तत्वात्। स्वाग्रादि-प्रादक्षिण्येन ।।११।।

दत्त्वा क्रिया में दान करना अर्थ निहित होता है। दान का सामान्य अर्थ देवता के उद्देश्य से वस्तु या अर्थ आदि का त्याग माना जाता है। उसमें अपने अधिकार का समर्पण भी निहित होता है। यहाँ पर दान क्रिया का यह अर्थ नहीं है, अपितु पूजा-सामग्री का एकत्र सम्पादन है। इससे पूजन में सौविध्य होता है। यही बात दीप के विषय में भी लागू होती है। चारों ओर सजाकर या दोनों पार्श्व में ही दीप रखने से पूजागृह प्रकाशमान रहता है और पूजा सुचारु रूप से सम्पन्न होती है।

श्रीचक्र एक समष्टि चक्र है। इसमें नवचक्र होते हैं। यह सभी आराधक जानते हैं। इसमें पहला चक्र केन्द्रीय चक्र होता है। चक्र त्रिकोणात्मक होते हैं। पहला चक्र भी त्रिकोणात्मक है। इसके तीनों कोणों की पूजा करनी है। सूत्र में चक्रम् में एकवचनान्त प्रयोग द्विगु समास के आधार पर किया गया है। तीनों कोणों की पूजा मूल विद्या से करनी होती है। मूलविद्या पञ्चदशी को कहते हैं। मूलविद्या से त्रिकोण पूजन करना आवश्यक है। यहाँ अभ्यर्चन का अर्थ पुष्प, अक्षत या कुङ्कुम आदि का प्रक्षेपण करना ही अभिप्रेत माना जाता है। प्रथम त्रिकोण के तीनों कोनों में मूल में प्रयुक्त त्रिखण्डों अर्थात् वाग्भव बीज,

कामराज और शक्तिबीजों का प्रादक्षिण्येन प्रयोग होना चाहिये। जहाँ क्रम नहीं उक्त होता है, वहाँ स्वाग्रप्रादक्षिण्य क्रम ही न्याय्य होता है।।११।।

ततः शोषणादीनात्मशुद्धिहेतूनाह

वाय्वग्निसलिलवर्णयुक्प्राणायामैः शोषणं सन्दहनमाप्लावनं च विधाय ।।१२।।

वायुवर्णः यं, अग्निवर्णः रं, सलिलवर्णः वं, वायौ शोषकताशक्तिः। अतस्तेन शोषणम्। एवमेव अग्निवर्णेन संदहनं, सलिलवर्णेन आप्लावनं च विधाय। चकारात् पृथ्वीबीजेन काठिन्यसम्पादनं च विधाय। वर्णयुक्प्राणायामैरित्युक्त्या यमित्युच्चरन् प्राणानभितो नियच्छेत्। ततः शरीरशोषणं भावयेत् ।।१२।।

वायु, अग्नि और सलिल तत्त्वों के वर्ण-बीज निर्धारित हैं। वायुबीज 'यं' अग्निबीज 'रं' और वरुणबीज 'वं' माना जाता है। इन बीजों में तत्त्वों के सारे गुण, सारे बल और तदात्मक सर्व-भाव विद्यमान होते हैं। प्राणायाम करते समय वायुबीज से प्राण का नियन्त्रण, अग्निबीज से दोषराशि का भस्मीकरण और आप्लावन से उसे प्रक्षालित कर बाहर प्रक्षिप्त करना चाहिये। कुछ लोग आप्लावन का अर्थ पिण्डीकरण करते हैं और धराबीज से उसे सुखाते हैं।।१२।।

ततः प्राणायामविधिमाह

त्रिः प्राणानायम्य ।।१३।।

प्राणायामस्तु श्यामाप्रकरणे वक्ष्यमाणप्रकारेण ज्ञेयः ।।१३।।

श्यामा-प्रकरण जो अभी ललिता और ललितानवावरण-पूजा नामक चौथे और पाँचवें खण्डों के बाद वर्णन का विषय बनाया जायगा, उसी में प्राणायाम की भी चर्चा है। उसी के अनुसार सूत्रोद्दिष्ट तीन प्राणायाम करने चाहिये।।१३।।

तदुत्तरं विघ्नकृद्-भूतोत्सारणं कार्यमिति तदाह

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्त्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया।

इति वामपादपार्ष्णिघातकरास्फोटसमुदञ्चितवक्त्रस्तालत्रयं दत्त्वा देव्यहंभावयुक्तः स्वशरीरे वज्रकवचन्यासजालं विदधीत।।१४।।

'अपसर्पन्तु' इति मन्त्रेण पाष्ण्र्या पादपृष्ठभागेन भुवो घातः ताडनं, करयोः आस्फोटः संघर्षः। समुदञ्चितं तिर्य्यक्कृतं वक्त्रं मुखम्, एभिः सहेति शेषः। तालत्रयमधोमुखाभ्यां दक्षमध्यमातर्जनीभ्यां वामकरतले सशब्दं त्रिराघातः, तं दत्त्वा उत्पाद्य। अहम् उपास्यदेव्यभिन्न इति भावयित्वा। वज्र-कवचम् अभेद्यकवचरूपं न्यासजालं न्याससमूहं विदधीत ।।१४।।

सूत्र में पूरे श्लोक का पाठ कर दिया गया है। सूत्र की दृष्टि से यह विलक्षण अन्विति है। इस श्लोक के उच्चारण और पदाघात साथ ही कराघात से पृथ्वी के उस याग परिवेश के सभी विघ्नकर्त्ता भूत भाग जाते हैं। यह विधि-सम्मत उपदेश है। ऐसा भगवान् शंकर के आदेशानुसार होता है। विना उनकी आज्ञा के ये उनके गण हट भी कैसे सकते हैं?

यह श्लोक बोलकर भूतों का अपसारण करने की प्रथा वैदिक तथा तान्त्रिक दोनों पद्धतियों में अपनायी जाती है। इसके बाद बायें पैर की एड़ी से आघात करना चाहिये। इसी तरह दाहिने हाथ की मध्यमा और तर्जनी से वामकरतल पर तीन आघात करने से तीन-तीन अव्यक्त ध्वनि उत्पन्न करनी चाहिये। इस तरह शब्द का उत्पादन करते समय अपने मुख को पार्श्व की ओर वक्र कर फेर लेना चाहिये।

इसके बाद यह भावन करना चाहिये कि, मैं अपनी आराध्या माँ से तादात्म्य भाव से अवस्थित हूँ। उसके अतिरिक्त मेरा कोई अस्तित्व नहीं वरन् नितान्त अभिन्न हूँ। इस भावना में आविष्ट के सदृश कुछ समय ध्यानावस्थित हो जाय। इसके बाद इस स्वात्मशरीर में वज्रकवचरूप अभेद्यकवचरूप न्यास करना चाहिये। न्यास के सम्बन्ध में पुनः आगे चर्चा की जायेगी।।१४।।

किं तन्न्यासजालम् इत्याकाङ्क्षायाम् आदौ करशुद्धिन्यासमाह

बिन्दुयुक् श्रीकण्ठानन्ततार्त्तीयैर्मध्यमादितलपर्यन्तं कृत-करशुद्धिः ।।१५।।

श्रीकण्ठः शिवोऽकारो योगिनीतन्त्रे पञ्चदश्यां श्रीकण्ठदशकमित्यवर्ण-गणनात्। अनन्तो दीर्घाकारस्तन्त्रसारे 'आं ह्रीं क्रों' इति मन्त्रस्य 'अनन्तो बिन्दुसंयुक्तो मायाब्रह्माग्नितारवान्' इत्युद्धारात्। बिन्दुयुजौ च तौ श्रीकण्ठानन्तौ तार्तीयो बालातृतीयः 'सौः' इति। एवञ्च 'अं आं सौः' अनेन मन्त्रेण मध्यमामारभ्य तलपर्यन्तं कृता करशुद्धिर्येन। मध्यमानामाकनिष्ठा-ङ्गुष्ठतर्जनीकरतलकरपृष्ठेषु न्यसेदित्यर्थः। अयं करशुद्धिन्यासः ।।१५।।

इस सूत्र में कूट शब्दों के माध्यम से बीज-वर्णों का वर्णन किया गया है। जैसे— बिन्दुयुक्श्रीकण्ठ 'अं' बिन्दुयुक् अनन्त.....दीर्घ 'आं' तार्तीय— बाला का तीसरा बीज— 'सौः'।

योगिनीतन्त्र में पञ्चदशी में श्रीकण्ठ शब्द से अवर्ण का ही ग्रहण किया गया है। इसी तरह श्रीतन्त्रसार नामक ग्रन्थ में 'अनन्त' शब्द से 'आं' यह बीज-मन्त्र गृहीत किया गया है। ये दोनों इस तरह प्रामाणिक प्रयोग रूप में मान्य हैं। बाला बीज मन्त्रों का तीसरा बीज 'सौः' स्वीकृत है। इस तरह पूरा न्यासमन्त्र 'अं आं सौः' बनता है। इस मन्त्र से मध्यमा से आरम्भ कर करतल-पृष्ठों तक न्यास करने से करशुद्धि हो जाती है। इससे साधक द्वारा हस्त से सम्पन्न सारी प्रक्रिया दिव्य हो जाती है।।१५।।

आत्मरक्षान्यासमाह

कुमारीमुच्चार्य महात्रिपुरसुन्दरीपदमात्मानं रक्ष रक्षेति हृदये अञ्जलिं दत्त्वा।।१६।।

कुमारीं बालामुच्चार्य पदमिति वर्णद्वयमपहाय रक्ष रक्षेत्यन्तं पठन् हृदये अञ्जलिं दत्त्वा। अयमात्मरक्षान्यासः।।१६।।

कुमारी बाला विद्या को कहते हैं। इसमें तीन बीज होते हैं। आगे के सूत्र में इसका उल्लेख है। माँ (महात्रिपुरसुन्दरि मां रक्ष रक्ष) मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो; यह कहकर हृदय में ही अञ्जलि प्रदान करें। इसे आत्मरक्षा-न्यास कहते हैं। सूत्र में प्रयुक्त 'पद' का प्रयोग मन्त्र में नहीं करना चाहिये।।१६।।

मायाकामशक्तीरुच्चार्य देव्यात्मासनाय नम इति स्वस्यासनं दत्त्वा ।।१७।।

माया ह्रीं, कामः क्लीं (देवीभागवते सुदर्शनकथा) अयमेव कामराजः। शक्तिः सौः (शक्तिः परा तृतीया वा) उच्चार्य उक्त्वा (नमोऽन्तो मनुः)। इत्थं च 'ह्रीं क्लीं सौः देव्यात्मासनाय नमः' इति मन्त्रेण स्वस्यासनं दत्त्वा (आसने पुष्पाक्षतान् क्षिपेत्) इत्यात्मरक्षा-दिव्यासनविधिः ।।१७।।

मायाबीज के रूप में 'ह्रीं', कामबीज के रूप में 'क्लीं' और शक्तिबीज के रूप में 'सौः' शास्त्र में वर्णित बीज-मन्त्र हैं। कामराज बीज के रूप में भी 'क्लीं' को स्वीकार किया गया है। देवीभागवत नामक महापुराण में सुदर्शन-कथा के प्रसङ्ग में 'क्लीं' को कामबीज के रूप में उद्धृत किया गया है। 'शक्तिः परा तृतीया वा' इस कोश के द्वारा शक्ति से 'सौः' बीज का ही ग्रहण किया जाता है।

'योगिनीतन्त्र' द्वारा भी उक्त तथ्य का समर्थन होता है। इस प्रकार 'ह्रीं क्लीं सौः देव्यात्मासनाय नमः' इस मन्त्र से आसन पर पुष्प और अक्षत का छिड़काव करना भी आवश्यक माना जाता है। यह आत्मरक्षा और दिव्यासन विधि की प्रक्रिया साधक उपासक द्वारा अवश्य अपनायी जानी चाहिये।।१७।।

ततः सूत्रद्वयेन चक्रासनादिमन्त्रानुद्धरति

शिवयुग्बालामुच्चार्य श्रीचक्रासनाय नमः, शिवभृगुयुग्बाला-मुच्चार्य सर्वमन्त्रासनाय नमो भुवनामदनौ ब्लेमुच्चार्य साध्यसिद्धा-सनाय नम इति चक्रमन्त्रदेवताऽऽसनं त्रिभिर्मन्त्रैश्चक्रे कृत्वा ।।१८।।

शिवो हकारः, तेन युक्ता बाला। बालावर्णाङ्गं हकारः। प्रतिप्रधान-मङ्गावृत्तिरिति न्यायाद् बाला-वर्णत्रयेऽपि हकारयोगः। इत्थं 'हैं ह्क्लीं ह्सौः श्रीचक्रासनाय नमः' इत्येको मन्त्रः। शिवो हकारः, भृगुः सकारः, एतदुभय-युक्ता बाला, 'ह्सैं, ह्स्क्लीं ह्सौः सर्वमन्त्रासनाय नमः' इति द्वितीयो मन्त्रः।

भुवना भुवनेश्वरी (तस्या मन्त्रो मायाबीजरूप एव) तद्यथा— शिवो हकारः, माया ईकारः, अग्नी रेफः, बिन्दुः प्रसिद्धः ह्रीमिति। 'भुवनेशी च लज्जा च ह्रल्लेखा कुलदेवता' इति कोशात्। तथा च 'ह्रीं क्लीं ब्लें साध्य-सिद्धासनाय नमः' इति तृतीयो मन्त्रः। एवं त्रिभिर्मन्त्रैः क्रमेण चक्रमन्त्रदेवता-सनानि चक्रे कृत्वा कल्पयित्वेत्यर्थः। अयं चतुरासनन्यास इति कथ्यते ।।१८।।

शिव 'ह'कार कहलाता है। इससे युक्त बाला मूलमन्त्र के प्रयोग में हकार बाला बीजाक्षरों का आदि अङ्ग बन जाता है। एक नियम है कि प्रति प्रधान में अङ्ग का वर्त्तन होना चाहिये। इस न्याय के अनुसार ही यह प्रयोग प्रवर्त्तित और प्रचलित है। इस तरह ह + ऐं 'हैं' ह् + क्लीं = ह्क्लीं और ह् + सौः = ह्सौः ये बीजाक्षर बनते हैं। इन तीनों का उच्चारण कर चक्रासनाय नमः यह एक मन्त्र बनता है। यह पहला मन्त्र है। दूसरा मन्त्र इस प्रकार बनता है—शिव अर्थात् 'ह'कार, भृगु अर्थात् 'स'कार और बाला मन्त्र सब मिलाकर ह्सैं, ह्स्क्लीं और ह्स्सौः बोलें। साथ ही सर्वमन्त्रासनाय नमः कहने से यह द्वितीय मन्त्र बनता है।

तीसरे मन्त्र का प्रयोग इस प्रकार करते हैं—भुवना भुवनेश्वरी देवी को कहते हैं। भुवनेश्वरी बीज माया बीज को ही कहते हैं। कोश में भी लिखा है कि, भुवनेशी, लज्जा, ह्ल्लेखा और कुलदेवता भी शिवमायाग्नि बिन्दुमान् मन्त्र ही होता है। उसका उद्धार करने पर 'ह्रीं' यही बीज बनता है। यही भुवनेश्वरी बीज भी कहलाता है। इसके साथ मदन बीज क्लीं और इन दोनों के साथ 'ब्लें' यह बीज लगाकर तीसरा मन्त्र 'ह्रीं क्लीं ब्लें साध्यसिद्धासनाय नमः' इस रूप में उद्धृत होता है। इन तीनों से क्रमशः चक्रमन्त्र के देवताओं के आसन का प्रकल्पन किया जाता है। इस प्रकार पहले चक्रासन पुनः मन्त्रासन, इसके बाद साध्यासन और सिद्धासन मन्त्रों के चार न्यास से इसे चतुरासन न्यास भी कहते हैं।।१८।।

ततः बालाषडङ्गमाह

बालाद्विरावृत्त्या त्रिद्व्येकदशत्रिद्विसङ्ख्याऽङ्गुलिविन्यासैः क्लृप्तषडङ्गः ।।१९।।

बालाद्विरावृत्त्या षड्वर्णैर्हृदयादि षडङ्गानि क्रमेण त्र्याद्यङ्गुलिभिः क्लृप्तानि विन्यस्तानि षडङ्गानि येन ईदृशः। अयमेवार्थः स्पष्टमुक्तो दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

'कनिष्ठाङ्गुष्ठरहितैस्त्रिभिस्तु हृदि विन्यसेत्।
मध्यमानामिकाभ्यां तु न्यसेच्छिरसि मन्त्रवित्।।
शिखाङ्गुष्ठेन विन्यस्य दशभिः कवचं न्यसेत्।
हृदुक्तैर्नेत्रविन्यासं विन्यसेत् परमेश्वरि।।

तर्जनीमध्यमाभ्यां तु ततोऽस्त्रं विन्यसेत्प्रिये'। इति बालषडङ्ग-न्यासः ।।१९।।

बाला बीज मन्त्रों को दो बार कहने पर छः बीजाक्षर बनते हैं। इनसे अर्थात् छः अक्षरों को एक साथ बोलकर हृदय से लेकर अस्त्र पर्यन्त छः अङ्गों पर क्रमशः तीन, दो, एक, दश, तीन और दो सङ्ख्या की अंगुलियों से न्यास करना चाहिये। यही तथ्य दक्षिणामूर्त्तिसंहिता में स्पष्ट रूप से लिखा गया है। मानो इस सूत्र का भाष्य पहले ही किया गया हो, वह इस प्रकार है—

'कनिष्ठा और अङ्गुष्ठ को छोड़कर तीन अङ्गुलियों से हृदयाय नमः बोलकर हृदय पर न्यस्त करना चाहिये। शिर पर छः बाला बीज, मध्यमा और अनामिका दो अङ्गुलियों से न्यास करना चाहिये। मन्त्रवित् पुरुष की यही पद्धति है। शिखा में केवल अङ्गुष्ठ से न्यास करने के बाद दशों अङ्गुलियों से कवच न्यास करना चाहिये। भगवान् दक्षिणामूर्त्ति कह रहे हैं कि, परमेश्वरि शिवे! हृदय न्यास के अनुसार तीनों नेत्रों का न्यास किया जाता है। तर्जनी और मध्यमा से अस्त्राय फट् मन्त्र न्यास होता है।'

इस प्रकार बालाषडङ्ग न्यास पूरा होता है।।१९।।

अथ वशिन्यादियोगिनीन्यासमाह

सबिन्दूनचो ब्लूमुच्चार्य वशिनीवाग्देवतायै नम इति शिरसि। सर्वत्र वर्गाणां बिन्दुयोगः। कवर्गं 'कलह्रीं' च निगद्य कामेश्वरी-वाग्देवतायै नम इति ललाटे। चुं गदित्वा 'न्व्लीं' वाग्देवतायै नम इति भ्रूमध्ये। टुं भणित्वा 'य्लूं' विमला-वाग्देवतायै नम इति कण्ठे। तुं च प्रोच्य 'ज्म्रीं' अरुणावाग्देवतायै नम इति हृदि। 'पुं' च 'हस्ल्व्यूं' उच्चार्य जयिनी-वाग्देवतायै नम इति नाभौ। यादिचतुष्कं 'झ्म्र्यूं' उच्चार्य सर्वेश्वरीवाग्देवतायै नम इति लिङ्गे। शादिषट्कं 'क्ष्म्रीं' आख्याय कौलिनीवाग्देवतायै नम इति मूले ।।२०।।

सबिन्दूनचो बिन्दुयुक्ता अकारादि-विसर्गान्तास्तानुच्चार्य 'नमः' इत्यन्तो वशिनीमन्त्रः। तथा च 'अं आं.....अं अः ब्लूं वशिनी-वाग्देवतायै नमः'

इति शिरसि न्यसेत्। कवर्गः सबिन्दुः 'कलह्रीं' इत्यत्र केवलं व्यञ्जनमात्र-ग्रहणम्। तथा च 'कं खं गं घं ङं क्ल्ह्रीं कामेश्वरी-वाग्देवतायै नमः' इति ललाटे न्यसेत्। चुं चवर्गं नम इत्यन्तं मन्त्रं पठित्वा भ्रूमध्ये न्यसेत्। टुं टवर्गं पूर्ववत्। हसलवर्णे तु व्यञ्जनमात्रग्रहणम्। शेषं स्पष्टम् ।।२०।।

यहाँ वशिनी आदि योगिनियों के न्यास का वर्णन किया गया है। ये सभी वाग्देवता मानी जाती हैं। इनकी संख्या और नाम इस प्रकार हैं—

१. वशिनी, २. कामेश्वरी, ३. मोदिनी, ४. विमला, ५. अरुणा, ६. जयिनी, ७. सर्वेश्वरी, ८. कौलिनी। इनके न्यास के समय सर्वप्रथम अकारादि सबिन्दु आठों वर्ग, निर्धारित बीजमन्त्र, इनके नाम और नमः लगाकर आठ अङ्गों का स्पर्श करते हैं। इसका क्रम इस प्रकार समझना चाहिये—

क्र. सं.	वर्ग	निर्धारित बीज	विशेष नाम	विशेषण	नमः	स्थान
१.	अवर्ग (सबिन्दु)	ब्लूं	वशिनी	वाग्देवतायै	नमः	शिरसि
२.	सबिन्दु कवर्ग	क्ल्ह्रीं	कामेश्वरी	वाग्देवतायै	नमः	ललाटे
३.	सबिन्दु चवर्ग	न्व्लीं	मोदिनी	वाग्देवतायै	नमः	भ्रूमध्ये
४.	टुं टवर्ग	य्लूं	विमला	वाग्देवतायै	नमः	कण्ठे
५.	तुं तवर्ग	ज्म्रीं	अरुणा	वाग्देवतायै	नमः	हृदि
६.	पुं पवर्ग	ह्स्ल्वयूं	जयिनी	वाग्देवतायै	नमः	नाभौ
७.	यादिचतुष्क (यं रं लं वं)	झ्म्र्यूं	सर्वेश्वरी	वाग्देवतायै	नमः	लिङ्गे
८.	शादिषट्क (शं षं सं हं कं क्षं)	क्ष्म्रीं	कौलिनी	वाग्देवतायै	नमः	मूलाधारे

इस तरह ये आठ मन्त्र बनते हैं। इन मन्त्रों से योगिनी वाग्देवताओं का शरीर के आठ मुख्य अङ्गों पर न्यास करना चाहिये। श्रीचक्र-साधना में इस न्यास का बड़ा महत्त्व है। वाग्देवता ही विश्व-सृष्टि भी मूलाधार है। इसीलिये इसमें १६ स्वरों २५ स्पर्शवर्णों ४ अन्तःस्थों और ४ ऊष्म वर्णों के साथ

२ चक्रेश्वर वर्णों का योग करते हैं। यह पूर्ण वाङ्मय योग है। आठों वाग्देवताओं के साथ जब ये स्वर और व्यञ्जन शरीर के निर्धारित अवयवों पर न्यस्त होते हैं, तो उनसे अदृश्य वाग्विद्युत् की रश्मियाँ फूट पड़ती हैं। इस न्यासानुभव से साधक धन्य हो जाता है।।२०।।

मूलमन्त्रन्यासः

मूलविद्यापञ्चदशवर्षान् मूर्ध्नि मूले हृदि चक्षुस्त्रितये श्रुतिद्वयमुख-भुजयुगलपृष्ठजानुयुगल-नाभिषु विन्यस्य षोढा चक्रे न्यस्यान्यस्य वा ।।२१।।

चक्षुस्त्रितयं भ्रूमध्येन सह ज्ञेयम्। श्रुतिद्वयं श्रोत्रद्वयम्। शेषस्थानानि स्पष्टानि। मूलपञ्चदशवर्णैर्बिन्दुसहितैर्नमोऽन्तैः क्रमेणोक्तपञ्चदशस्थानेषु न्यसेत्। षोढा षट्प्रकारः। गणेश-ग्रह-नक्षत्र-योगिनी-राशि-पीठभेदेन चक्रन्यासस्तन्त्रान्तरोक्तः। न्यस्यान्यस्य इत्यनेन कृताकृतत्वं सूचितम् ।।२१।।

मूल कादिविद्या के पन्द्रह वर्ण प्रसिद्ध हैं। इसी आधार पर उसे पञ्चदशी विद्या कहते हैं। इनका न्यास पन्द्रह अङ्गों पर सूत्र के निर्देशानुसार करना चाहिये। वे पन्द्रह अङ्ग इस प्रकार हैं—

१. मूर्धा (शिर), २. मूल (मूलाधार), ३. हृदय, ४. दक्षनेत्र, ५. वामनेत्र, ६. भ्रूमध्य, ७, दक्षकर्ण, ८. वामकर्ण, ९. मुख, १०. दाहिना बाहु, ११. वामबाहु, १२. पीठ, १३. दाहिना घुटना, १४. बाँयाँ घुटना, १५. नाभि। ये १५ अङ्गस्थान माने जाते हैं। इन्हीं पर क्रमशः पञ्चदशी विद्या के बिन्दुसहित वर्ण न्यस्त करने चाहिये।

यह न्यास छः प्रकार से करने का विधान अन्यान्य तन्त्रों में है। इन प्रकारों का उद्देश्य उन मुख्य देवों के आनुकूल्य की सिद्धि है। गणपति, ग्रह, नक्षत्र, योगिनियों, राशियों और पीठों की दृष्टि से ऐसी प्रक्रिया अन्यान्य तन्त्र स्वीकार करते हैं। सूत्र में वैकल्पिकता की ओर भी सङ्केत है। करें तो श्रेष्ठ, नहीं करें तो षोढा न्यास न कर केवल चक्रार्चा की दृष्टि से ही न्यास करना उचित है ।।२१।।

देवीरूपत्वसिद्धये न्यासानुक्त्वा ततोऽर्चनाङ्गभूतपात्रस्थापनविधिमुपदिशति

शुद्धाम्भसा वामभागे त्रिकोणषट्कोणवृत्तचतुरस्रमण्डलं कृत्वा पुष्पैरभ्यर्च्य साधारं शङ्खं प्रतिष्ठाप्य शुद्धजलमापूर्य आदिम-बिन्दुं दत्त्वा षडङ्गेनाभ्यर्च्य विद्यया अभिमन्त्र्य तज्जलविप्रुड्भिरात्मानं पूजोपकरणानि च सम्प्रोक्ष्य ।।२२।।

शुद्धाम्भसा इत्यनेन गणपतिपद्धतौ कथितगन्धाक्षतकुसुमसमर्चितत्त्वं ज्ञापितम्। शुद्धेन पटपूतेनाम्भसा स्ववामभागे त्रिकोणादिचतुरस्रान्तं नियमविधिरूपत्वाद् आकाङ्क्षावत्त्वात् श्यामाक्रमोक्तमत्स्यमुद्रया निर्गमनरीत्या कृत्वा पुष्पैरभ्यर्च्य।

आधारशङ्खयोः प्रतिष्ठापने शुद्धजलपूरणे च सन्निहितत्त्वाविशेषाद् गणपतिप्रकरणस्थं श्यामाप्रकरणस्थं वा स्वेच्छया कुर्यात्। आदिमबिन्दुसंयोगः शङ्खजलसंस्कारः। षडङ्गेन षडङ्गमन्त्रैः अग्नीशासुर-वायुकोणेषु षडङ्गदेवता अभ्यर्च्य। विद्यया पञ्चदश्या। अभिमन्त्र्य अभिमन्त्रणेन संस्कृत्य तज्जलं संस्कृतजलं तस्य ये विप्रुषो बिन्दवस्तैरात्मानं स्वशरीरं पूजोपकरणानि गन्धपुष्पप्रथमादीनि च सम्प्रोक्ष्य।।२२।।

शुद्धेन पटरूप शुद्ध जल से ही पूजा का विधान है। यहाँ स्पष्ट उल्लेख करने का विशिष्ट तात्पर्य गन्धाक्षत-कुसुमांचित वस्त्र से छने हुए जल से है। वामभाग में अर्थात् श्रीविद्योपासक के अपने ही वामभाग का अर्थ लेना चाहिये। विधि के अनुसार त्रिकोण, षट्कोण, वृत्त और चतुरस्र मण्डल का श्यामाक्रम में कहे गये मत्स्यमुद्रा के प्रयोग द्वारा निर्गमन रीति के अनुसार करे और पुष्पों से उनका पूजन करे।

शङ्ख की प्रतिष्ठा आधार पर करते हैं। ऐसे आधारसहित प्रतिष्ठा करने के उपरान्त उसे शुद्ध जल से भर देना चाहिये। आदिम बिन्दु के संयोग से जल का संस्कार हो जाता है। इसके बाद षडङ्गपूजन आवश्यक होता है। यह पूजन क्रमशः अग्नि, कुबेर, वायु कोणों में षडङ्गमन्त्रों से सम्पन्न किया जाता है। इन कार्यों के अनन्तर पञ्चदशी विद्या से अभिमन्त्रण कर उसी जल के लघु-

लघु विप्रुट्बिन्दुओं से अपना प्रोक्षण करे। साथ ही साथ पूजा के उपकरणों को भी प्रोञ्छित करना चाहिये।।२२।।

एवं सामान्यार्घ्यैस्तृप्तिं विधाय विशेषार्घ्यात्तृप्तिमाह

तज्जलेन त्रिकोणषट्कोणवृत्तचतुरस्रमण्डलं कृत्वा मध्यं विद्यया विद्याखण्डैस्त्रिकोणं बीजावृत्त्या षडस्त्रं सम्पूज्य वाचमुच्चार्य अग्निमण्डलाय दशकलात्मने अर्घ्यपात्राधाराय नम इति प्रतिष्ठाप्य आधारं प्रपूज्य पावकीः कलाः ।।२३।।

तज्जलेन सामान्याघ्र्योदकेन। मध्यं त्रिकोणमध्यम्। विधया समष्टि-विधया। सम्पूज्य इति सर्वत्रानुषज्यते। विद्याखण्डैः कूटत्रयेण त्रिकोणं त्रिकोणं कोणत्रयम् बीजावृत्त्या कूटत्रयद्विरावृत्त्या। षडस्त्रं सम्पूज्य। वाचं 'ऐं' इति (सबिन्दुः ऐकारो वाग्भव इति सिध्यति) रविस्वरो बिन्दुयुक्तो वाग्भवं बीज-मीरितम् इति बीजकोशः। मन्त्रः 'ऐं अग्निमण्डलाय दशकलात्मने अर्घ्यपात्राधाराय नमः।' इति नमोऽन्तो मन्त्रः। पावकीः वह्निसम्बन्धिनीः। कलाः चतुर्थ्यन्तनमोऽन्तैस्तत्तन्नामभिः प्रागादिवृत्तरूपं यजेत् ।।२३।।

सामान्य अर्घ्य के जल से त्रिकोण, षट्कोण, वृत्त और चतुरस्र मण्डल की विधि से मत्स्यमुद्रा द्वारा निर्गमन कर त्रिकोण मध्य को समष्टिविद्या से अर्चित करना चाहिये। विद्याखण्ड अर्थात् कूटत्रय से त्रिकोणों की पूजा की जानी चाहिये। बीजों की आवृत्तिपूर्वक कूटत्रय की दो आवृत्ति से षडस्त्र की अर्चना भी आवश्यक मानी जाती है। पुनः वाग्भव बीज 'ऐं' का उच्चारण कर 'अग्निमण्डलाय दशकलात्मने अर्घ्यपात्राधाराय नमः' इस मन्त्र को बोलने से पूरा मन्त्र बनता है। इस मन्त्र से प्रतिष्ठा कर आधार की पूजा करनी चाहिये। पावक की दश कलाओं के चतुर्थ्यन्त नाम के साथ नमः लगाकर उनकी पृथक् पृथक् पूजा करनी चाहिये।।२३।।

मदनादुपरि सूर्यमण्डलाय द्वादशकलात्मने अर्घ्यपात्राय नम इति संविधाय पात्रं संस्पृश्य कलाः सौरीः, 'सोममण्डलाय षोडशकलात्मने अर्घ्यामृताय नमः' इति पूरयित्वा आदिमं दत्वोपादिममध्यमौ पूजयित्वा विधोः कलाषोडशकम् ।।२४।।

मदनस्तु चतुरासनन्यासे (सूत्रे) प्रपञ्चितः। शेषं स्पष्टम्। पात्रं पात्रे सौरीः कलास्तापिन्यादीः संस्पृश्य पूजयित्वा। आदिमं प्रथमं पूरयित्वा उपादिमं द्वितीयं मध्यमं तृतीयं तत्रैव स्थापयित्वा विधोः कलाषोडशकम् अमृतादि-पूर्णामृतान्तम् ।।२४।।

मदन कामवाचक शब्द है। आगमिक कोश की दृष्टि से यह मायाबीज का वाचक कूट शब्द माना जाता है। मायाबीज के विषय में देवीभागवत की उक्ति इस प्रकार है— 'शिवमायाग्निबिन्दुमान्'। शिव हकार को कहते हैं। माया ईकार है। अग्नि रेफ है और बिन्दु प्रसिद्ध अनुस्वार है। सबको मिलाकर 'ह्रीं' यह बीजमन्त्र बनता है। इसी को भुवना, भुवनेशी, लज्जा, ह्रल्लेखा और कुलदेवता भी कहते हैं। वृत्तिकार ने कहा है कि, 'प्रकृतेऽपि स एव मदनो व्याख्यातः।'

किन्तु यह मान्यता प्रकृत सूत्र के अनुकूल नहीं है। मदन के पर्याय वर्ण चार हैं—१. इ, २. क, ३. उ और ४. क्लीं। इस तरह मदन का प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'क्लीं' बीज में ही तात्पर्य है। यही बाला का मध्य बीज भी है। इसलिये इस सूत्र में क्लीं के बाद ही अर्थात् इस बीज का ही पहले उच्चारण कर सूर्य मन्त्र बनता है। इस मन्त्र से १२ सौरी कलाओं की पूजा होनी चाहिये। इसी तरह चान्द्रकलाओं की पूजा 'क्लीं सोममण्डलाय षोडशकलात्मने अर्घ्यामृताय नमः' इस मन्त्र से करनी चाहिये। इसमें प्रथम आदिम द्वितीय उपादिम अर्थात् दूसरी और मध्यम अर्थात् तीसरी कलाओं का क्रम अपनाना चाहिये ।।२४।।

तत्र विलिख्य त्र्यस्रमकथादिमयरेखं हलक्षयुगान्त-स्थित-हंसभास्वरं वाक्कामशक्तियुक्तकोणं कृत्वा षडस्रं षडङ्गेन पुरोभागाद्यभ्यर्च्य मूलेन सप्तधा अभिमन्त्र्य दत्तगन्धाक्षतपुष्पधूपदीपः तद्विप्रुड्भिः प्रोक्षितपूजाद्रव्यः सर्वं विद्यामयं कृत्वा तत्स्पृष्ट्वा चतुर्नवतिमन्त्रान् जपेत् ।।२५।।

तत्र प्रथमद्रव्ये पूर्वोक्तक्रमेण पूजयित्वा अकारादिविसर्गान्तषोडशस्वरैः पश्चिमादीशानान्ताम् एकां रेखां कुर्यात्। तत ईशानाद्याग्नेयान्तां कवर्गमारभ्य तान्तैः षोडशवर्णैः अपरां रेखां सम्पादयेत्। तद् आग्नेयादिपश्चिमान्तं यादिसान्तैः षोडशभिस्तृतीयरेखां सम्पादयेत्। एवं सति अश्र कश्र थश्र

आदिर्येषां वर्णानां दीर्घाकारखकारदकारप्रभृतीनां तन्मयास्तदभिन्ना रेखा यस्मिन् त्रिकोणे तद् अकथादिमयरेखम्। इदं त्र्यस्रविशेषणम्। हश्च लक्षयुगं च तयोः अन्तः मध्ये स्थितो यो हंस इति वर्णसमुदायस्तेन भास्वरं, द्रव्ये स्वदक्षभागे 'हम्' इति विलिख्य, तदुत्तरतो हं स इति वर्णौ विलिख्य तदुत्तरतो लक्षेति विलिखेत्, एवं चोक्तरूपं भवति। एवं वाक्कामशक्तयः, तद्युक्तं त्रिकोणं विलिख्य हंसेन हंस इति मन्त्रेण आराध्य पुष्पादिभिः पूजयित्वा बहिस्त्रिकोणानि मूलषडङ्गमन्त्रैः पुरोभागादि-स्वाभिमुखाग्रादिप्रादक्षिण्येन अभ्यर्च्य मूलेन सप्तधा सप्तवारमावृत्तेन। तस्मिन् द्रव्ये दत्ता अर्पिता गन्धाक्षतपुष्पधूपदीपा येन ईदृशः पूजको भवेत्। सर्वविद्या परसंवित् तन्मयं तदभिन्नं कृत्वा भावयित्वा चतुर्नवतिमन्त्रान् जपेत् ।।२५।।

सर्वप्रथम पूर्वोक्त प्रकार से द्रव्यादि में पूजन कर सूत्रोक्त निर्देश पालन करना चाहिये। सूत्रानुसार पूजन के उपरान्त वहाँ एक त्रिकोण की संरचना करनी है। इस कोण का नाम 'अकथादिमयरेख' रखा गया है। इसका कारण है त्रिकोण में तीन रेखायें होती हैं। ज्यामिति के अनुसार इस कोण को अकथ कोण कह सकते हैं। तीनों रेखाओं के नाम १. अक, २. कथ और ३. थअ या अ-थ रेखा कहा जा सकता है। अ-क रेखा पर अ से लेकर विसर्ग पर्यन्त १६ स्वर लिखे जाते हैं। रेखा पश्चिम से ईशानकोण तक बनायी जाती है। दूसरी रेखा ईशान से अग्निकोण तक जाती है। इसमें 'क' कोण से कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग के १५ अक्षर और 'त' अक्षर मिलाकर १६ वर्ण लिखे जाते हैं। तीसरी रेखा 'थ' अक्षर से प्रारम्भ होती है। इसे थ-अ रेखा कह सकते हैं। इस पर 'थ' से 'अ' तक १६ वर्ण लिखे जाते हैं। इसमें तवर्ग के ४, पवर्ग के ५, यवर्ग के ४ और ऊष्मा के तीन वर्ण मिलाकर १६ वर्णों की एक रेखा होती है।

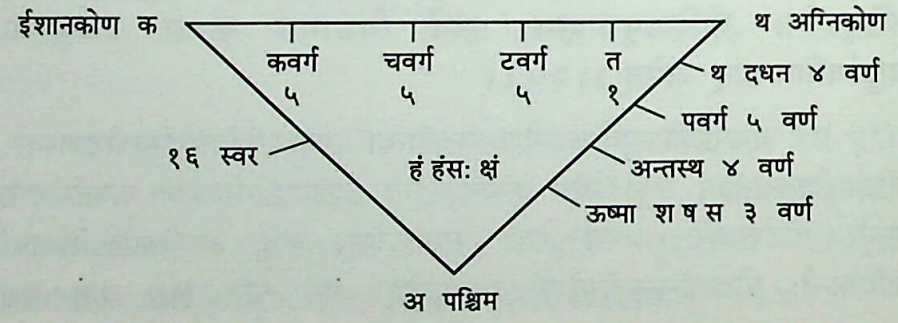

इस तरह अ क थ नामक कोणों से अकारादि १६ वर्ण, ककारादि १६ वर्ण और थकारादि १६ वर्ण कुल मिलाकर ४८ वर्ण इस त्रिकोण में आ जाते हैं। यहाँ अकथादिमय त्रिकोण का वर्णन किया गया है।

जहाँ तक 'ह' और 'क्ष' युगल अक्षरों के प्रश्न हैं, उनके मध्य में अवस्थित 'हंस' रूप वर्ण समुदाय लिखना चाहिये, अर्थात् अपने दाहिने भाग में 'हं' यह वर्ण लिखना चाहिये। वाम भाग में क्ष लिखकर मध्य में हंसः यह लिखना चाहिये। इन वर्णों से वह त्रिभुज वर्ण-वैद्युतिक आभा से भर उठता है। उस त्रिभुज के तीनों कोणों पर बाला के तीनों बीज लिखना चाहिये। इसकी पूजा हंस मन्त्र से की जाती है।

उसके ऊपर पुष्प आदि का श्रद्धा भाव से अर्पण करना चाहिये। इस पूजा में त्रिकोण की संरचना और अर्चना की बातें कही गयी हैं।।२५।।

चतुर्नवतिमन्त्रानाह

त्रितारी नमः सम्पुटितातेजस्त्रितयकला अष्टात्रिंशत्। सृष्टि-ऋद्धि-स्मृति-मेधा-कान्ति-लक्ष्मी-द्युति-स्थिति-सिद्धयो ब्रह्मकला दश। जरा-पालिनी-शान्तिरीश्वरी-रतिकामिके-वरदा-ह्लादिनी-प्रीतिर्दीर्घा विष्णुकला दश। तीक्ष्णा-रौद्री-भया-निद्रा-तन्द्री-क्षुधा-क्रोधिनी-क्रियोद्गारी-मृत्यवो रुद्रकला दश। पीताश्चेताऽरुणाऽसिताश्चतस्र ईश्वरकलाः। निवृत्ति-प्रतिष्ठा-विद्या-शान्तीन्धिका-दीपिका-रोचिका- मोचिका-परा-सूक्ष्माऽसूक्ष्मामृता-ज्ञानाज्ञानामृता-प्यायिनी-व्यापिनी-व्योमरूपाः षोडश सदाशिवकलाः। हंसश्शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोतां व्वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा-गोजा-ऋतजा-अद्रिजा ऋतं बृहत्। प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्यो-र्मुक्षीय मामृतात्। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्। विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु

मे। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ। इत्येते पञ्चमन्त्राः। मूलविद्या चाहत्य चतुर्नवति-मन्त्राः।।२६।।

त्रितारी पूर्वोक्ता। त्रितारी नम इत्यनयोर्मध्ये चतुर्नवतिमन्त्रान् पठेत्। यथा च द्वाभ्यां सम्पुटितो भवति। तेजस्त्रितयं वह्निसूर्यसोमास्तेषां कलाः (श्यामाक्रमे १८ सूत्रे) अष्टात्रिंशत्। मन्त्रस्वरूपं यथा—'ऐं ह्रीं श्रीं धूम्रार्चिषे नमः'। एवम् अग्रेऽपि ज्ञेयम्। वह्निकलाः १०। सूर्यकलाः १२। चन्द्रकलाः १६। ब्रह्मकलाः १०। विष्णुकलाः १०। रुद्रकलाः १०। ईश्वरकलाः ४। सदाशिवकलाः १६। इत्थं च कलाः सर्वाः ८८। यद्यपि हंसश्शुचिषद् इत्यारभ्य पुष्करस्रजावित्यन्तं सप्त ऋचः सन्ति, तथापि 'इत्येते पञ्च मन्त्राः' इत्युक्त्या चतुर्थपञ्चमौ मिलित्वा एको मन्त्रः। षष्ठसप्तमौ मिलित्वा एको मन्त्रः। मूलविद्या पञ्चदशी। पूर्वकलाः ८८। उक्तमन्त्राः पञ्च। मूलविद्या चाहत्य सर्वं मिलित्वा चतुर्नवति-मन्त्राः सम्पद्यन्ते। एतैरभिमन्त्रणेन द्रव्यं संस्कुर्याद् इति फलितार्थः।।२६।।

त्रितारी प्रसिद्ध प्रयोग है। यह 'ऐं ह्रीं श्रीं' तीन बीज मन्त्रों के और नमः के बीच में क्रमशः ९४ मन्त्र सम्पुटित होकर बनते हैं। जैसे वह्नि की पहली कला का नाम 'धूम्रार्चिः' है। इसके पहले त्रितारी का प्रयोग करें। धूम्रार्चिः में चतुर्थी विभक्ति लगाकर धूम्रार्चिषे कहें। पुनः नमः जोड़ दें। मन्त्र बनेगा 'ऐं ह्रीं श्रीं धूम्रार्चिषे नमः'। इसी तरह वह्नि १०, सूर्य १२, सोम १६, ब्रह्मा १०, विष्णु १०, रुद्र १०, ईश्वर ४ और सदाशिव की १६ = ८८ कलायें होती हैं। इन सभी कलाओं के पहले त्रितारी बोलकर प्रत्येक में नमः लगाकर ८८ मन्त्र बनते हैं।

इसी तरह 'हंसः शुचिषत्' से लेकर 'पुष्करस्रजौ' तक सात ऋचाओं में चौथी (तद्विष्णोः परमं पदं.....चक्षुराततम्) और पाँचवीं (तद्विप्रासो.....परमं पदम्) मिलाकर एक मन्त्र बनाते हैं। यह द्विनवतितम मन्त्र होगा। पुनः ह्रीं और सातवीं मिलाकर त्रितारी और नमः से संपुटित कर ९३ तम बनता है। पुनः त्रितारी + मूलविद्या + नमः योग से ९४ मन्त्र बनते हैं। इनका जप करने का निर्देश सूत्र २५ में ही है।।२६।।

अथ हैके पञ्चभिरखण्डाद्यैरभिमन्त्रणमामनन्ति ।।२७।।

अथेत्यनेन चतुर्नवतिमन्त्रोत्तरमेवेति क्रमः सूचितः। एके इत्यनेन पाक्षिकत्वं सूचितम्। अखण्ड आद्यो येषामिति तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिः।।२७।।

सूत्र में सर्वप्रथम अथ शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे यह सूचना हो रही है कि, पहले कहे गये ९४ मन्त्रों के बाद यह क्रम अपनाया जाना चाहिये। 'ह' आवश्यक अर्थ में अव्यय प्रयुक्त है। एके शब्द यह सूचित करता है कि, कुछ लोग ही यह नया क्रम अपनाने के पक्षधर हैं। उनके अनुसार पाँच ऐसे मन्त्रों का उल्लेख किया गया है, जिनसे सुधा देवी का अभिमन्त्रण करना चाहिये। अखण्डाद्य शब्द में तद्गुण-संविज्ञान बहुव्रीहि समास है।।२७।।

अखण्डाद्याः के ? इत्याकाङ्क्षायामाह

अखण्डैकरसानन्दकरे परसुधात्मनि ।
स्वच्छन्दस्फुरणामत्र निधेह्यकुलनायिके ।।१।।
अकुलस्थाऽमृताकारे शुद्धज्ञानकरे परे ।
अमृतत्वं निधेह्यस्मिन् वस्तुनि क्लिन्नरूपिणि ।।२।।
तद्रूपिण्यैकरस्यत्वं कृत्वा ह्येतत्स्वरूपिणि ।
भूत्वा परामृताकारा मयि चित्स्फुरणं कुरु ।।३।।

इति तिस्रो अनुष्टुभो विद्याः ।।२८।।

सहस्रदलं कमलद्वयम्। सर्वकमलानामाधारभूतं ऊर्ध्वमुखमेकं पद्मं मूलाधारस्याधस्तिष्ठति। तदेकमकुलपदवाच्यम्। एवं ब्रह्मरन्ध्रस्थिताधो मुखसहस्रच्छदपद्ममपि अकुलम्। प्रकृते ब्रह्मरन्ध्रस्थितस्यैव ग्रहणम्। तस्यैव अमृतस्रावित्वात्। अकुलस्य नायिका तदधिष्ठात्री तत्सम्बोधने हे अकुलनायिके! अखण्डो अविच्छिन्न एकरसो दुःखासम्भिन्नो य आनन्दस्तं करोति व्यञ्जयति तादृशे। परा उत्कृष्टा या सुधा ब्रह्मरन्ध्रस्था अमरत्वकारिणी तदात्मनि तत्स्वरूपे। अत्र स्वच्छन्दा स्वतन्त्रा या चित् तस्याः, स्फुरणां

प्रकाशशक्तिं निधेहि स्थापय। हे परे! श्रेष्ठे क्लिन्नमार्द्रस्वरूपं तदस्मिन्नस्ति इति क्लिन्नरूपिणी अमृतत्वं निधेहि। संस्थापय सम्पादय। अकुले विद्यमानं यद् अमृतं तस्य स्वरूपमिव स्वरूपं यस्याः सा परा (तत्सम्बोधने) तद्रूपिणि मयि देहाभिमानिनि। परं यद् अमृतं आनन्दस्तदाकारा भूत्वा ऐकरस्यं चित्तस्यैकाकारतां कृत्वा सम्पाद्य चित्स्फुरणं कुरु स्वस्वरूपप्रकाशं कुरु। इति तिस्रः अनुष्टुप्छन्दस्का विद्या मन्त्राः।।२८।।

तन्त्रशास्त्र में कुल और अकुल से दोनों विशिष्ट उपासना सम्प्रदाय के पारिभाषिक शब्द माने जाते हैं। कहा गया है कि, 'अनुत्तरं परं धाम', एक दूसरे स्थान पर कहा गया है कि, 'तदेवाकुलमुच्यते'।

'अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिकी सा पराशक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः।।'

अकुल की कुलप्रथनशालिनी शक्ति को ही कौलिकी शक्ति कहते हैं। ऐसी अकुल की कुलप्रथनशालिनी शक्ति ही कुल-नायिका कहलाती है। वृत्तिकार ने दो सहस्र दल कमलों को ही 'अकुल' कहा है। एक ऊर्ध्वमुख अकुल पद्म मूलाधार के नीचे और अधोमुख एक अकुल सहस्रार पद्म भी है, जिसे सहस्रार कहते हैं। यहाँ पर ब्रह्मरन्ध्रस्थ अकुल पद्म को अकुल कहा गया है। उसकी नायिका सहस्राराधिष्ठात्री परमाम्बा ललिता त्रिपुरसुन्दरी मानी जाती है। वह अखण्ड एकरस आनन्द प्रदान करने वाली परमाम्बा परात्मक ब्रह्मरन्ध्रस्थ सुधा से समग्र विश्व को अभिषिक्त करती है। उपासक यह प्रार्थना करता है कि, मातः, तुम अत्र अर्थात् यहाँ इस कर्म यज्ञ में स्वच्छन्द अर्थात् स्वातन्त्र्यमयी चित्स्फुरणता को स्थापित करो।

हे क्लिन्न (आर्द्र) अर्थात् दया-द्रवित माँ, तुम वात्सल्यमयी हो, मुझ वत्स पर कृपा करो। मुझ अबोध उपासक में देहाभिमान भरा हुआ है। तुम्हारी उपासना का आनन्द निर्झर भी मेरे हृदय में फूटता है। हे परब्रह्मस्वरूपिणि, तुम आनन्दरूपिणी भी हो। इसी आनन्दीभाव से भव्य माँ तुमसे मेरी यही प्रार्थना है कि, मेरे चित्त का ऐकरस्यत्व तुमसे सम्पादित कर दिया जाय। अर्थात् हे आनन्दमयी माँ, मेरे चित्त में चिरन्तनरूपा तुम्हारे आनन्द का उल्लास मङ्गलमयी

चारुता भर दे। ध्यान में तुम्हारी एकरूपता सिद्ध हो जाय। मेरी चिति शक्ति में ऊर्जा भर दे। वह तुम्हारे अस्तित्व के परिवेश में मेरी संवित्ति की स्फुरत्ता जागृत कर दे। यह अनुष्टुप् छन्दों में व्यक्त आनुष्टुभी विद्या है।।२८।।

चतर्थम् अमृतेशीमन्त्रमाह

अथो वाचो 'ब्लूं झौ'मिति 'जूंसः' इति चोक्त्वा अमृते अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहेति चतुर्थो मन्त्रः ।।२९।।

वाचम् ऐं, अतिद्वयं चोक्त्वेति च त्यक्त्वा शेषं मन्त्रस्वरूपम्। हे अमृते अस्मिन् द्रव्ये अमृतं स्रावय इति। शेषाण्यमृते इत्यस्य विशेषणानि।।२९।।

आनुष्टुभी, तीन महाविद्याओं के बाद यहाँ अमृतेशी विद्या का कथन कर रहे हैं। इस मन्त्र में अर्थात् ऐं बीज, पुनः 'ब्लूं' बीज पुनः 'झौं' बीज, का प्रयोग करना चाहिये। तीनों बीज मन्त्रों के प्रयोग के बाद 'अमृते अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहा' इस मन्त्रांश का प्रयोग करते हैं। इस मन्त्र का आनन्दवादी रूप महत्त्वपूर्ण माना जाता है।।२९।।

पञ्चमं मन्त्रमुद्धरति

वाग्भवो वद वद ततो वाग्वादिनि वाङ्मदनक्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदय महाक्षोभं कुरुयुगलं मादनं शक्तिर्मोक्षं कुरु कुरु शब्दैः सहचतुर्दशपञ्चदशपिण्डः सहचतुर्दशषोडशपिण्डश्चेति पञ्चमीयं विद्यैताभिः अभिमन्त्र्य ज्योतिर्मयं तदर्घ्यं विधाय ।।३०।।

वाग्भवः ऐं। वाक् ऐं। मदनः क्लीं। कुरुयुगलं द्विवारं कुर्वित्युच्चार्य। मादनं क्लीं। शक्तिः सौः। अचां चतुर्दशः औ। पञ्चदशः अनुस्वारः। पिण्डः समुदायः। षोडशो विसर्गः। तथा च मन्त्रस्वरूपम् 'ऐं वद वद वाग्वादिनि ऐं क्लीं क्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदय महाक्षोभं कुरु कुरु क्लीं सौः मोक्षं कुरु कुरु हसौं स्हौः।' इतीयं पञ्चमी विद्या। एताभिः पञ्चभिः अभिमन्त्र्य ज्योतिर्मयं निर्दोषं तदर्घ्यं विधाय।। ।।

वाग्भव और वाक् ये दोनों कूट शब्द हैं। इनसे 'ऐं' बीज का बोध होता है। इसी तरह मदन और मादन इन दोनों शब्दों से 'क्लीं' बीज का बोध होता है। शक्ति शब्द से यहाँ 'सौः' परा बीज का बोध होता है। स्वर सोलह होते हैं। इनका चौदहवाँ अक्षर 'औ' चतुर्दश धाम माना जाता है। पन्द्रहवाँ अनुस्वार और सोलहवाँ विसर्ग है। इन सबको मिलाकर जो मन्त्र बनता है, वह संस्कृत व्याख्या में हैं। इसे ध्यान से स्पष्ट उच्चारणपूर्वक अर्घ्य जल का प्रोक्षण होता है। इस मन्त्र को पञ्चमी ज्योतिर्मयी विद्या भी कहते हैं।।३०।।

तत्पात्रस्थबिन्दुभिः करणीयकृत्यमाह

तद्बिन्दुभिस्त्रिशः शिरसि गुरुपादुकामिष्ट्वा आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहेति तद्बिन्दुमात्मनः कुण्डलिन्यां जुहुयात् ।।३१।।

तद्बिन्दुभिर्विशेषार्घ्यं बिन्दुभिस्त्रिशः त्रिवारं शिरसि द्वादशान्तस्थाने गुरुपादुकामिष्ट्वा गुरुपादुकोद्देशेन द्रव्यदानं कृत्वा 'आर्द्रं ज्वलति' इति स्वाहान्तमन्त्रेण तद्बिन्दुं गुरुपादुकायागशेषबिन्दुमित्यर्थः। आत्मनः स्वस्य कुण्डलिन्यां चिद्वह्नौ, जुहुयाद् इत्यनेन अस्मिन् कर्मणि होमबुद्धिं दृढा कार्या ।।३१।।

विशेष अर्घ्य जल के बिन्दुओं से तीन बार शिरोभाग के द्वादशान्त स्थान में गुरुपादुका के उद्देश्य से अन्तर्याग कर 'आर्द्रं ज्वलति' से लेकर 'स्वाहा' पर्यन्त निर्दिष्ट मन्त्र से अर्घ्य के जल से ही अपनी कुण्डलिनी शक्ति की चिदग्नि में हवन करें।

यह सूत्र श्रीविद्या-साधना की सर्वातिशायिनी दशा का शब्दचित्र प्रस्तुत करता है। साधक की अहंता में इदन्ता का अवसान हो गया है। वह ब्रह्ममयी मधुमती भूमिका में प्रवेश पा गया है। उसकी कुण्डलिनी की चिदग्नि से उसका चिदाकाश प्रकाशमान हो रहा है। साधक की चेतना में 'श्री' का अवतरण अध्येता की अन्तर्दृष्टि में साक्षात् होता हुआ प्रतीत हो रहा है।।३१।।

एतदर्घ्यशोधनमिति शिवम् ।।३२।।

एतत् कुण्डलिन्यां जुहुयाद् इत्यन्तं कर्म अर्घ्यशोधनम् अर्घ्यसंस्कारः। शिवमित्यनेन अर्घ्यप्रकरणसमाप्तिः सूचिता।।३२।।

।। इति श्रीपरशुरामकल्पसूत्रे श्रीरामेश्वरनिर्मितायां सौभाग्योदयनाम्न्यां परशुरामकल्पसूत्रावृत्तौ (मुख्यांशमात्रायां) श्रीक्रमो नाम तृतीयः खण्डः सम्पूर्णः ।।

अर्घ्य विधि एक असामान्य महत्त्व की विधि है। कुण्डलिनी होमरूप आध्यात्मिक याग से पूर्णतया अर्घ्यसंस्कार सम्पन्न होता है और प्रकरण भी पूर्ण होता है।।३२।।

।। श्रीरामेश्वरकृत मुख्यांश सौभाग्योदयवृत्तिसहित
डॉ. परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य-समन्वित
श्रीपरशुरामकल्पसूत्र का श्रीक्रम नामक तृतीय खण्ड परिपूर्ण ।।३।।

।। शुभं भूयात् ।।

ललिताक्रमः

[चतुर्थः खण्डः]

हृदि स्थिताया देवतायाः श्रीचक्रे आवाहनप्रकारं दर्शयितुमुपक्रमते

अथ हृच्चक्रस्थितामन्तस्सुषुम्णा-पद्माटवीनिर्भेदन-कुशलां निरस्तमोहतिमिरां शिवदीपदीप्तिमाद्यां संविदं वहन्नासापुटेन निर्गमय्य लीलाकलितवपुषं तां त्रिखण्डमुद्राशिखण्डे कुसुमाञ्जलौ हस्ते समानीय ।।१।।

अथेति क्रमविशेषद्योतकम्। हृच्चक्रम् अनाहतं तत्र स्थिताम्। अन्तः सुषुम्णायां यानि पद्मानि तेषामटवी दुर्गमं वर्त्म तस्य निर्भेदनं गमनानुकूलवर्त्म-सम्पादनं तद्विषये कुशलाम्, निरस्तो दूरीकृतो मोहोऽज्ञानं तदेव तिमिरं यया ताम्। शिवात्मको यो दीपस्तस्य दीप्तिं प्रकाशरूपाम्। यथा दीपप्रभयो-रविनाभावसम्बन्धः, एवं शिवशक्त्योरप्यविनाभावः सूचितः। आद्याम् अपरि-च्छिन्नां संविदं नासापुटेन वहन्। लीलया स्वेच्छामात्रेण आकलितं स्वीकृतं वपुषं त्रिखण्डा जन्ममृत्युजरा, यद्वा सत्त्वरजस्तमोगुणान् खण्डयतीति केवलमोक्षप्रदेत्यर्थः। यद्वा त्रीणि खण्डानि इच्छाज्ञानक्रियाऽऽत्मिका। मोदनाद् द्रावणाद्वा मुद्रा तया शिखण्डिते। अञ्जलौ हस्ते समानीय।।१।।

श्रीचक्र में जिस देवता की पूजा की जाती है, वह हृदय में शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित परा देवता ही है। उसी का आवाहन श्रीचक्र में करते हैं। तत्पश्चात् उसकी पूजा की जाती है। इसी आवाहन प्रकार के वर्णन का उपक्रम यहाँ कर रहे हैं।

अथ शब्द ललिताक्रम के द्योतन के प्रारम्भ अर्थ में यहाँ प्रयुक्त है। हृच्चक्र अनाहत को कहते हैं। (वस्तुतः हृत् शरीर का परा केन्द्र है। मेरुदण्ड के मध्य

में यह रहता है। अनाहत उसकी छाया है)। मेरुदण्ड में अवस्थित हृत् केन्द्र में सुषुम्ना के आन्तर पद्म का दुर्गम पथ योगियों की साधना से ही प्रकाशित होता है। साधना के अभाव में ही उसे 'अटवी' कहा जा सकता है। उस अटवी का भेदन माँ के अनुग्रह पर ही निर्भर करता है। इस भेदन प्रक्रिया में वही कुशल है। हृदय केन्द्र से सहस्रार तक की यात्रा में गमन के अनुकूल पथ सम्बन्धी सारी साधन सुविधाओं को देने में एकमात्र अधिकारिणी परमाम्बा का अनुग्रह निरन्तर अपेक्षित होता है।

मोह, अज्ञान के अन्धकार से उत्पन्न होने वाला माया का मोहक पुत्र माना जाता है। यह अज्ञता को और भी घना बना देता है। ऐसे अन्धतमस् का विनाश माँ ही कर सकती है और साधक की विनम्र पुकार के सुनते ही उसे तुरत निरस्त कर देती है। उसका परिचय भौतिक स्तर के उपासक दीप की दीप्तिरूप आभा को देखकर पा सकते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि, दीप और दीप्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है। जहाँ दीप की लौ जलेगी, आभा अपनी चमक चारों ओर फैलाकर ही रहेगी, उसी तरह भगवान् का अस्तित्व शाश्वत रूप से विश्व में व्याप्त है। यह व्यापक शिव का स्वरूप है। शिव की व्याप्ति ही शैवमहाभाव की दीप्ति है। अत: शिव और माँ भगवती शक्ति का भी अविनाभाव सम्बन्ध है। यह बात साधक उपासक को अपने मन में बिठला लेनी चाहिये। उस शक्ति को आद्या संविद् अपरिच्छिन्न चिति कहते हैं।

उस आद्या शक्ति को ही प्राणापानवाह के माध्यम से साधक अनुशासित रूप से वहन करता है। श्वास प्रक्रिया का महत्त्व जीवधारियों के लिये तो है ही; किन्तु योगी श्वास साधना में संलग्न रहकर प्रतिपल परमाम्बा का वात्सल्य पीयूष पीता रहता है। इस श्वास के निर्गमन में जीवन का रहस्य निहित रहता है। यह सोचने की बात है कि, अपान चन्द्र पर चढ़कर प्राण का सूरज भी शरीर से निर्गमन व्यापार के माध्यम से बाहर आ जाता है। उस समय शरीर में श्वास नहीं रहता है। वह शरीर से बाहर मध्य द्वादशान्त में समा जाता है। ज्योतिष शास्त्र में जब सूर्य-चन्द्र दोनों अस्त होते हैं। तो अमावास्या होती है। तन्त्र, जब प्राणापानरूप रवि-सोम अस्त होकर मध्य द्वादशान्त में समा जाते हैं, तो उस बिन्दु को अमा-केन्द्र कहता है। अमा-केन्द्र ही जीवन का उत्स है। वहाँ महाशैव-सद्भाव की व्याप्ति भी मानते हैं। योगी साधक लीलापूर्वक

अर्थात् अपनी स्वतन्त्रता शक्ति के बल पर इसे आकलित अर्थात् स्वीकार करते हैं। शरीर में योगी ऐसे शिव का प्रति श्वास में साक्षात्कार करता है। प्रति श्वास के प्रथम उन्मेष को प्रतिपदा कहते हैं। यह शैव दीप की दीप्ति मानी जाती है। प्रतिपदा से पूर्णिमा तक कृष्णपक्ष तन्त्र की दृष्टि से मानते हैं और यही शाक्त व्याप्ति है। श्वास के उद्गम-निर्गम रूप एक प्राणापानवाह में व्याप्त इस रूप का साक्षात्कार करने में समर्थ व्यक्ति ही श्रीचक्र की साधना कर सकता है। इसलिये श्रीविद्या-साधना का अधिकार प्राप्त करना इसकी पहली शर्त है।

ऐसे शिवदीपदीप्ति-रूप शिव-शक्ति के इस अविनाभावी रूप को साधक अपने हाथ की फूलों से भरी अंजुलि में आवाहित करने में सफल हो जाता है। यह अंजुलि भी त्रिखण्ड मुद्रा शिखण्डित होती है। त्रिखण्ड पारिभाषिक शब्द है। मुद्रा शब्द भी मोदन और द्रावण के अन्वर्थ से विभूषित है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप तीन खण्डों में क्रिया शक्ति विश्वामर्श में मोदन और द्रावण व्यापार को शिखण्डित अर्थात् ग्रथित करती है।

जन्म, मृत्यु और जरा, अथवा सत्त्व, रज और तम आदि तीन अन्य खण्ड भी माने जा सकते हैं। इनको खण्डित करने वाली अर्थात् केवल मोक्षप्रदा मुद्रा ही त्रिखण्ड मुद्रा मानी जा सकती है। योगिनीतन्त्र के अनुसार चिदात्म भित्ति में विश्व का प्रकाश और विमर्श स्वेच्छा से करने वाली पूर्ण विचिकीर्षा से समन्वित क्रियाशक्ति ही मोदन और द्रावण करने के कारण मुद्रा मानी जाती है। यही त्रिखण्डा भी मानी जाती है। यह क्रियाशक्ति का अदृष्ट रूप है। बाह्य रूप में वह कुसुमाञ्जलिपूर्ण हाथ में ही आवाहित की जाती है।।१।।

मायालक्ष्मीपरा उच्चार्य देवी नाम चामृतचैतन्यमूर्तिं कल्पयामि नम इति कल्पयित्वा ।।२।।

"माया ह्रीं, लक्ष्मी श्रीं, परा सौः। एवं बीजत्रयम् उच्चार्य देवी नाम शक्तिचक्रैकनायिकाया ललिताया: (च उच्चार्य) अमृतचैतन्यमूर्तिं कल्पयामि नमः" इति त्रयस्त्रिंशद्वर्णो मन्त्रः। तन्मन्त्रमुच्चार्य देवीं कल्पयित्वा।।२।।

इस सूत्र में पूर्व स्वीकृत त्रितारी का ग्रहण नहीं किया गया है। परम्परानुसार उसे लगाकर पूरा मन्त्र इस प्रकार बनता है—"ऐं ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं सौः शक्तिचक्रैकनायिकाया ललिताया अमृतचैतन्यमूर्त्ति कल्पयामि नमः" यह ३३

वर्णों का महत्त्वपूर्ण मन्त्र माना जाता है। इस सूत्र के अनुसार यह सिद्ध होता है कि, सर्वप्रथम इस मन्त्र से मूर्त्ति-प्रकल्पन करने के बाद उपासक उस कल्पित मूर्त्ति को नासापुट से बाहर करता है और उसे फूलों से भरी अंजलि वाले हाथों में समानयन करता है। यही क्रम परम्पराप्राप्त क्रम है।।२।।

हसरयुजं वाचं हसयुक्तां कलरीं हसरचतुर्दशषोडशानप्युच्चार्य,

महापद्मवनान्तःस्थे कारणानन्दविग्रहे।

सर्वभूतहिते मातरेह्येहि परमेश्वरि।।

इति बैन्दवचक्रे परचितिमावाह्य।।३।।

हश्च सश्च रश्च तैर्युतं वाचं 'हस्त्रैं'। हश्च सश्च आभ्यां युक्तो ककारलकार-रेफेकार-बिन्दुसमुदायः 'हस्क्लरीं'। तथा हश्च सश्च रश्च, चतुर्दश औकारः षोडशो विसर्गः 'हस्त्रौः' इति एतानुच्चार्य परमेश्वरीत्यन्तं यथासूत्रं पठित्वा बिन्दुचक्रे परचितिमावाहयेत्।।३।।

सूत्र के अनुसार पूरा मन्त्र 'ऐं ह्रीं श्रीं हस्त्रैं हस्क्लरीं हस्त्रौः' बनता है।

महापद्मवनान्तःस्थे कारणानन्दविग्रहे। सर्वभूतहिते मातरेह्येहि परमेश्वरि।।

उक्त मन्त्र के साथ यह श्लोक भी बोलते हैं। तब पूरा मन्त्र बनता है। श्लोकार्थ के सम्बन्ध में सेतुबन्ध का दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है। वह महापद्मवन को सहस्रार मानता है। कारणानन्द अपरिच्छिन्न आनन्द है। यह अनुत्तर परमशिव का स्वातन्त्र्य है। माँ ललिताम्बा का विग्रह उसी में उल्लसित है। ऐसी वात्सल्य-मयी परमेश्वरी माँ का बीजमन्त्रों के रथ पर आवाहन उपासक की अनुभूति का विषय है।।३।।

चतुष्षष्ट्युपचारविधिः

चतुष्षष्ट्युपचारान् कुर्यात्। सर्वे उपचारमन्त्राः। त्रितारी पूर्वाः कल्पयामि नम इत्यन्ताः कर्त्तव्याः ।।४।।

चतुष्षष्ट्युपचारमध्ये एकस्याप्ययो मा भवत्वित्यत्रैव तात्पर्यम्। उपचारपदार्थश्च कल्प्यमानद्रव्येण सुखविशेषः, तं कुर्याद् उत्पादयेद् इत्यर्थः। शेषं स्पष्टम्।।४।।

पाँचवाँ सूत्र चौंसठ उपचारों का निर्देश करता है। यह सूत्र उसी सूत्र का पूरक है। यह आज्ञा देता है कि, इन सभी उपचारों का प्रयोग आवश्यक है। इनके सभी मन्त्रों से पूर्व त्रितारी (ऐं ह्रीं श्रीं) का प्रयोग अनिवार्यत: आवश्यक है तथा 'कल्पयामि नम:' तक मन्त्र पूरे होते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि, मन्त्र के माध्यम से वस्तु-समर्पण द्वारा आराध्य को जो सुख मिलता है, उसे उपचार कहते हैं।।४।।

त्रितारीमुच्चार्य पाद्यं कल्पयामि नम इति क्रमेण आभरणावरोपणं सुगन्धितैलाभ्यङ्गं मज्जनशालाप्रवेशनं मज्जनमण्डपमणिपीठोपवेशनं दिव्यस्नानीयोद्वर्त्तनम् उष्णोदकस्नानं कनककलशच्युतसकलतीर्थाभिषेकं धौतवस्त्रपरिमार्जनम् अरुणदुकूलपरिधानम् अरुणकुचोत्तरीयमालेपमण्डपप्रवेशनमालेप-मण्डपमणिपीठोपवेशनं चन्दनागुरु-कुङ्कुमसङ्कमृगमदकर्पूरकस्तूरी-गोरोचनादिदिव्यगन्धसर्वाङ्गीणविलेपनं केशभरस्य कालागुरुधूपं मल्लिकामालतीजाती-चम्पकाशोकशतपत्रपूगकुड्मलीपुन्नाग-कह्लार-मुख्यसर्वर्तुकुसुममालां भूषणमण्डपप्रवेशनं भूषणमण्डपमणिपीठोपवेशनं नवमणिमुकुटं चन्द्रशकलं सीमन्तसिन्दूरं तिलकरत्नं कालाञ्जनं पालीयुगलं मणिकुण्डलयुगलं नासाभरणम् अधरयावकं प्रथमभूषणं कनकचिन्ताकं पदकं महा-पदकं मुक्तावलिम् एकावलिं छन्नवीरं केयूरयुगलचतुष्टयं वलयावलिम् ऊर्मिकावलिं काञ्चीदाम-कटिसूत्रं सौभाग्याभरणं पादकटकं रत्ननूपुरं पादाङ्गुलीयकम् एककरे पाशम् अन्यकरे अङ्कुशम् इतरकरे पुण्ड्रेक्षुचापम् अपरकरे पुष्पबाणान् श्रीमन्माणिक्यपादुके स्वसमानवेषाभिरावरणदेवताभिः सह महाचक्राधिरोहणं कामेश्वराङ्कपर्यङ्कोपवेशनम् अमृतासवचषकम् आचमनीयं कर्पूरवीटिकाम् आनन्दोल्लासविलासहासं मङ्गलारार्त्तिकं छत्रं चामरयुगलं दर्पणं तालवृन्तं गन्धं पुष्पं धूपं दीपं नैवेद्यं कल्पयामि नम इति चतुष्षष्ट्युपचारान् विधाय ।।५।।

अत्र सामान्यपरिभाषयैव त्रितारीसिद्धौ पुनर्विधानं तदवयवत्वं ज्ञापयति। शेषं स्पष्टम्। क्रमेण इत्यनेन पाद्यमिति स्थाने आभरणावरोपणादि-पदोच्चारणं

ज्ञापयति। स्नानीयोद्वर्त्तनं शरीरलग्नस्नेहवियोगसाधनं सुगन्धिचूर्णविशेषः। कुचोत्तरीयं कञ्चुकम्। आलेपः सुगन्धिद्रव्यशरीरसंयोगः। कुङ्कुमं काश्मीरम्। सङ्कुः वृक्षविशेषः। मृगमदः कस्तूर्यवान्तरभेदः। मल्लिकामालतीत्यादिना षड्ऋतुसमुद्भवकुसुमानि। पाली कर्णभूषणम्। प्रथमभूषणं मङ्गलसूत्रम्। पदकं कण्ठभूषणम्। मुक्तावलिः एकावलिर्माला। छन्नवीरं भूषणम्। वलयावलिः कङ्कणभूषणम्। ऊर्मिका अङ्गुलिभूषणम्। आयुधान्याह—पुण्ड्रेक्षुतः पुष्पबाणपर्यन्तानि। अमृतासवो मद्यम्। कर्पूरवीटिकादयः।।५।।

सामान्यतया श्रीविद्या-साधना के परम्पराप्राप्त मन्त्रों में त्रितारी का प्रयोग अवश्य करते हैं। इस सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है। इससे यह सूचित हो रहा है कि, इस प्रक्रिया का अवयवरूप ही त्रितारी बीज मन्त्र है। इनका उच्चारण कर 'पाद्यं कल्पयामि' यह कहना चाहिये। बार-बार 'ललिताम्बायै नमः' यह उच्चारण आवश्यक नहीं किन्तु सुविधानुसार सभी उपचारों के साथ कहने में कोई दोष भी नहीं। जैसे 'ऐं ह्रीं श्रीं पाद्यं कल्पयामि ललिताम्बायै नमः' यह मन्त्र पाद्य के साथ बोलते हैं, उसी तरह 'आभरणं कल्पयामि' के साथ भी उच्चारण करते हैं। यह प्रक्रिया क्रमशः चौंसठ उपचारों के साथ भी अपनायी जानी चाहिये। शेष क्रम स्पष्ट है।

सूत्र में प्रयुक्त मुख्य शब्दों के अर्थ जानना भी आवश्यक है। जैसे—

१. स्नानीयोद्वर्त्तन—सुगन्धित उबटन। इसे लगाकर नहाने से शरीर में पसीने आदि की तैलिकता नष्ट हो जाती है।

२. कुचोत्तरीय—कञ्चुकरूप स्तनाच्छादक परिधान।

३. आलेपमण्डप—वह स्थान या कक्ष जहाँ माँ परमाम्बा के शरीर पर सुगन्धि लेप कर मालिश की जाती है।

४. कुङ्कुम—काश्मीर में उत्पन्न रञ्जक द्रव्य।

५. सङ्कु—विशेष वृक्ष जिसका चूर्ण उपलेप में काम आता है।

६. मृगमद—कस्तूरी का एक भेद।

७. सर्वाङ्गीण—सभी अङ्गों में लगाने योग्य।

८. कालागुरु—इसका धूप केशराशि को काला करता है।

९. मल्लिकामालती—आदि छः ऋतुओं में होने वाले पुष्पों के ये प्रतीक संज्ञा शब्द हैं।

१०. सीमन्त—'माँङ'संज्ञक शिर पर दोनों ओर केश करने से उभरी सीधी रेखा जो मध्य में होती है।

११. तिलकरत्न—तिलक के स्थान पर रत्न।

१२. पाली—कपोलपाली को सजाने वाली कान की बाली।

१३. अधरयावक—होठों के रँगने का रंग, महावर।

१४. प्रथमभूषण—मङ्गल-सूत्र।

१५. पदक—कण्ठभूषण।

१६. महापदक—कण्ठा।

१७. मुक्तावलि—मुक्ता-माला।

१८. एकावलि—२७ मणियों की बाली या माला।

१९. छन्नवीर—दो भागों में बाँटने वाली छाती की माला।

२०. केयूर—बाहु के कड़े।

२१. वलयावलि—माला।

२२. ऊर्मिकावलि—घुँघुरुओं वाली माला।

२३. काञ्ची—करधनी।

२४. सौभाग्याभरण—जघनों पर लटकने वाले झुमके।

२५. पादकटक आदि—पैर के आभूषण आयुध—

१. पुण्ड्रेक्षु—गन्ना।

२. पुष्पबाण—पुष्प के बने पाँच फूलों में काम बाण।

३. पाश—बाँधने का रज्जु।

४. अंकुश—अंकुश (बरछी)।

आधार वस्तु–

१. पादुका—दो खड़ाऊँ

२. महाचक्र—जहाँ देवियों के साथ माँ आरोहण करती हैं।

३. कामेश्वराङ्कपर्यङ्क—शक्ति की पर्यङ्क शक्तिमान् की गोद ही होती है।

पेय–

४. अमृतासव—द्राक्षासव मिला विशिष्ट मद्य।

५. आचमनीय—जल, जिसे विशेष रूप से माँ के पीने के लिये बनाया जाता है।

उल्लासक साज-सज्जा–

१. हास्य और विनोद के साधन।

२. आरार्त्तिक्य—आरती।

३. छत्र, चामर आदि।

शृङ्गारसाधन–

१. दर्पण—मुख देखने का साधन (मुकुर)।

२. तालवृन्त—व्यजन। पञ्चोपचार में इसकी भी आवश्यकता होती है।

३. १. गन्ध, २. पुष्प, ३. धूप, ४. दीप, ५. नैवेद्य।

ये सब मिलाकर चौंसठ उपचार होते हैं। त्रितारी के साथ द्वितीयान्त संज्ञावाचक उपचारों के नाम बोलकर 'कल्पयामि नमः' यह मन्त्रात्मक प्रयोग करना चाहिये।।५।।

नवमुद्राप्रदर्शनम्

नवमुद्राश्च प्रदर्श्य ।।६।।

नवमुद्राः संक्षोभिण्यादि-योन्यन्ताः। चकारेण दशमीं त्रिखण्डां च प्रदर्श्य। देव्या इति शेषः ।।६।।

मुद्रायें यद्यपि कई प्रकार की होती हैं। जैसे—गुरुवन्दन मुद्रा, अर्घ्यस्थापन मुद्रा, अर्चन मुद्रा आदि; किन्तु यहाँ १. संक्षोभिणी, २. विद्राविणी, ३. आकर्षणी, ४. सर्ववशङ्करी, ५. सर्वोन्मादिनी, ६. महाङ्कुशा, ७. खेचरी, ८. सर्वबीजा और ९. योनि मुद्राओं रूप नव मुद्राओं की ही प्रायोगिकता का निर्देश किया गया है। सूत्र में 'च' अव्यय के प्रयोग से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि, त्रिखण्डा मुद्रा का प्रयोग भी यहाँ करना चाहिये। इस तरह दश

मुद्राओं का ही प्रदर्शन यहाँ होना चाहिये। मुद्राओं के नाम के साथ 'सर्व' शब्द के प्रयोग की भी प्रथा है। इन दशों के अतिरिक्त ग्रास, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाराच और चक्र मुद्रायें भी इसी वर्ग में आती हैं।।६।।

त्रिधा सन्तर्पणम्

मूलेन त्रिधा सन्तर्प्य ।।७।।

बिन्दाविति शेषः।।७।।

सूत्र में सन्तर्पण का ही निर्देश है। सर्वप्रथम मूल बीज का उच्चारण और इसके बाद तीन बार 'सन्तर्पयामि नमः' यह वाक्य प्रयोग किया जाता है। यहाँ पूजन का विधान नहीं है। सन्तर्पण में बूँद मात्र का प्रक्षेप किया जाता है। पूजा में बिन्दु, पुष्प और अक्षत का प्रयोग भी किया जाता है। यहाँ श्रीक्रम के प्रकरण में मूल बीजमन्त्र गुरु द्वारा जानकर प्रयोग करना चाहिये।।७।।

षडङ्गपूजनमाह

देव्या अग्नीशासुरवायुषु मध्ये दिक्षु च षडङ्गानि पूजयित्वा ।।८।।

अत्र पूजनं नाम पुष्पाक्षतबिन्दुप्रक्षेप एव, न तु पञ्चोपचाराद्यर्पणरूपम्। तस्मात् पूर्ववाक्ये तर्पणम्। पूजापदार्थश्च बिन्दुपुष्पाक्षतसमुदायप्रक्षेपः। इत्थम् आदौ 'त्रितारी ततो हृन्मन्त्रस्ततो हृदयशक्ति-श्रीपादुकां पूजयामि' इति मन्त्रस्वरूपं ज्ञेयम्। अग्नीशेत्यत्र अग्न्यादिपदेन तत्तद्देवतासम्बन्धिदिशां ग्रहणम्। दिक्षु इत्यनेन प्रागादिदिक्चतुष्टयग्रहणम्। षडङ्ग-युवतीनाम् अग्न्यादि-चतस्रो विदिशः। मध्यं प्रागादिदिक्चतुष्टयं मिलित्वैकम्, इति षट् स्थानानि ज्ञेयानि ।।८।।

यहाँ पूजन-क्रम में बिन्दुपुष्पाक्षत का प्रयोग करना चाहिये। पहले यह बतलाया गया है, कि तर्पण में केवल बिन्दुओं का ही उपयोग किया जाता है। यहाँ पूजन में पञ्चोपचार आदि उपचारों का प्रयोग नहीं होता। तर्पण और

पूजन के इस अन्तर को समझकर ही इस प्रक्रिया में प्रवृत्त होना चाहिये, इस तरह आदि में त्रितारी, पुनः हृन्मन्त्र पुनः हृद् शक्ति 'श्रीपादुकां पूजयामि' कहने से एक मन्त्र पूरा होता है। यही मन्त्र का स्वरूप है।

सूत्र में अग्नि आदि दिशाओं का उल्लेख किया गया है। इन दिशा-कोण वाचक शब्दों से उन-उन देवताओं से सम्बन्धित दिशाओं का ग्रहण होता है। षडङ्ग देवियों की ये चार दिशायें विदिशा कहलाती हैं। जहाँ तक मध्य का प्रश्न है, मध्य वह बिन्दु है, जहाँ प्राची आदि चारों दिशायें एक बिन्दु पर मिलती हैं, वही बिन्दु-मध्य कहलाता है। इस प्रकार छः स्थान और षडङ्गपूजा सम्पन्न होती है। छः स्थान इस प्रकार माने जाते हैं—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर चारों मिलकर १ चार विदिशाएँ +१ मध्य = १+४+१=६ अङ्ग माने जाते हैं। ये ही स्थान भी हैं।।८।।

नित्यापूजनम्

१. वाक्सकलह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे 'सौः' इति कामेश्वरी सर्वत्र नित्याश्रीपादुकेति योज्यम्। २. वाग्भगभुगे भगिनि भगोदरि भगमाले भगावहे भगगुह्ये भगयोनि भगनिपातिनि सर्वभगवशङ्करि भगरूपे नित्यक्लिन्ने भगस्वरूपे सर्वाणि भगानि मे ह्यानय वरदे रेते सुरेते भगक्लिन्ने क्लिन्नद्रवे क्लेदय द्रावय अमोघे भगविच्चे क्षुभक्षोभय सर्वसत्त्वान् भगेश्वरि ऐं ब्लूं जें ब्लूं में ब्लूं मों ब्लूं हें ब्लूं हें क्लिन्ने सर्वाणि भगानि मे वशमानय स्त्रीं हर ब्लें ह्रीं भगमालिनी। ३. तारो माया नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा इति नित्यक्लिन्ना। ४. प्रणवः क्रों भ्रों क्रौं झ्रौं छ्रौं ञ्रौं स्वाहा, इति भेरुण्डा। ५. प्रणवो माया वह्निवासिन्यै नम इति वह्निवासिनी। ६. मायाक्लिन्ने वाक् क्रों नित्यमदद्रवे ह्रीं, इति महावज्रेश्वरी। ७. माया शिवदूत्यै नमः, इति शिवदूती। ८. प्रणवो माया हुं खे चे छे क्षः स्त्रीं हुं क्षें ह्रीं फट् इति त्वरिता। ९. कुमारी कुलसुन्दरी। १०. हसकलरडवाग्भव ह स क ल र ड बिन्दुमालिनी। ह स क ल र ड चतुर्दशषोडशा इति नित्या। ११. माया फ्रें स्त्रूं अंकुश

पाशस्मर वाग्भव ब्लूं पदनित्यमदद्रवे वर्म फ्रें मायेति नीलपताका। १२. भमरयऊमिति विजया। १३. स्वौमिति सर्वमङ्गला। १४. तारो नमो भगवति ज्वालामालिनि देवदेवि सर्वभूतसंहार-कारिके जातवेदसि ज्वलन्ति ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल त्रिजातियुक्त मायारेफसप्तकज्वालामालिनि वर्मफडग्निजायेति ज्वालामालिनी। १५. (अं) च्कौं इति चित्रा। इति पञ्चदश नित्याः। प्रथमत्र्यस्त्ररेखा-स्थितपञ्चदशस्वरेषु पूज्याः, विसृष्टौ षोडशीं मूलविद्यया चाभ्यर्च्य ।।९।।

वाक् ऐं। शेषं यथापठितम्। मन्त्रान्ते सर्वत्र तत्तन्नित्यानाम। तदुत्तरं अष्टाक्षरी-योगः। यथा आदौ त्रितारी ऐं सकल ह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे सौः कामेश्वरी नित्या श्रीपादुकां पूजयामि नम इति। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्। यद्यपि श्रीपादुकेत्यष्टाक्षरीयोगः सामान्यवचनप्राप्तः, तथापि नित्यापदघटि-तत्वेनाप्राप्तत्वात् तदर्थ आरम्भः सर्वत्र नित्यापूजनमन्त्रेषु।

द्वितीयामाह—वागिति। तृतीयामाह—तार इति। तारः प्रणवः। माया ह्रीं। शेषं यथाश्रुतं पठनीयम्। चतुर्थमाह—प्रणव इति स्वाहेत्यन्तेन। पञ्चमीमाह—प्रणव इति नम इत्यन्तेन। षष्ठमाह—मायेति ह्रीमित्यन्तेन। सप्तममाह—मायेति नम इत्यन्तेन। अष्टममाह—प्रणव इति फडित्यन्तेन। नवममाह—कुमारीति। कुमारी बाला सैव कुलसुन्दरीत्यर्थः। दशममाह—हसेति-षोडशा इत्यन्तेन। (तन्मन्त्रः—ह्रस्क्ल्र्ड्रैं ह्रस्क्ल्र्ड्रीं ह्रस्क्ल्र्ड्रौः नित्यानित्याश्रीपादुकां पूजयामि नमः) एकादशमाह—मायेत्यारभ्य मायेत्यन्तेन। (आद्यानि त्रीणि बीजानि स्पष्टानि। अङ्कुशः क्रोमिति। पाशः आमिति। आदिरकारः। तस्यान्तः आकारः। कामः ककारः। अग्नीरेफः। व्यापकः प्रणवः। मिलित्वा क्रोमिति, स्मरः क्लीं। वाग्भवः ऐं। वर्म हुं। इत्थं च ह्रीं फ्रैं स्त्रूं क्रों आं क्लीं ऐं ब्लूं नित्यमदद्रवे हुं फ्रें ह्रीं नीलपताका नित्या श्रीपादुकां पूजयामि नम इति तन्मन्त्रः) द्वादशमाह—भमरयऊं (भ्मर्यूम् इति मन्त्रस्वरूपम्)। त्रयोदशमाह—स्वौमिति। चतुर्दशमाह—तार इति।

त्रिजातियुक्त- माया ह्रां ह्रीं ह्रूं। वह्निजाया स्वाहा। पञ्चदशमाह—अं च्कौमिति। प्रथमत्र्यस्रं बिन्दुसमीपस्थं त्रिकोणम्। तत्रत्या या तिस्रो रेखास्तासु एकैकस्वरे एकैकनित्याः क्रमेण पूज्याः। विसृष्टिः बिन्दुचक्रम्।।९।।

नित्यायें १५ होती हैं। श्रीचक्र के बैन्दव कोण भी तीनों रेखाओं पर क्रमशः पश्चिम-ईशान रेखा पर 'अ आ इ ई उ' इन पाँच स्वरों की अवस्थिति होती है। ईशान-अग्निरेखा पर ऊ ॠ ॠॄ ऌ ऌॄ ये पाँच स्वर रहते हैं। अग्नि-पश्चिम रेखा पर ए, ऐ, ओ, औ तथा अं ये पाँच स्वर प्रतिष्ठित रहते हैं। इन्हीं स्वरों पर १५ नित्याओं का आवाहन-पूजन करना चाहिये। इस बिन्दु-चक्र को षोडशी मूलविद्या से पूजित करते हैं—

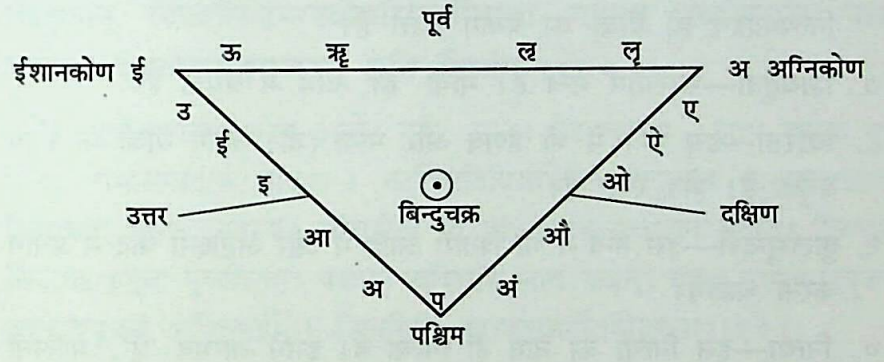

अ = अग्निकोण; अ-ई = अग्नि-ईशान रेखा; ई = ईशानकोण;
प = पश्चिम; प ई = पश्चिम-ईशान रेखा

नित्याओं के क्रमशः नाम

१. **कामेश्वरी**—कामेश्वरी नित्या के मन्त्र में वाक् शब्द 'ऐं' बीज के लिये प्रयुक्त है। पूरा मन्त्र स्पष्ट है। अन्त में सभी मन्त्रों में 'श्रीपादुकां पूजयामि नमः' का प्रयोग करना चाहिये।

२. **भगमालिनी**—इस नाम की नित्या देवी का मन्त्र सबसे बड़ा है। इस मन्त्र में भी वाक् शब्द 'ऐं' के लिये प्रयुक्त है। आदि में सभी मन्त्रों में त्रितारी का प्रयोग आवश्यक है। अन्त में सभी नित्याओं के साथ 'श्रीपादुकां पूजयामि' इस अष्टाक्षरी का प्रयोग कर नमः जोड़कर मन्त्र पूरा करते हैं।

३. **नित्यक्लिन्ना**—इसके मन्त्र में तार का अर्थ प्रणव और माया का अर्थ 'ह्रीं' है। शेष स्पष्ट है।

४. **भेरुण्डा**—इस नित्या के मन्त्र में भी तार शब्द प्रयुक्त है। यह प्रणववाचक है। शेष स्पष्ट है।

५. **वह्निवासिनी**—इसके मन्त्र में प्रणव के साथ माया अर्थात् 'ह्रीं' का प्रयोग करना चाहिये। वाक् की जगह 'ऐं' लगाना चाहिये। पूरा मन्त्र बनेगा 'ऐं ह्रीं श्रीं ह्रीं क्लिन्ने ऐं क्रों नित्यमदद्रवे ह्रीं महावज्रेश्वरी नित्या-श्रीपादुकां पू॰ ामि नमः'।

६. **वज्रेश्वरी**—इसके मन्त्र में माया (ह्रीं) क्लिन्ने के बाद वाक् (ऐं) क्रौं नित्यमद्रद्रवे ह्रीं बीजों का प्रयोग करते हैं।

७. **शिवदूती**—सरलतम मन्त्र है। माया 'ह्रीं' अर्थ में प्रयुक्त है।

८. **त्वरिता**—इस मन्त्र में भी प्रणव और माया (ह्रीं) अपने बीजों के लिये प्रयुक्त हैं। शेष स्पष्ट है।

९. **कुलसुन्दरी**—इस मन्त्र में भी त्रितारी आदि में और अष्टाक्षरी बाद में प्रयोग करना चाहिये।

१०. **नित्या**—इस नित्या का नाम ही नित्या है। इसमें वाग्भव 'ऐं', मालिनी 'ई' और चतुर्दश 'औ' स्वर के साथ षोडशतम स्वर विसर्ग लगाया जाना आवश्यक है। शेष सभी मन्त्रों के नियम इसमें भी प्रयोग में लाने चाहिये।

११. **नीलपताका**—इसके मन्त्र में माया 'ह्रीं' अङ्कुश 'क्रों' पाश 'आं' स्मर 'क्लीं' वाग्भव 'ऐं' वर्म 'हुं' माया 'ह्रीं' अर्थों में प्रयुक्त हैं।

१२. **विजया**—इसके मन्त्र में हल् वर्णों को एक साथ लिखना चाहिये। इस तरह उसका स्वरूप भ्मर्यूं या 'भ्मर्यूँ' ऐसा बनेगा। शेष नियम पूर्ववत् लगते हैं।

१३. **सर्वमङ्गला**—एक बीजमन्त्रात्मक इस मन्त्र के साथ भी त्रितारी, अष्टाक्षरी आदि प्रयोग आवश्यक हैं।

१४. **ज्वालामालिनी**—तार से अग्निजाया तक यह मन्त्र है। कुछ सिद्ध इसे 'लक्ष्मण-रेखा' मन्त्र कहते हैं। श्री लक्ष्मण को यह विद्या सिद्ध थी। सिद्धि

के आधार पर रेखा से ज्वालायें फूट पड़ती थीं। इसमें आदि में तार अर्थात् प्रणव लगता है। त्रिजातियुक्त माया की जगह ह्रां ह्रीं हूं ऐं और रेफसप्तक अर्थात् सात बार र लिखते हैं। वर्म 'हुं' और अग्निजाया अर्थात् अन्त में 'स्वाहा' लगाते हैं।

१५. **चित्रा**—एकाक्षर बीजमन्त्र में त्रितारी-अष्टाक्षरी योग आवश्यक है।

विसर्जन के लिये षोडशी विद्या का प्रयोग करना चाहिये।।९।।

ओघत्रयपूजामाह

मध्ये प्राक्त्र्यस्त्रमध्यान्त मुनिवेदनागसङ्ख्यान् यथासम्प्रदायं पादुकान् दिव्यसिद्धमानवौघसिद्धामिष्ट्वा पश्चात् स्वशिरसि नाथं यजेत्। एतल्लयाङ्गपूजनम् इति शिवम् ।।१०।।

पूर्वोक्तत्र्यस्त्रमध्यस्य अन्ते। मुनिः सप्त। वेद चत्वारः, अष्टौ संख्या यत्र तान्। यथासम्प्रदायं पादुकाः। कादिहादिविद्याभेदेन पादुकानां गुरुमण्डलानां भिन्नत्वाद् यस्य पुरुषस्य, परिगृहीता या याः पादुकास्तत्तल्लाभायेति। दिव्याश्च सिद्धाश्च इष्ट्वा पूजयित्वा। पश्चात् स्वशिरसि नाथं यजेत्। एतद् नवावरणपूजनं लाभाङ्गपूजनं भवितुमर्हति। शिवमिति खण्डसमाप्तियोजकम्।।१०।।

।। इति श्रीपरशुरामकल्पसूत्रे श्रीरामेश्वरनिर्मितायां सौभाग्योदयनाम्न्यां परशुरामकल्पसूत्रवृत्तौ (मुख्यांशमात्रायां) ललिताक्रमो नाम चतुर्थः खण्डः सम्पूर्णः।।४।।

पहले त्रिकोण की चर्चा की जा चुकी है। उसके मध्यभाग का वह अंश जो अपने सामने, सर्वाधिक सामीप्य का माना जा सके, वहाँ कादि-हादि-विद्या के सम्प्रदायानुसार सात, चार और आठ पादुकाओं का क्रम अपनाकर दिव्य, सिद्ध और मानव के ओघ अर्थात् वर्ग की पूजा करनी चाहिये। सूत्र में मुनि का सात, वेद का चार और नाग का आठ अर्थों में प्रयोग किया गया है। सिद्धों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—१. दिव्यसिद्ध, २. सिद्ध-सिद्ध और ३. मानव-सिद्ध। दिव्यसिद्ध सात होते हैं। सिद्ध-सिद्ध ४ होते हैं और मानव-सिद्ध ८ होते हैं। इनकी सम्प्रदायानुसार पादुका-पूजा निर्धारित है। उसे सम्पन्न करना चाहिये।

तत्पश्चात् उपासक द्वारा अपने ही शिरोभाग में परमेश्वर भैरवनाथ की पूजा करनी चाहिये। सूत्र में प्रयुक्त 'एतत्' शब्द के दो प्रकार के अन्वय हो सकते हैं—१. यह ओघपादुका के बाद स्वात्मशिरोभाग में नाथ का अर्चन लयाङ्ग-पूजन माना जाता है। २. एतत् का अर्थ यह आगे आने वाला आवरणरूप पूजन लयाङ्ग-पूजन माना जाता है। लयाङ्ग तादात्म्यवत् ही अर्चन माना जाता है। इस प्रकार यह ललिताक्रम का प्रकरण पूर्ण होता है। शिव इस खण्ड-समाप्ति पर कल्याण करें।।१०।।

।। श्रीरामेश्वरकृत मुख्यांश सौभाग्योदयवृत्तिसहित
डॉ. परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य-समन्वित
श्रीपरशुरामकल्पसूत्र का ललिताक्रम नामक चतुर्थ खण्ड परिपूर्ण ।।४।।

।। इति शिवम् ।।

ललितानवावरणपूजाक्रमः

[पञ्चमः खण्डः]

प्रथमावरणव्यष्टिपूजा

अथ प्राथमिके चतुरस्रे अणिमा-लघिमा-महिमेशित्व-प्राकाम्येच्छाप्राप्ति-सर्वकामसिध्यन्ता मध्यमे चतुरस्रे ब्राह्म्याद्या-महालक्ष्म्यन्तास्तृतीये चतुरस्रे संक्षोभणद्रावणाकर्षणवश्योन्मादन-महाङ्कुशखेचरीबीजयोनित्रिखण्डाः सर्वपूर्वास्ताः सम्पूज्याः ।।१।।

अथेति नवावरणपूजाधिकारद्योतकम्। चतुरस्रत्रयमध्ये प्राथमिके चतुरस्रे सर्वबाह्ये अणिमेत्यारभ्य सर्वकामपर्यन्तं द्वन्द्वः, ते सर्वेऽपि सिध्यन्ताः कार्याः। सर्वेषां पदानामन्ते सिद्धिरिति योज्यम्। तथा च त्रितारी ततोऽणिमासिद्धि-श्रीपादुकां पूजयामीति। एवमग्रेऽपि। अणिमादिपदत्रयं न मन्त्रन्तं किन्तु डाबन्तम्। मध्यमे चतुरस्रे ब्राह्म्याद्याः (तद्यथा)—ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा। वाराही चैव चेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमातरः।। महालक्ष्मी चेत्यष्टौ मातरो मध्यचतुरस्रे पूज्याः।

तृतीये चतुरस्रे दशमुद्रापूजनमाह—तृतीये इति। सर्वशब्दः पूर्वं यन्नामसु तास्तृतीये इति। त्रितार्युत्तरं सर्वसंक्षोभिणीशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि इति। सर्वसंक्षोभिणी एव वामाशक्तिरित्युच्यते। इति दशमुद्राः पूज्याः।।१।।

परमाम्बा ललिता त्रिपुरसुन्दरी की पूजा के क्रम में यहाँ आवरण-पूजा की चर्चा की जा रही है। सर्वप्रथम प्रथम आवरण की व्यष्टि पूजा का उल्लेख किया जा रहा है। व्यष्टि पूजा में प्रतिशक्ति की, प्रतिसिद्धि की और प्रतिमुद्राओं की

पृथक्-पृथक् सनाम-ग्रहण पूजा करनी चाहिये। इस पूजा में तीन चतुर्भुज ऐसे निर्मित किये जाते हैं कि, बीच में तीसरा चतुर्भुज हो। उसको मध्य का चतुर्भुज चारों ओर घेर कर निर्मित हो। तीसरा इन दोनों को चारों ओर से घेर कर बना हो।

जैसे— इस चित्र में तीन चतुर्भुज हैं—

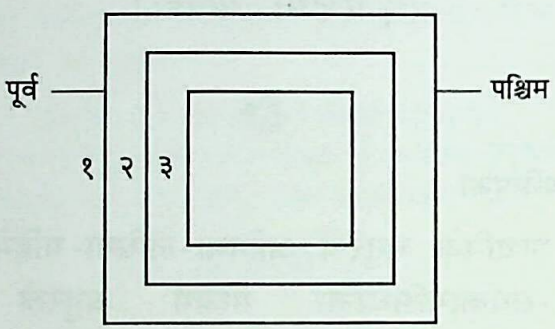

प्रथम चतुरस्र अर्थात् संख्या ३ और २ को अपने गर्भ में रखने वाले बाह्य चतुर्भुज में पश्चिम में अणिमासिद्धि की पूजा करनी चाहिये। पूजा के मन्त्रों के नियम पर ध्यान देना चाहिये। जैसे सभी नामों के पहले सर्वप्रथम त्रितारी + नाम के आदि अक्षर का बीज + सिद्धि का नाम + सिद्धि शब्द + श्रीपादुकां पूजयामि + नमः। इस तरह अणिमा का मन्त्र 'ऐं ह्रीं श्री अं अणिमासिद्धि-श्रीपादुकां पूजयामि नमः' बनेगा।

लघिमामन्त्र—'ऐं ह्रीं श्रीं लं लघिमासिद्धिश्रीपादुकां पूजयामि नमः' बनेगा। इसी प्रकार सभी सिद्धियों के मन्त्र स्वयम् उपासक बनाकर प्रयोग करे। गुरुदेव से इसे प्रमाणित करा ले।

पश्चिम में अणिमा में वशित्व, उत्तर में लघिमा, पूर्व में महिमा, दक्षिण में ईशित्व, वायव्य और ईशान में प्राकाम्य, अग्नि में भुक्ति, नैऋत्य में इच्छा, नीचे प्राप्ति और ऊर्ध्व में सर्वकामसिद्धियों का पूजन होना चाहिये। इस प्रकार से दश सिद्धियों की पूजा सम्पन्न करनी चाहिये।

मध्यचतुर्भुज में आठ मातृकाओं की पूजा होती है। मातृकाओं के नाम- १. ब्राह्मी, २. माहेश्वरी ३. कौमारी, ४. वैष्णवी, ५. वाराही, ६. इन्द्राणी मध्य चतुरस्र में १. ब्राह्मी पश्चिम द्वार में, २. माहेश्वरी उत्तर द्वार में, ३. कौमारी

पूर्वद्वार में, ४. वैष्णवी दक्षिण द्वार में, ५. वायव्य में वैष्णवी, ६. ईशान में इन्द्राणी, ७. अग्नि में चामुण्डा और ८. नैऋत्य में महालक्ष्मी की पूजा करनी चाहिये। इन शक्तियों की पूजा के मन्त्र, जैसे ब्राह्मी-मन्त्र—

ऐं, ह्रीं, श्रीं, आं ब्राह्मी मातृशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः। मन्त्र क्रम त्रितारी दीर्घस्वराष्टाक्षरी + मातृनाम + श्रीपादुकां पूजयामि नमः। इसी प्रकार अपनाना चाहिये। त्रितारी ऐं ह्रीं श्रीं स्वराष्टाक्षरी आं, ईं, ऊं (ऋं ॡं ऐं औं अः) सभी मातृकाओं के मन्त्र इसी क्रम से बन जाते हैं।

तृतीय चतुरस्र में मुद्राओं की पूजा का विधान है। मुद्रायें निम्नलिखित हैं—

१. सर्वसंक्षोभिणी, २. सर्वविद्राविणी, ३. सर्वाकर्षिणी, ४. सर्ववशङ्करी, ५. सर्वोन्मादिनी, ६. सर्वमहाङ्कुशा ७. सर्वखेचरी, ८. सर्वबीजा, ९. सर्वयोनि-मुद्रा और १०. सर्वत्रिखण्डा।

इन सभी मुद्राओं में सर्व का प्रयोग आदि में करना चाहिये। यह परम्परा है। वस्तुतः नाम में सर्व नहीं प्रयोज्य है। इनके मन्त्र में त्रितारी आदि में अवश्य लगाना चाहिये। अन्त में 'श्रीपादुकां पूजयामि नमः' सभी मुद्राओं के अन्त में उच्चारित होगा। उदाहरण रूप में सर्वसंक्षोभिणी मन्त्र इस प्रकार से बनेगा 'ऐं ह्रीं श्रीं सर्वसंक्षोभिणीशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः'। इसी तरह सभी मुद्राओं के मन्त्र बनते हैं।।१।।

प्रथमावरणस्य व्यष्टिपूजामुक्त्वा समष्टिपूजामाह

एताः प्रकटयोगिन्यस्त्रैलोक्यमोहनचक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्त्विति, तासामेव समष्ट्यर्चनं कृत्वा ।।२।।

एता अणिमादित्रिखण्डान्ताः। प्रकटयोगिन्यस्तासामेव समष्टिनाम प्रकटयोगिन्य इति। उक्तयोगिनीषु प्रकटत्वं च शिवादिषट्त्रिंशत्तत्त्वानां मध्ये या स्थूला पृथ्वी तद्रूपे भूपुरे चतुरस्रे वर्त्तमानत्वात्। त्रैलोक्यमोहनमिति योग रूढिभ्यां चतुरस्रत्रयात्मकं सर्वबाह्यं यच्चक्रं तस्य नाम। तासामणिमादि-त्रिखण्डान्तानां समष्ट्यर्चनं विधाय ।।२।।

अणिमा से लेकर त्रिखण्डा पर्यन्त ये दश योगिनियाँ प्रकट योगिनियाँ मानी जाती हैं। इसका कारण है, यह सारा विश्वात्मक विस्तार छत्तीस तत्त्वात्मक माना जाता है। शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त यह विस्तार शिव के स्वातन्त्र्य का चमत्कार है। इसमें पृथ्वी अन्तिम तत्त्व है। अन्तिम स्थूल तत्त्व रूप भूपुर में यह चतुरस्र भूपुर निर्मित होता है। उसी में ये योगिनियाँ वर्त्तमान होती हैं। इसी आधार पर इन्हें प्रकट योगिनी संज्ञा प्रदान की गयी है। जहाँ तक 'त्रैलोक्य-मोहन' चक्र का प्रश्न है, यह तीन चतुरस्रों का सबसे बाहर वाला चक्र ही इस संज्ञा से विभूषित किया गया है। इसी चक्र में इन समस्त प्रकट योगिनियों की पूजा की जाती है। यह पूजा समष्टि पूजा कही जाती है। समष्टि शब्द व्यष्टि समूह में प्रयुक्त होता है। जब योगिनियों की एक-एक कर पृथक्-पृथक् पूजा की जाती है, तो उसे व्यष्टि पूजा कहते हैं। यहाँ प्रकट योगिनी कह देने से अणिमा से त्रिखण्डा पर्यन्त सबका बोध हो जाता है और मुद्रा, सिद्धि, आयुध, शक्ति, वाहन और परिवार के सहित सबकी पूजा एक साथ की जानी चाहिये, यह सूत्र का निर्देश है।।२।।

करशुद्धिमुच्चार्य त्रिपुराचक्रेश्वरीमवमृश्य द्रामिति सर्व-संक्षोभिणीमुद्रां प्रदर्शयेत्। चक्रयोगिनीचक्रेशीनां नामानि भिन्नानि। शिष्टं समानम् ।।३।।

अत्र करशुद्धिपदेन करशुद्धिन्यासाङ्गभूतो मन्त्रः, तम् उच्चार्य (अं आं सौः) इति त्रिपुरेति त्रैलोक्यमोहनचक्रनायिका। त्रिपुरा चासौ चक्रेश्वरीमवमृश्य सम्पूज्य। अत्रापि पूजारूपत्वात् श्रीपादुकेति मन्त्रशेषोऽस्ति परन्तु समष्ट्यर्चने नास्ति।

द्रामिति सर्वसंक्षोभिणी-मुद्राबीजं तां पठित्वा मुद्राः प्रदर्शयेत्। चक्रयोगिनीचक्रेशीनां नामानि भिन्नानि शिष्टं समानम् ।।३।।

सूत्र में करशुद्धि मात्र का उल्लेख है। इससे प्रसङ्गवश करशुद्धि का वह मन्त्र जिससे करशुद्धि और न्यास किया जाता है, उसे उच्चारण करना चाहिये। वह मन्त्र 'अं आं सौः' है। यह बीजात्मक मन्त्र है।

त्रैलोक्यमोहनचक्र की नायिका का नाम ही त्रिपुरा है। वही चक्रेश्वरी भी है। इन दोनों शब्दों में कर्मधारय समास है। अवमृश्य अवमृश की पूर्वकालिक

क्रिया है। अवमर्श आन्तरिक स्पन्द रूप होता है। किन्तु यहाँ पूजा अर्थ में प्रयुक्त माना जाता है।

सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा अङ्गुलियों को ग्रथित करने से बनती है। मुद्रा का बीज 'द्रां' है। बीज मन्त्र उच्चारण कर मुद्रा प्रदर्शन करना चाहिये। इससे परमाम्बा त्रिपुरा प्रसन्न होती हैं। यह क्रम सभी चक्रों, समस्त योगिनियों और चक्रेश्वरी के पूजन में अपनाना चाहिये। सभी के भिन्न-भिन्न नाम हैं। यथा सन्दर्भ सभी के विषय की जानकारी लेनी चाहिये। हाँ यह ध्यान देने की बात है कि, समुद्रा, सपरिवारा आदि शब्दों के वर्ण कूट समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। उन उन प्रकरणों में समान विधि अपनायी जानी चाहिये।।३।।

अथ द्वितीयावरणपूजामाह

षोडशपत्रे कामाकर्षिणी नित्याकलेति नित्याकलान्ताः, बुद्ध्याकर्षिणी, अहङ्काराकर्षिणी, शब्दाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी, रूपाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, गन्धाकर्षिणी, चित्ताकर्षिणी, धैर्याकर्षिणी, स्मृत्याकर्षिणी, नामाकर्षिणी, बीजाकर्षिणी, आत्माकर्षिणी, अमृताकर्षिणी, शरीराकर्षिणी, एता गुप्तयोगिन्यः सर्वाशापरिपूरके चक्रे समुद्रा इत्यादि पूर्ववद् आत्मरक्षामुच्चार्य त्रिपुरेशीमिष्ट्वा 'द्रीं' इति सर्वविद्याविद्राविणीं प्रदर्शयेत् ।।४।।

नित्याकलेति वर्णसमुदायः। बुद्ध्याकर्षिणीतः पञ्चदशसु इदं विशेषणम् अनुयोज्यम्। एता गुप्तयोगिन्यो भूपुरापेक्षया षोडशदलस्य अन्तःस्थत्वेन गुप्ताः। पूर्ववद् द्वितीयसूत्रोक्तवद् आत्मरक्षामन्त्रः (श्रीक्रमोक्तसूत्रषोडशवत्) उच्चार्य। सर्वविद्राविणीं मुद्रां प्रदर्शयेत् ।।४।।

श्रीचक्र के सोलह पत्रों में सोलह गुप्त योगिनियों की पूजा करनी चाहिये। सूत्र के निर्देशानुसार सभी नामों के साथ नित्याकला शब्द का उच्चारण आवश्यक माना जाता है। इन योगिनियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. कामाकर्षिणी, २. बुद्ध्याकर्षिणी, ३. अहङ्काराकर्षिणी, ४. शब्दाकर्षिणी, ५. स्पर्शाकर्षिणी, ६. रूपाकर्षिणी, ७. रसाकर्षिणी, ८. गन्धाकर्षिणी, ९. चित्ताकर्षिणी, १०. धैर्याकर्षिणी ११. स्मृत्याकर्षिणी,

१२. नामाकर्षिणी, १३. बीजाकर्षिणी, १४. आत्माकर्षिणी, १५. अमृताकर्षिणी, १६. शरीराकर्षिणी। इन नामों के पहले सर्वप्रथम त्रितारी + १६ स्वरों के एक एक स्वर लगाये जाते हैं। फिर गुप्तयोगिनी का नाम + नित्याकला कहकर 'श्रीपादुकां पूजयामि नमः' लगाना चाहिये। सोलह पद्मपत्रों में सर्वप्रथम देवी के अग्रकोण से प्रारम्भ करना आवश्यक माना जाता है। सोलहों पत्रों में प्रथम कामाकर्षिणी मन्त्र का उद्धार इस प्रकार होता है—"ऐं, ह्रीं, श्रीं, अं कामाकर्षिणी नित्याकला श्रीपादुकां पूजयामि नमः"। इसके बाद का सूत्रोक्त मन्त्र इस प्रकार बनता है—

'एताः गुप्तयोगिन्यः सर्वाशापरिपूरके चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः' इतना कहकर पुष्प अर्पित करना चाहिये। इसके बाद आत्मरक्षा मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। श्रीक्रम के सोलहवें सूत्र में यह मन्त्र लिखा गया है। इस प्रकार परमाम्बा त्रिपुरेश्वरी की पूजा कर 'द्रीं' बीजमन्त्र बोलकर सर्वविद्राविणी मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये।।४।।

तृतीयावरणपूजामाह

दिक्पत्रे कुसुममेखलामदनामदनातुरारेखावेगिन्यङ्कुशमालिनी-रनङ्गपूर्वाः संमृश्यैता गुप्ततरयोगिन्यः सर्वसंक्षोभणचक्रे समुद्रा इत्यादि पूर्ववदात्मासनमुच्चार्य त्रिपुरसुन्दरीमिष्ट्वा क्लीमिति सर्वाकर्षिणीमुद्रां प्रदर्शयेत् ।।५।।

दिक्पत्रे दिक्संख्यानि पत्राणि यस्मिन् इति व्युत्पत्त्या तृतीयचक्रे। अनङ्गः पूर्वं यासां कुसुमादीनां ता अनङ्गपूर्वाः। शेषं स्पष्टम् ।।५।।

दिक्संख्या आठ की द्योतिका है। आठ पत्र अष्टदल कमल में होते हैं। अष्टदल पद्म तृतीयचक्र में ही होते हैं। इसे सर्वसंक्षोभण चक्र भी कहते हैं। इनमें आठ गुप्ततर योगिनियों की पूजा होती है। इनके नामों के पहले 'अनङ्ग' शब्द का प्रयोग आवश्यक होता है। जैसे इनके नाम क्रमशः इस प्रकार लिखे जाते हैं—

१. अनङ्गकुसुमा, २. अनङ्गमेखला, ३. अनङ्गमदना, ४. अनङ्गमदनातुरा, ५. अनङ्गरेखा, ६. अनङ्गवेगिनी, ७. अनङ्गांकुशा, ८. अनङ्गमालिनी। पहली चार

योगिनियों की क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में पत्रों में पूजा करे और शेष चारों की क्रमशः अग्नि, निऋति, वायव्य और ईशानकोण में पूजा करते हैं। आठ पत्रों में आठों देवियों की पूजा का यही क्रम मान्य है। अन्त में सूत्रोक्त 'एता गुप्ततरयोगिन्यः' से 'सन्तुष्टाः सन्तु नमः' तक बोलकर नमः कहना चाहिये। आत्मासन कहकर त्रिपुरसुन्दरी से सम्बन्धित पूजा करनी चाहिये। 'क्लीं' कहकर सर्वाकर्षिणी मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये।।५।।

चतुर्थावरणपूजामाह

भुवनारे संक्षोभिणी-द्राविण्याकर्षिण्याह्लादिनी-सम्मोहिनी-स्तम्भिनी-जृम्भिणी-वशङ्करी-रञ्जन्युन्मादिन्यर्थसाधिनी-सम्पत्तिपूरणी-मन्त्रमयी-द्वन्द्वक्षयङ्करीः सर्वादीरवमृश्य एताः सम्प्रदाययोगिन्यः सर्वसौभाग्य-दायकचक्रे समुद्रा इत्यादिमन्त्रशेषः चक्रासनमुच्चार्य त्रिपुरवासिनीं चक्रेश्वरीमिष्ट्वा 'ब्लूं' इति सर्ववशङ्करीमुद्रामुद्-घाटयेत्।।६।।

भुवनारे चतुर्दशारे। शेषं दिक्पत्रवत्। क्रमाकाङ्क्षायां पश्चिमे प्रारम्भः ततस्ततो दक्षिणं ग्राह्यम् ।।६।।

चतुर्थ आवरण के पूजन में इन विशेष तथ्यों पर ध्यान देना चाहिये—

१. यह पूजा चतुर्दश अरों वाले चक्र में सम्पन्न होती है।

२. इसकी योगिनियों को सम्प्रदाय योगिनी कहते हैं। ये सभी चौदह होती हैं। एक-एक दल रूप अरों में देवी के अग्रकोण से आरम्भ कर इनकी पूजा होती है।

३. सभी योगिनियों की संज्ञाओं के पहले 'सर्व' लगाना आवश्यक है। जैसे संक्षोभिणी न कहकर सर्वसंक्षोभिणी कहना चाहिये।

४. त्रितारी का प्रयोग पहले करना चाहिये।

५. योगिनी नाम के साथ 'श्रीपादुकां पूजयामि नमः' अवश्य लगाना चाहिये।

६. मन्त्र का स्वरूप निम्नवत् बनता है—

'ऐं ह्रीं श्रीं सर्वसंक्षोभिणी श्रीपादुकां पूजयामि नमः''।।

७. इसे १४ योगिनियों के नाम के साथ इसी प्रकार प्रयोग करते हैं।

८. अन्त में यह मन्त्र बोलना सूत्र का निर्देश है। 'एताः सम्प्रदाययोगिन्यः सर्वसौभाग्यदायकचक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः,।

९. यह मन्त्र बोलकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिये।

१०. चक्रासन (हैं ह्क्लीं ह्सौः) का उच्चारण कर त्रिपुरवासिनी चक्रेश्वरी की पूजा करनी चाहिये।

११. 'ब्लूं' बीजमन्त्र बोलकर सर्ववशङ्करी मुद्रा दिखलानी चाहिये। इस तरह चतुर्थ आवरण की पूजा पूरी होती है।।६।।

पञ्चमावरणपूजामाह

बहिर्दशारे सिद्धिप्रदा-सम्पत्प्रदा-प्रियङ्करी-मङ्गलकारिणी-कामप्रदा-दुःखविमोचिनी-मृत्युप्रशमनी-विघ्ननिवारिण्यङ्गसुन्दरी-सौभाग्यदायिनीः सर्वपूर्वाः सम्पूज्यैताः कुलोत्तीर्णयोगिन्यः सर्वार्थ-साधकचक्रे मनुशेषमुक्त्वा मन्त्रासनमुच्चार्य त्रिपुराश्रीचक्रेश्वरीं प्रत्यवमृश्य स इत्युन्मादिनीमुद्रां दद्यात् ।।७।।

नवचक्रेषु दशारद्वयमस्ति। तयोर्मध्ये यद् बहिर्दशारं तत्रेत्यर्थः। शेषं व्याख्यातप्रायम्। अत्रापि क्रमाकाङ्क्षायां पूर्वचक्रवदेव क्रमः ।।७।।

बहिर्दशार को सर्वार्थसाधक चक्र कहते हैं। नव चक्रों में दो दशार प्रकल्पित हैं। इन दोनों के मध्य में यह चक्र माना जाता है। इसमें दश कुलोत्तीर्ण योगिनियों की पूजा होती है। इन योगिनियों के नाम इस प्रकार सूत्र में समुद्दिष्ट हैं—

१. सिद्धिप्रदा, २. सम्पत्प्रदा, ३. प्रियङ्करी, ४. मङ्गलकारिणी, ५. कामप्रदा, ६. दुःखविमोचिनी, ७. मृत्युप्रशमनी, ८. विघ्ननिवारिणी, ९. सर्वाङ्गसुन्दरी, १०. सर्वसौभाग्यदायिनी।

इनके नामों के पहले सर्व लगाकर पूजा करनी चाहिये। त्रितारीपूर्व नामप्रयोग पूजा में आवश्यक माना जाता है। इतना विधान कर 'एताः' से

'पूर्ववत् सन्तुष्टाः सन्तु' बोलकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिये। इसमें तुरत बाद मन्त्रासन (ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः) बोलकर 'त्रिपुराश्री चक्रेश्वरी श्रीपादुकां पूजयामि नमः' बोलना चाहिये। सः कहकर सर्वोन्मादिनी मुद्राशक्ति का प्रदर्शन करना चाहिये। इस तरह यह पाँचवीं आवरण पूजा पूरी होती है। क्रम की प्रथा भी अग्रकोण और वामावर्त्त मानी जाती है। अन्त में योनि-मुद्रा प्रदर्शित कर प्रणाम करना चाहिये।।७।।

षष्ठावरणपूजामाह

अन्तर्दशारे ज्ञानशक्त्यैश्वर्यप्रदा-ज्ञानमयी-व्याधिविनाशिन्याधार-स्वरूपा-पापहराऽऽनन्दमयी-रक्षास्वरूपिणीप्सितफलप्रदाः सर्वोप-पदाः यष्टव्याः। एतानि गर्भयोगिन्यः सर्वरक्षाकरचक्रे शिष्टं तद्वत् साध्यसिद्धासनमुच्चार्य त्रिपुरमालिनी मान्या। क्रोमिति सर्वमहाङ्कुशां दर्शयेत् ।।८।।

सर्वोपपदाः सर्वपूर्वाः। मान्या पूज्या। क्रमस्तु पूर्ववत् शेषं व्याख्यातकल्पम् ।।८।।

छठें आवरण की पूजा में भी कुछ विशेष बातों को छोड़कर और सारी विधियाँ पूर्ववत् पूरी की जाती हैं। विशेष बातें निम्नलिखित हैं—

१. यह पूजा अन्तर्दशार (सर्वरक्षा चक्र) में होती है।

२. इसमें निगर्भयोगिनियों की पूजा की जाती है। ये सभी सर्वपूर्वा हैं। क्रमशः— १. सर्वज्ञा, २. सर्वशक्तिदेवी, ३. सर्वैश्वर्यप्रदा, ६. सर्वज्ञानमयी, ७. सर्वव्याधिविनाशिनी, ८. सर्वाधारस्वरूपा, ९. सर्वपापहरा, १०. सर्वा-नन्दमयी, ११. सर्वरक्षास्वरूपिणी, १२. सर्वेप्सितफलप्रदा नाम की १२ निगर्भ-योगिनियाँ हैं। सबके साथ 'श्रीपादुकां पूजयामि नमः' लगाना चाहिये।

३. इसके उच्चारण में 'एता' निगर्भयोगिन्यः सर्वरक्षाकरचक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः'' कहकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिये।

४. साध्यसिद्धासन मन्त्र 'ह्रीं क्लीं ब्लें' माना जाता है।

५. इसमें 'त्रिपुरमालिनी श्रीपादुकां पूजयामि' भी लगाकर पूजा समर्पित की जाती है।

६. 'क्रों' बीज-मन्त्र कहकर सर्वमहाङ्कुशामुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिये। इस तरह छठें आवरण की पूजा पूरी होती है।।८।।

सप्तमावरणपूजामाह

अष्टारे वशिन्याद्यष्टकं नमःस्थाने पूजामन्त्रसन्नाम एता रहस्य-योगिन्यः सर्वरोगहरचक्रे शिष्ट स्पष्टम्। मूर्त्तिविद्यामुच्चार्य त्रिपुरा-सिद्धामाराध्य शिवभृगु-ऋद्धियुक्फ्रें इति खेचरी देया ।।९।।

योगिनीन्यासप्रकरणे ये वशिन्यादीनामष्टौ मन्त्रा उद्धृतास्तेषु नमः-पदस्थाने पूजामन्त्रस्य श्रीपादुकेति मन्त्रस्य सन्नाम ऊहः कार्यः चतुर्थी-सहित-नमःपदस्थाने पूजामन्त्रः कार्य इत्यर्थः। शेषं गतप्रायम् ।।९।।

इस सूत्र के अनुसार आवरणपूजा का इस प्रकार विधान करना चाहिये—

१. अष्टार चक्र को सर्वरोगहर चक्र भी कहते हैं। उसी में यह पूजा सम्पन्न होनी चाहिये।

२. इस सूत्र का पूरक सूत्र श्रीक्रम का सूत्र-सं. २० है। उसके अनुसार वशिनीवाग्देवता के मन्त्र का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करने से तथ्य का स्पष्टीकरण आवश्यक रूप से हो जाता है। जैसे—

'ऐं ह्रीं श्रीं (सविन्दु अच्) अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः ब्लूं वशिनीवाग्देवता श्रीपादुकां पूजयामि नमः' यहाँ तक आठों के मन्त्र बोलकर सूत्रानुसार अन्त में 'एता रहस्ययोगिन्यः सर्वरोगहरचक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिता सन्तुष्टाः सन्तु नमः' बोलकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिये।

३. मूर्त्ति-विद्या 'ह्रीं श्रीं सौः' बीजमन्त्र को कहते हैं। इस मन्त्र को बोलकर 'त्रिपुरासिद्धचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पूजयामि नमः' मन्त्र का उच्चारण कर सातवीं आवरणपूजा का अर्पण करते हैं। खेचरीमुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये। इस तरह साँतवीं आवरणपूजा पूरी करनी चाहिये।।९।।

आयुधपूजा

बाणबीजान्युच्चार्य सर्वजृम्भणेभ्यो बाणेभ्यो नमः धं धं सर्वसम्मोहनाय क्रों सर्वस्तम्भनायाङ्कुशाय नम इति महात्र्यस्रबाह्यचतुर्दिक्षु बाणाद्यायुधपूजा ।।१०।।

बाणबीजानि 'द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः' इति पञ्च शैवबाणबीजानि। कामेश्वरीबाणबीजानि 'यां रां लां वां सां' इति देव्या बाणबीजानि। इत्थं च मन्त्रस्वरूपम्—

'यां रां लां वां सां द्रां द्रीं ब्लूं सः सर्वजृम्भणेभ्यो बाणेभ्यो नमः बाण-श्रीपादुकां पूजयामि। धं धं सर्वमोहनाय धनुषे नमः धनुःश्रीपाशाय नमः पाशश्रीपादुकां पूजयामि। क्रों सर्वस्तम्भनायाङ्कुशाय नमः अङ्कुश-श्रीपादुकां पूजयामि नमः।'

महात्र्यस्रम् आद्यत्रिकोणं तस्य बाह्यतो दिक्षु पश्चिमादिप्रादक्षिण्येन बाणाद्यायुधपूजा ।।१०।।

बाणबीजों का उल्लेख मुख्यांशव्याख्या में है। उनका उच्चारण कर कामेश्वरी-बाण-बीजों को बोलने के बाद सूत्र के निर्देशों के अनुसार धनुष, पाश और अङ्कुशों की पूजा की जाती है। यह सारी पूजा सर्वसिद्धिचक्र में की जाती है। अष्टास्र और त्र्यस्र के मध्य का भाग ही इसके लिये उपयुक्त माना जाता है। सिद्धिप्रद चक्र के पहले ह्स्रैं ह्स्क्लरीं ह्स्रौः लगाना परम्परानुसार मान्य है ।।१०।।

अष्टमावरणपूजामाह

त्रिकोणे वाक्कामशक्तिसमस्तपूर्वाः कामेश्वरी-वज्रेश्वरी-भगमालिनी-महादेव्यः बिन्दौ चतुर्थी ।।११।।

अत्र वाक्पदेन प्रथमकूटं ग्राह्यम्। कामपदेन द्वितीयकूटम्। शक्तिपदेन तृतीयकूटम्, न तु बालावर्णाः। यमानि पूर्वं यासां नाम्नां ताश्चतस्रः त्रिकोणे कोणत्रये बिन्दौ च पूज्याः। क्रमस्तु कामेश्वरीमग्रकोणे, वज्रेशीं दक्षिणे, ततो भगमालिनीं तथा वामे मध्ये त्रिपुरसुन्दरीम् इयमेव चतुर्थी।।११।।

त्रिकोण में वाक् 'ऐं' कामः 'क्लीं' शक्तिः 'सौः' बीजमन्त्रों को पूर्व में प्रयुक्त कर कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी महादेवियों की पूजा करनी चाहिये। 'बिन्दु' स्थान पर श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी की पूजा की जाती है। उदाहरणरूप माँ कामेश्वरी का मन्त्र इस प्रकार से उच्चारण करना चाहिये—

'ऐं वाग्भवात्मिका महाकामेश्वरीदेवी श्रीपादुकां पूजयामि', इसी तरह चारों देवियों की पूजा की जानी चाहिये। चतुर्थी महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी के नाम के पूर्व में त्रितारी के साथ वाक्, काम और शक्तिबीजों का प्रयोग करना चाहिये।

पूर्व सूत्रों के अनुसार इस आवरण-पूजा में भी 'एता अतिरहस्य-योगिन्यः सर्वसिद्धिप्रदचक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सतुष्टाः सन्तु नमः' बोलकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिये। इनको अतिरहस्य-योगिनी कहने का कारण यह है कि, परमशिवरूपी महादीप की प्रकाशरूपा पराशक्ति ही वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्तियों तथा रजःप्रधान इच्छा, सत्त्व-प्रधान ज्ञान और तमःप्रधान क्रिया-शक्तियों के रूप में सृष्टि में उल्लसित है। वामा, ज्येष्ठा और रौद्री की समष्टि देवी अम्बिका है। त्रिपुरसुन्दरी की ये व्यष्टि शक्तियाँ रहस्यमयी होती हैं।।११।।

कामेश्वर्यादीनां मूलदेव्यभिन्नत्वम्

तिसृणामासामनन्तरमभेदाय मूलदेव्याः पूजा। कामेश्वर्यादि-चतुर्थीनित्यानां षोडशी चक्रदेवीनां नवमी बिन्दुचक्रस्था चेत्येकैव। न तत्र मन्त्रदेवताभेदः कार्यः। तन्महादेव्या एव। चतुर्षु स्थलेषु विशेषार्चनमावर्त्तते ।।१२।।

आसां कामेश्वर्यादीनां तिसृणामनन्तरम् आसां मूलदेव्यभिन्नत्व-प्रतिपादनाय मूलदेव्याः पूजा। एवं स्थलान्तरेऽपि त्रिपुरसुन्दर्या अन्ते पूजनं तत्र तत्र, स्वपूर्वदेवताकूटाभेदं ज्ञापयति।

प्रकृतचक्रे कामेश्वर्यादिभ्यः परं चतुर्थी, पञ्चदशनित्याभ्य परं षोडशी। अष्टचक्रात्परं नवमे बिन्दौ सैव चकारसूचिता। पुनर्बिन्दावेव अष्टचक्रेशी पूजानन्तरं चक्रेशीत्वेन पूज्या एकैव। तत्र एषु स्थलेषु देवताभेदो मन्त्रभेदश्च

नास्ति। इत्थं च नित्याः समस्तावरणदेव्यश्च त्रिपुरसुन्दर्या अव्यतिरिक्ता एवेति ज्ञापयितुं तत्तदन्ते उक्तमिति भावः।

ननु देवतैक्ये द्रव्यैक्ये मन्त्रैक्ये सकृदेव पूजनं युक्तं, किमिति पूजात्रयम्? अत आह चतुर्षु स्थलेषु विशेषार्चनमावर्त्तत इति।।१२।।

कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी इन तीन देवियों की चर्चा सूत्र ११ में की गयी है। इन तीनों का मूल महादेवी से अभेद सम्बन्ध है। इसलिये मूल देवी की पूजा का विधान सूत्रकार को अभीष्ट है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी अन्त में त्रिपुरसुन्दरी की पूजा वहाँ करनी आवश्यक मानी गयी है। परमाम्बा त्रिपुरसुन्दरी की यह अन्त में की जाने वाली पूजा यह सिद्ध करती है कि, इन सभी पूज्यों में अभेद सम्बन्ध ही है। प्रकृत चक्र में कामेश्वरी आदि इन तीनों के अनन्तर चतुर्थी, पञ्चदश नित्याओं के बाद षोडशी, आठवें चक्र के बाद नवें बिन्दु पर भी षोडशी और अष्टचक्रेश्वरी की पूजा भी करनी चाहिये। इस सारी प्रक्रिया में अभेद सम्बन्धों का आकलन प्रतिक्षण होते रहना चाहिये। यह सारी पूजा एक ही पूजा है। एक की ही पूजा है। यहाँ कहीं भी मन्त्र-भेदादि-प्रकल्पन के लिये कोई अवकाश नहीं है। सारी पूजा महादेवी की ही पूजा है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, सारी आवरणान्तर्गत पूज्या नित्यायें भगवती त्रिपुरसुन्दरी से व्यतिरिक्त नहीं हैं। इसीलिये सूत्र में 'अभेदाय मूलदेव्याः पूजा' यह निर्देश सार्थक और चरितार्थ माना जाता है। सूत्रोक्त चारों स्थलों पर विशेषार्चा का आवर्त्तन मात्र होता है।।१२।।

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह

एता अतिरहस्ययोगिन्यः सर्वसिद्धिप्रदे चक्रे। परिशिष्टं द्रष्टव्यम्। आवाहनीमुच्चार्य त्रिपुराम्बां सम्भाव्य 'हसौं' इति बीजमुद्राकृतिः ।।१३।।

परिशिष्टमनन्तरं पूर्ववद् इति शेषः, आवाहनी तत्प्रकरणोद्धृता विद्या सम्भाव्य पूजयित्वा। कृतिः कर्त्तव्येत्यर्थः ।।१३।।

पहले नित्या पूजाओं में 'एता रहस्ययोगिन्यः' से लेकर 'पूजयामि नमः' पर्यन्त निर्दिष्ट मन्त्र का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। यहाँ परिशिष्ट शब्द का प्रयोग भी इसी तात्पर्य को व्यक्त करने के लिये किया गया है।

जहाँ तक आवाहनी का प्रश्न है, यह एक मुद्रा है और बीजमन्त्रमयी भी है। सम्भाव्य शब्द का प्रयोग ण्यन्तार्था पूर्वकालिक क्रिया है। इसका अर्थ पूजन करने के बाद होता है। कृति का अर्थ है—मुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिये अर्थात् दिखलानी चाहिये।।१३।।

नवमावरणपूजामाह

बिन्दुचक्रे मूलेन देवीमिष्ट्वा एषा परापररहस्ययोगिनी सर्वानन्दमये चक्रे समुद्रा ससिद्धिः सायुधा सशक्तिः सवाहना सपरिवारा सर्वोपचारैः सम्पूजिताऽस्त्विति पुनर्मूलमुच्चार्य महाचक्रेश्वरीमिष्ट्वा वाग्भवेन योनिं प्रदर्श्य ।।१४।।

बिन्दुचक्रे वाग्भवेन 'ऐं' इत्यनेन, न प्रथमकूटेन। मूलेन पञ्चदश्या ।।१४।।

नवें आवरण की पूजा में मात्र ललिताम्बा की ही पूजा करने का निर्देश सूत्रकार ने दिया है। इसीलिये 'देवीं' एकवचनान्त शब्द प्रयुक्त किया गया है। यह पूजा बिन्दु-चक्र में की जाती है। बिन्दु-चक्र को सर्वानन्दमय चक्र कहते हैं। बिन्दु में 'सर्वानन्दचक्राय नमः' कहकर पुष्पाञ्जलि अर्पित करने के अर्थ में ही 'इष्ट्वा' पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग किया गया है।

यह ध्यान देने की बात है कि, यह देवी परापरा-रहस्य-योगिनी मानी जाती है। इसकी पूजा में 'एषा' से लेकर 'सम्पूजिता अस्तु' तक बोलकर पुनः पुष्पाञ्जलि देनी चाहिये।

पुनः पञ्चदशी का उच्चारण कर तथा 'महाचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पूजयामि नमः' कहकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिये। इसके बाद वाग्भव बीज 'ऐं' कहकर योनि-मुद्रा का प्रदर्शन कर पूजा पूरी की जाती है। पूजा के अन्त में यह मन्त्र परम्परया बोलने की प्रथा है—

"अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले। भक्त्या समर्पये तुभ्यं वरणार्चनम्" बिन्दु की जगह प्रथम, द्वितीय आदि जिस आवरण की पूजा हो, वही संख्या-वाचक शब्द जोड़ना चाहिये। इस प्रकार पूजा समर्पित की जाती है।।१४।।

एवं नवावरणपूजां विधाय धूपादिदानं पूर्ववद्धूपदीपमुद्रा-तर्पणनैवेद्यादि दत्वा ।।१५।।

धूपादिनैवेद्यान्तेषु पूर्वोक्तधर्माणां प्राप्त्यर्थं पूर्ववदिति। धूपादिषु पूर्वोक्त-धर्मास्तद्धर्मका ये धूपादयः कार्या इत्यर्थः। ते च धर्मा धूपदीपनैवेद्येषु पूर्वमन्त्राः। मुद्रासु पूर्ववत्त्वं तर्पणे मूलमन्त्रः त्रिरभ्यासः। आदिपदेन ताम्बूल-कर्पूरनीराजनप्रभृतयो ग्राह्याः ।।१५।।

पहले की तरह धूप और दीप अर्पित करने के मन्त्रों के साथ आवरण-पूजा के अन्त में भी वही प्रयोग करना चाहिये। इसीलिये सूत्र में स्पष्ट रूप से 'पूर्ववत्' लिखकर निर्देश दिया गया है।

१. धूप और २. दीप अर्पण के बाद ३. मुद्रा का निर्देश है। मुद्रायें सर्वसंक्षोभिणी आदि पहले बतलायी जा चुकी हैं। उनके साथ बीजमन्त्र भी बोले जाते हैं। उनका भी यथावत् प्रदर्शन करना चाहिये।

चौथे क्रम पर तर्पण आता है। मूलमन्त्र से तीन बार तर्पण करना भी आवश्यक होता है। पाँचवें स्थान पर नैवेद्य अर्पित करने का निर्देश है। परमाम्बा का नैवेद्य साधारण नहीं अपि तु महानैवेद्य होता है। साधक अपनी सारी श्रद्धा इस अवसर पर उड़ेल देता है।

महापरमाम्बा के समक्ष वेदी बनायी गयी हो। स्वर्ण कमण्डलु को देवापगा गङ्गा के पवित्र उदक से परिपूर्ण करे। भोज्य, भक्ष्य, चोष्य और लेह्य चारों अङ्गों से परिपूर्ण, अन्य पेय पदार्थों से आप्यायनीय दधि-दुग्ध-मधुमय नैवेद्य को भक्तिवृत्तिरूपी अप्सराओं ने भावभरित भव्यता से निर्मित कर वहाँ परिवेषित किया है। भक्त हाथ जोड़कर इस भाव से विभोर होकर मूलविद्या का चिन्तन करते हुए धेनु मुद्रा दिखाकर उसे अमृतमय कर दे। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान मुद्राओं का क्रमशः समन्त्रक प्रयोग करे। प्रार्थना कर यह भावन करे कि, माँ परमाम्बा इस नैवेद्य को पावन कर रही हैं। वह कृतार्थ होता रहे, श्रद्धामय होता रहे। पुनः आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्वमयी ललिताम्बा को मूल मन्त्र के त्रिकूटों से तृप्त करे।

इस नैवेद्य विधि को सम्पन्न कर माँ परमाम्बा को ताम्बूल अर्पित करना चाहिये। तत्पश्चात् कर्पूरनीराजन करने का विधान भी पूरा करना आवश्यक होता है।।१५।।

कामकलाध्यानम्

बिन्दुना मुखं, बिन्दुद्वयेन कुचौ सपरार्धेन योनिं कृत्वा कामकलामिति ध्यात्वा ।।१६।।

सूक्ष्मकलाध्यानं स्थूलञ्चेति द्विविधम्। स्थूलध्यानेन जितान्तःकरणः सूक्ष्मकलां गुरुमुखात् ज्ञात्वा उपासीत। इत्थं मुखं कुचौ योनिं चांशत्रये कृत्वा मनसा निर्माय कामकलां ध्यात्वा ।।१६।।

कामकला का ध्यान अत्यन्त सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म ध्यान का ही साधनात्मक महत्त्व है। सेतुबन्ध में श्री भास्कर राय ने सूक्ष्म ध्यान का सुन्दर विश्लेषण किया है। श्रेष्ठ साधक-शिरोमणि की योग्यता पर यह निर्भर करता है। इसमें बिन्दु में यदि मुख का प्रकल्पन किया जाय तो मुख के साथ मातृशरीर का विमर्श स्वयम् उल्लसित होगा। विश्ववत्स के आप्यायक स्तन दो बिन्दुओं में उन्मिष्ट हो जाते हैं। पुत्र के लिये योनि का प्रकल्पन निषिद्ध रहते हुए भी सूत्रकार ने सपरार्ध (ई) बीज से, उसे निर्दिष्ट कर आत्यन्तिक गोपनीयता का संकेतमात्र ही किया है। यह ध्यान गुरुमुख से सीखना चाहिये। यों स्थूल ध्यान की प्रक्रिया भी विमृश्य है।।१६।।

वर्णविशेषे ध्यानप्रकारमाह

सौभाग्यहृदयमामृश्य ।।१७।।

सौभाग्यस्य धर्मादि सकलपुरुषार्थस्य हृदयम् उपादानकारणम्। ईदृशं पूर्वोक्तरूपम् आमृश्य ध्यात्वा। पूर्वसूत्रस्थ इति शब्दस्यात्रापि अनुवृत्तिः। योगिनीतन्त्रे—

'एवं कामकलारूपम् अक्षरं यत् समुत्थितम्।
कामादिविषमोक्षाणामालयं परमेश्वरि।।१७।।

सौभाग्य शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ है। धर्म आदि सारे पुरुषार्थों का उपादानकारण भी सौभाग्य हृदय माना जाता है। इसका बीजमन्त्र पराबीज अर्थात्

'सौः' माना जाता है। परात्रीशिका में इस बीजमन्त्र की महत्त्वपूर्ण व्याख्या की गयी है। यही वह 'अक्षरतत्त्व' है, जिसका संकेत योगिनीतन्त्र में आया हुआ है। सूत्र १६ और १७ में कामकला के विमर्श के मुख्य आधार बिन्दु, विसर्ग, सपरार्ध और पराबीज हैं। गुरुदेव से इसे जानना आवश्यक है।।१७।।

अथ बलिप्रकारमाह

वामभागविहितत्रिकोणवृत्तचतुरस्रे गन्धाक्षतार्चिते वाग्भव-मुच्चार्य व्यापकमण्डलाय नमः इत्यर्धभक्तभरिताम्भसा आदिमो-पादिममध्यमभाजनं तत्र न्यस्य ।।१८।।

अत्र वामभागेन शीघ्रोपस्थितत्वात् स्वस्यैव वामभागो ग्राह्यः। विहिते निर्मिते त्रिकोणवृत्तचतुरस्रे त्रिकोणमिति देव्युन्मुखम् इति न। निर्गमरीत्या त्रिकोणं स्वाभिमुखं ग्राह्यम्। गन्धाक्षतेत्यनेन तदितरव्यावृत्तिर्दर्शिता। वाग्भवम् 'ऐं' इति। अर्धभक्तेन अन्नेन भरिताम्भसा च सहितम्। इदं भाजने विशेषणम्। अन्नेन भरिताम्भसा च सहितम्। इदं भाजने विशेषणम्। एकस्मिन् पात्रे अर्धांशम् अन्नेन अर्धांशं जलेन पूरयेत्। ईदृशमेकं पात्रं क्षीरादिपात्रत्रयं च मण्डले न्यस्य अत्र बलिपात्रम् तांम्रमयम् ।।१८।।

सूत्रोक्त वामभाग से अपना ही बायाँ भाग अर्थ लेना चाहिये। इसी तरह त्रिकोण भी अपने आगे का ही मानना चाहिये। विहित का अर्थ निर्मित लगाना ही उत्तम अर्थ है। त्रिकोण के चारों ओर वृत्त और चतुरस्र युक्त मण्डल का परिकल्पन करना विधान में सम्मिलित है। गन्ध और अक्षत मात्र से अर्चित मण्डल में ताम्र पात्र में बलिपदार्थ रखना चाहिये। बलिपदार्थ के रूप में सूत्रकार के निर्देश के अनुसार पात्र में आधा भक्त और आधा जल रखना ही उचित है। साथ ही साथ आदिम, उपादिम और मध्यम तीन पात्र क्षीर आदि पदार्थों से भर कर रखना भी आवश्यक है। बलिपदार्थ से भरे हुए बलिपात्र को उठाते समय वाग्भवमन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। सूत्र के अनुसार मन्त्र का रूप—

'ऐं व्यापकमण्डलाय नमः'

मन्त्र से बलिपदार्थ पदार्थ मण्डल में रखना चाहिये। 'ऐं' बीज को ही वाग्भव बीज कहते हैं।।१८।।

बलिदाने मन्त्रमाह

'प्रणवमायान्ते सर्वविघ्नकृद्भ्यः सर्वभूतेभ्यो हुं स्वाहा' इति त्रिः पठित्वा बलिं दत्त्वा ।।१९।।

त्रिः इत्यनेन मन्त्राभ्यासो विहितः। तेन त्रिपाठान्ते बलिदानम्। देवता च मन्त्रलिङ्गेन ज्ञेया ।।१९।।

पात्र रखने के बाद प्रणव ओङ्कार और मायाबीज 'ह्रीं' के साथ 'सर्वविघ्नकृद्भ्यः सर्वभूतेभ्यो हुं स्वाहा' यह मन्त्रांश बोलने पर पूरा मन्त्र त्रितारी के साथ 'ऐं ह्रीं श्रीं ओम् ह्रीं सर्वविघ्नकृद्भ्यः सर्वभूतेभ्यो हुं फट् स्वाहा' इस प्रकार का बनता है। यह ध्यान देने की बात है कि, 'हुं' बीज के साथ 'फट्' लगाना आवश्यक माना जाता है। इसी मन्त्र से बलि अर्पित करना चाहिये। यह सोचना चाहिये कि, विघ्नकारी भूत इसे खा रहे हैं। जल देकर बाण-मुद्रा दिखाकर प्रणाम करना चाहिये।।१९।।

प्रदक्षिणादि

प्रदक्षिणनमस्कारजपस्तोत्रैः सन्तोष्य ।।२०।।

प्रदक्षिणमेकं कार्यम्। नमस्कारे तु इच्छैव नियामिका। जपसंख्या— 'विद्यां जपेत् सहस्रं वा, त्रिशतं शतमेव वा। अयं जपः कर्माङ्गभूतः। स्तोत्राणि' गणेशाग्रहनक्षत्रेत्यादिवामकेश्वरतन्त्रोक्तानि। सहस्रनामपाठः, अपराधस्तुतिः सत्यवकाशे सप्तशतीपाठोऽपि। एवमादिभिः सन्तोष्य ।।२०।।

शास्त्र के शासन के अनुसार शक्तिपूजा में केवल एक बार प्रदक्षिणा करनी चाहिये। शक्तिसङ्गमतन्त्र में लिखा है कि, विष्णु की चार बार, ईश की दो बार, शक्ति की एक बार, गणेश की तीन बार और सूर्य की सात बार प्रदक्षिणा करनी चाहिये। जहाँ तक नमस्कार का प्रश्न है, इसमें जिस प्रकार प्रणाम से आत्मसन्तुष्टिपूर्वक देवसन्तुष्टि की भावना का मन में उल्लास हो, उसी प्रकार दण्डवत् आदि करना चाहिये। इसके बाद जप का क्रम आता है। यह जप इस कर्म का अङ्गभूत जप होता है। इसकी संख्या समय हो, तो एक हजार, अन्यथा तीन सौ होनी चाहिये। यदि यह भी सम्भव न हो, तो कम से कम अष्टोत्तर शत संख्या का जप अनिवार्यतः करना ही चाहिये।

स्तोत्र विभिन्न प्रकार की स्तुतियों के लिये प्रयुक्त शब्द है। वामकेश्वर-तन्त्र के अनुसार गणेश, ग्रह-नक्षत्र आदि देवों की स्तुति, सहस्रनाम पाठ, अपराध-क्षमापन स्तोत्र और अवकाश रहने पर 'सप्तशती' का पाठ भी किया जा सकता है। इस तरह माँ परमाम्बा को सन्तुष्ट करना चाहिये।।२०।।

शक्तिपूजा

तद्रूपिणीमेकां शक्तिं बालयोपचारैः सम्पूज्य तां मपञ्चकेन सन्तर्प्य ।।२१।।

तद्रूपिणीं त्रिपुरसुन्दरीरूपिणीम्। एकवचनेन अद्वितीयां सौन्दर्येणेत्यर्थः। बालया मन्त्रेण। उपचारैः यथासम्भवैः। मपञ्चकेन सन्तर्पणं तस्या इच्छायां सत्यां ज्ञेयम्। अयं भावः सन्तर्प्येत्यनेन ज्ञापितः। तर्पणं तृप्तिसम्पादनम्। शक्तिं सुवासिनीम् ।।२१।।

शक्तिपूजा का यह सन्दर्भ अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है। शक्ति की पूजा ही तो अब तक की गयी है। यहाँ इसके लिये तद्रूपिणीं लिखा है। तत् शब्द माँ त्रिपुरसुन्दरी का वाचक है। उसके समान अनिन्द्य-सौन्दर्य-समन्विता, सर्व-सुलक्षणा एक ऐसी नारी को हम 'सुवासिनी' शब्द से अभिहित कर सकते हैं।

'बाला' की पूजा में जो उपचार प्रयुक्त होते हैं। उन सभी उपचारों से उसकी पूजा करनी चाहिये। बालात्रिपुरसुन्दरी का मन्त्र 'ऐं क्लीं सौः' माना जाता है। इसी मन्त्र से उस सुवासिनी को उपचरित करना श्रेयस्कर होता है। उसकी दीक्षा आदि का विचार करने के उपरान्त गुरु यह सब विधि सम्पन्न करे, यही उचित है।

मपञ्चक से सन्तर्पण के अधिकारी गुरु को ही यह विधि सम्पन्न करनी चाहिये। इसमें सुवासिनी की इच्छा का भी ध्यान रखना चाहिये। दीक्षाविधि के सूत्र २४ में मपञ्चक का प्रकरण आया हुआ है। इसके अप्राप्त होने की अवस्था में प्रतिनिधि पदार्थ से यह क्रम सम्पन्न करना चाहिये।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन ये मपञ्चक कहलाते हैं। इन्हें महापातकनाशन माना जाता है। सूत्रकार द्वारा सूत्रोक्त इस विधि के सन्दर्भ पर पूर्ण विचार करना आवश्यक है।।२१।।

हविःशेषप्रतिपत्तिमाह

शिष्टैः सार्धं चिदग्नौ हविःशेषं हुत्वा ।।२२।।

शिष्टैः सामयिकैः सह चिदग्नौ चिल्लक्षणेऽग्नौ हविःशेषं देवतोद्देशेन संस्कृतार्पितशेषम्, हुत्वेत्यनेन तत्र केवलहोमबुद्धिरेव विधेया। इन्द्रियतृप्ति-विषयिणीच्छा कदापि न कार्या ।।२२।।

सूत्र में शिष्ट शब्द का प्रयोग अवशिष्ट अर्थ में नहीं अपि तु उसी अनुशासन में रहने वाले कुलाचारपालक के अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसका पर्याय सामयिक शब्द भी समयपालक अर्थात् कुलाचारविहित समय पालन के लिये प्रतिबद्ध अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। ऐसे शास्त्रानुशासन के अनुयायियों के साथ हविःशेष का चिदग्नि में हवन करना चाहिये। देवता को लक्ष्य कर संस्कृत और अर्पित करने पर बची हुई राशि को हवि कहते हैं। इस हविःशेष का चिदग्नि में हवन करने का विधान सूत्रकार निर्दिष्ट कर रहे हैं। होम बुद्धि से भावनात्मक हवन करना ही लक्ष्य है। इसलिये यहाँ हवन करना प्रत्यक्ष होम रूप हवन नहीं है। केवल चिदग्नि हवन का भावन मात्र है। इन्द्रिय-तृप्तिविषया इच्छा की यहाँ कोई प्रक्रिया नहीं अपनानी चाहिये। इस हवन में आणव, मायीय और कार्ममलों का शमन हो जाता है। आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और जीवतत्त्व का शोधन भी हो जाता है। कुलाचार का प्रदर्शन मात्र करने में कुशल स्वेच्छाचारी के आडम्बर से बचकर यह हवन करना चाहिये। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।।२२।।

देवीविसर्जनम्

खेचरीं बद्ध्वा क्षमस्वेति विसृज्य तामात्मनि संयोजयेद् इति शिवम् ।।२३।।

खेचरीं बध्वा, बन्धनानन्तरं 'ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि यद्यदाचरितं शिवे। तव कृत्यमिति ज्ञात्वा क्षमस्व परमेश्वरि।।' इति क्षमाप्य विसृजेत्। विसर्गो नाम पूजार्थमाहूतायाः पुनः स्थानं प्रति नयनम्। एवं विसृज्य ताम् आत्मनि हृत्कमले योजयेत् स्थापयेत्। शिवमिति प्रकरणसमाप्तिद्योतकम्।।२३।।

।। इति श्रीपरशुरामकल्पसूत्रे श्रीरामेश्वरनिर्मितायां सौभाग्योदयनाम्न्यां श्रीपरशुरामकल्पसूत्रवृत्तौ (मुख्यांशमात्रायां) ललितानवावरणपूजानाम पञ्चमः खण्डः सम्पूर्णः।।५।।

खेचरी मुद्रा योगतन्त्रप्रसिद्ध एक ऐसी मुद्रा है, जिससे व्यक्ति सच्चे अर्थ में विहङ्गम हो जाता है। श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र में इसकी विस्तृत व्याख्या के साथ इसे परिभाषित किया गया है। इसकी विधि इस प्रकार अपनायी जाती है—

१. पद्मासन बद्ध और पद्मासन सिद्ध होना आवश्यक है।

२. नाभि में मनरूपी अक्षेश्वर को मणिपुर में अवस्थित कर प्राण को दण्डाकार रूप देते हुए, बिन्दु, नाद और ब्रह्मरन्ध्र 'ख' प्रदेश तक पहुँचाकर पुनः स्पन्द रूप से शक्ति, व्यापिनी और समना तीन 'ख' पड़ावों को पार कर 'उन्मना' के चिदाकाश में पराशक्ति और परशिव के अभिमुख करने का आचरण ही खेचर भाव को प्राप्त करना कहलाता है।

३. इससे आकाश में गतिशीलता की प्राप्ति हो जाती है।

४. इस आकाश-चारिता को परबोध-गगन संचार भी कहते हैं। त्रिशूलिनी, करङ्किणी और ज्वालिनी आदि इसके कई भेद होते हैं।

खेचरी मुद्राबन्ध की सामरस्य दशा में अवस्थित होकर परमाम्बा का विसर्जन करना चाहिये। यहाँ विसर्जन का अर्थ विदा करना नहीं अपि तु स्वात्मरूपाधिष्ठान का प्रकल्पन माना जाता है। इस प्रकार के विसर्जन में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह होता है कि, स्वात्म की सत्ता का जो आत्मकेन्द्ररूप हृदय है, उसमें उसका योजन विशिष्ट रूप से विमृष्ट होना चाहिये। यह संयोजन ही सामरस्य को भी सिद्ध करता है। यह एक अतीन्द्रिय दशा है। श्रीविद्या साधना में निष्णात इस आयोजन-संयोजन से धन्य हो जाता है।। इति शिवम् ।।

।। श्रीरामेश्वरकृत मुख्यांश-सौभाग्योदयवृत्तिसहित
डॉ. परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य-समन्वित
श्रीपरशुरामकल्पसूत्र का ललितानवावरणपूजाक्रम नामक पञ्चम खण्ड परिपूर्ण ।।५।।

।। इति शिवम् ।।

श्यामाक्रमः

[षष्ठः खण्डः]

श्यामे सङ्गीतमातः परशिवनिलये मुख्यसाचिव्यभारो-
द्वाहे दक्षे दयापूरितनिजहृदये मामकीं दैन्यवृत्तिम्।
श्रीमत्सिंहासनेश्यां भववनपतितान् दावदग्धान्नमस्ते
त्रातुं पीयूषवर्षैः कथय परिकरं बद्धवत्त्यां विवेके।।

श्यामोपास्तिविधिः

श्रीभगवान् परशुरामः श्यामाक्रमं विवक्षुः तस्यामुपासकाना-मुपास्यत्वज्ञानोत्पत्तये, अङ्गीकृतश्रीविद्योपासनस्य 'यो वै स्वां देवतामतियजते प्रस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवति' इति स्वीकृतैकदेवतोपास्तेरन्यदेवतोपासनमनिष्टजनकमिति यत् प्रतिपादितं, तेन कलुषितचेतसां कालुष्यनिवृत्तये च आदौ तद्गुण-स्वरूपं वर्णयति।

इयमेव महती विद्या सिंहासनेश्वरी साम्राज्ञी तस्याः प्रधान-सचिवपदं श्यामा तत्क्रमविमृष्टिः सदा कार्या ।।१।।

इयम् वक्ष्यमाणा। महती निरवधिकमहत्त्ववती सिंहासनं परशिवः स्वाधिष्ठानरूपत्वात् तस्य ईश्वरी तन्निष्ठसृष्टिस्थितितिरोधानसङ्कल्पनिर्वाहकर्त्री साम्राज्ञी तस्याः प्रधानसचिवपदं साचिव्यरूपं धर्मपरं तस्य पदम् आश्रयः श्यामा तस्या यः क्रमस्तस्य या विमृष्टिरनुसरणं तत्सदा कार्यम्।।१।।

यह अनन्त माहात्म्यशालिनी विद्या शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित है। सिंहासन-रूप शिव की ईश्वरी यही शक्ति है। सर्वाधिष्ठान शिव सर्वाधार हैं। अतः उन्हें ही यहाँ सिंहासन कहा गया है। सिंह धर्मरूप भी होता है। अतः सिंह के आसन को धर्म का आसन भी कह सकते हैं। धर्म सब का धारक है। शिव धर्ममय हैं। ऐसे शिव की राजरानी होना ही साम्राज्ञी पद पर अधिष्ठित सिंहासनेश्वरी होना है। ऐसी सर्वेश्वरी महादेवी के प्रधान सचिव पद अर्थात् प्रधान साचिव्य रूप कार्य की पद अर्थात् आश्रय श्यामा है। उसी के क्रम का विमर्श अनवरत करना चाहिये। यहाँ विमर्श करना उसके सृष्टि, स्थिति और संहार रूप कार्य के उत्तरदायित्व के विचार और उसके अनुसरण अर्थ में प्रयुक्त है। श्रीविद्या की उपासना में संलग्न उपासकों के उद्बोधन और उनकी श्यामा-क्रम की सतत अनुसृति के लिये इस सूत्र की रचना की गयी है।।१।।

श्यामाया उपास्यतोपपत्तिः-ननु या साम्राज्ञी सर्वनियन्त्री स्वतन्त्रा तां परित्यज्य किं तदनुवर्त्तिन्याः श्यामाया उपासनेनेत्याशङ्कायां तदुपासनमुपपादयिष्यन् प्रथमं लोकदृष्टान्तेन द्रढयति-प्रधानद्वारा राजप्रसादनं हि न्याय्यम् ।।२।।

राजदर्शनोत्सुका आदौ प्रधानमुपसेव्य तद्द्वारा राजदर्शनं गृह्णन्ति। तद्वदत्रापि तत्प्रधानभूतायाः श्यामायाः प्रथममुपासनं न्याय्यम्। अर्थात् यश्च प्रधानदेवताकृपां साक्षात् सम्पादयितुमसमर्थः सः प्रथमं दीक्षां सम्पाद्य श्रीगणपत्युपास्तिं कृत्वा ततः श्यामोपास्तिं वाराह्युपास्तिं परोपास्ति च विधाय तासां कृपां सम्पाद्य श्रीललितोपास्तिमारभेत। समर्थस्तु दीक्षोत्तरं गणपत्युपास्त्यनन्तरं श्रीललिताक्रममारभेत ।।२।।

जिज्ञासु यह शङ्का करता है कि, सर्वनियन्त्री सर्वतन्त्रस्वतन्त्र जगदीश्वरी को छोड़कर उसके अनुवर्त्तन में रहने वाली शक्तियों की क्या आवश्यकता? भगवान् परशुराम उदाहरण के साथ उसका उत्तर दे रहे हैं कि, व्यवहार में यह देखा जाता है कि, राजा के दर्शन के लिये लोग पहले मन्त्री आदि कर्मचारियों को प्रसन्न करते हैं। उनकी कृपा से राजा का दर्शन करते हैं। उसी तरह भगवान् परशुराम कहते हैं कि, 'पहले श्रीललिता की प्रधानसचिव श्यामा की उपासना

कर तब मुख्य उपास्या की उपासना उचित है।' व्याख्याकार अर्थ को विस्तार देते हुए उपासकों को दो श्रेणियों में विभक्त कर रहे हैं—१. असमर्थ उपासक और २. समर्थ उपासक। इनमें दोनों के लिये दीक्षा की पहली शर्त है। दीक्षा के बाद दोनों के लिये गणपति की उपासना भी अनिवार्य आवश्यक है। इसके बाद असमर्थ उपासक श्यामोपास्ति, वाराह्युपास्ति और परोपास्ति के क्रम से ललितोपासना में लगे। वही समर्थ उपासक गणपति उपासना के तुरत बाद श्रीललितोपासन में लगे, यही उत्तम पक्ष है।।२।।

एवमुपास्त्यधिकारिणं प्रदर्श्य उपास्तिप्रकरणं वक्तुं प्रक्रमते

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय शयने स्थित्वैव श्रीपादुकां प्रणम्य प्राणानायम्य मूलादिद्वादशान्तपर्यन्तं ज्वलन्तीं परसंविदं विचिन्त्य मनसा मूलं त्रिशो जप्त्वा बहिर्निर्गत्य विमुक्तमलमूत्रो दन्तधावन-जिह्वाघर्षण-कफविमोचन-नासाशोधन-विंशतिगण्डूषान् विधाय ।।३।।

श्रीपादुकां गुरुपादुकाम्। शेषः स्पष्टार्थः।।३।।

इस सूत्र में प्रातः कृत्य के बिन्दुवों का उल्लेख है। इसे इस प्रकार जानना और करना चाहिये—

१. ब्राह्ममुहूर्त्त में उठना चाहिये।

२. बिस्तर पर रहते हुए ही गुरुदेव की चरणपादुका को प्रणाम करना चाहिये।

३. प्राणायाम करना चाहिये।

४. मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त प्रकाशमान परा संविद् का चिन्तन करना चाहिये।

५. मूल मन्त्र का मन ही मन तीन बार जप करना चाहिये।

६. इसके बाद शय्यात्याग कर शौचाचार सम्पन्न करना चाहिये। इसमें सर्वप्रथम मलोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग, दन्तधावन, जिह्वाघर्षण, कफ-विमोचन, नासिका-शोधन कार्य पूर्ण करने चाहिये। कम से कम २० बार कुल्ली करने से मुख साफ हो जाता है। ये सारी क्रियायें नित्यकर्म में आती हैं।।३।।

मन्त्रभस्मजलस्नानेष्विष्टं विधाय वस्त्रं परिधाय ।।४।।

मन्त्रस्नानम् (दुर्गमार्गे, अशक्तस्य वा) भस्मस्नानम् (सर्वाङ्गेषु शुद्धभस्मावलेपनं) जलस्नानम् (मुख्यस्नानम्) वस्त्रं परिधाय ।।४।।

स्नान के तीन प्रकार यहाँ दिये गये हैं—

१. मन्त्रस्नान—यह रास्ते आदि की कठिनाई को देखकर या असमर्थता में स्वास्थ्य की दृष्टि से सम्पन्न किया जाता है।

२. भस्मस्नान— सम्प्रदायानुसार इसे करने का विधान है। गृहस्थ के लिये यह नहीं है।

३. जलस्नान—सर्वोत्तम अशुचिता का निवारक स्नान है। इसे सभी करते हैं। स्नान के बाद साफ शुद्ध वस्त्र पहनकर पूजा में संलग्न होना चाहिये।।४।।

सन्ध्यां विधत्ते

सन्ध्यामुपास्य सवितृमण्डले देवीं सावरणां विचिन्त्य मूलेन त्रिरर्घ्यं दत्त्वा यथाशक्ति सन्तर्प्य ।।५।।

ललिताङ्गभूतेऽपि क्रमे सर्वमाह्निकं निःशङ्कमनुष्ठेयम् ।।५।।

सन्ध्योपासना नित्य कार्य है। आह्निक कृत्य के रूप में प्रतिदिन इसे सम्पन्न करना आवश्यक माना जाता है। सन्ध्योपासन के रूप में ही अन्त में सूर्यमण्डल का दर्शन कर उसमें आवरणसहित माँ का चिन्तन करना चाहिये। मूल मन्त्र से तीन बार अर्घ्य देना आवश्यक है। उसके बाद तर्पण करना चाहिये। अर्घ्य तो मात्र तीन बार पर तर्पण शक्ति के अनुसार जितना करे, उतना ही अच्छा माना जाता है।।५।।

सन्ध्यामुत्त्वा पूजां वक्तुमुपक्रमते

यागगृहं प्रविश्यासने आधारशक्तिकमलासनाय नम इत्युपविश्य ।।६।।

इन तीन सूत्रों का एक क्रम है। इनके द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि—१. सर्वप्रथम सन्ध्या के सारे कार्य समाप्त कर यागस्थान में आकर

मण्डप में प्रवेश करना चाहिये। उस समय उपासक प्रियदर्शन प्रतीत होता है। प्रवेश भी आस्था का आसूत्रण माना जाता है।

२. प्रवेश करने के बाद आसन पर अवस्थित होने के लिये 'आधार-शक्तिकमलासनाय नमः' इस मन्त्र का उच्चारण कर उसे प्रणाम कर उस पर बैठना चाहिये।।६।।

अथ प्राणायामप्रकारमाह

समस्तप्रकटगुप्तसिद्धयोगिनीचक्रश्रीपादुकाभ्यो नम इति शिरस्यञ्जलिमाधाय स्वगुरुपादुकापूजां च विधाय ।।७।।

तेन स्वमूर्ध्नि पुष्पाक्षतान् क्षिपेत ।।७।।

३. तत्पश्चात् गुप्त और प्रकट सिद्धयोगिनी चक्र 'श्रीपादुकाभ्यो नमः' यह मन्त्र बोलकर शिर पर अञ्जलि बाँधकर अपने गुरुदेव की पादुका को प्रणाम करना चाहिये। गुरुपादुका की रहस्यात्मकता का सर्वदा ध्यान रखना दीक्षित शिष्य के लिये आवश्यक है।।७।।

ऐं ह्रः अस्त्राय फट् इत्यस्त्रमन्त्रेण अङ्गुष्ठादि-कनिष्ठान्तं करतलयोः कूर्परयोर्देहे च व्यापकत्वेन विन्यस्य ।।८।।

व्यापकत्वलक्षणं पूर्वमुक्तम्। अङ्गुल्यादिभेदेन मन्त्रावृत्तिः। प्रतिप्रधान-मिति न्यायात् ।।८।।

व्यापकविधि प्रत्येक साधक को गुरु द्वारा ज्ञात हो जाती है। अङ्गुष्ठ से प्रारम्भ कर कनिष्ठापर्यन्त करतल करपृष्ठ में बाहु और हस्त के मध्य भाग रूप कूर्पर में भी व्यापक विधि से विन्यास से शरीर में ऊर्जा की प्रतिष्ठा हो जाती है और साधक ऊर्जस्वल व्यक्तित्व से ओत-प्रोत हो जाता है।।८।।

'यं' इति वायुं पिङ्गलयाऽऽकृष्य देहमुपविशोष्य, 'रं' इति वायुमाकृष्य देहं दग्ध्वा, 'वं' इति वायुमाकृष्यामृतेन दग्धदेहभस्म सिक्त्वा, 'लं' इति वायुमाकृष्य शिवचैतन्यमुत्पाद्य ।।९।।

'यं' इति वायुबीजत्वे शोषणकार्यक्षमत्वात्। वाय्वाकर्षणं तु तूष्णीमेव। 'रं' इति वह्निबीजेन देहदाहः। अमृतेन 'वं' इति अमृतबीजेन। दग्धभस्मसेचनं

पुनः शरीरोत्पादनार्थम्। 'लं' इति पार्थिवबीजेन सिक्तभस्मनि काठिन्य-सम्पादनम्। ततस्तस्मिन् 'हंस' इति मन्त्रेण शिवचैतन्यसम्पादनम्। एतावत्पर्यन्तं भूतशुद्धिं विधाय श्रीक्रमोक्तां प्राणप्रतिष्ठां च कुर्यात् ।।९।।

य,र,ल और व ये चारों अन्तःस्थ वर्ण कहलाते हैं। इन पर अनुस्वार का प्रयोग इनमें आन्तरिक रूप से वर्त्तमान ऊर्जा को आन्दोलित और उच्छलित कर देता है। इनका वैद्युतिक उल्लास इन्हें महत्त्वपूर्ण बना देता है। अनुस्वारयुक्त 'य'कार वायुबीज, 'र'कार अग्निबीज, 'व'कार अमृत-(वरुण-विष्णु) बीज और 'ल'कार पार्थिव-बीज बन जाता है। जैसे बीज से वृक्ष बनता है और वृक्ष में तना, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प और फल उत्पन्न होते हैं, उसी तरह इन वर्ण बीजों से सम्बद्ध तत्त्वों का समुच्छलन होता रहता है। इनके प्रयोग का सामर्थ्य साधक योगी प्राप्त कर लेता है। गुरु शिष्य को इसकी शिक्षा देता है। इसके प्रयोग से शिष्य की भूतशुद्धि सम्पन्न हो जाती है। इन वर्ण बीजों में ये ऊर्जायें कैसे समुद्भूत होती हैं। यह ज्ञान आवश्यक है। यह तन्त्र का विषय है। बीजों का मानसिक संकल्प होना चाहिये। इन्हें बोलकर नहीं कहना चाहिये।

यह प्राणचार की प्रक्रिया है। बीजमन्त्र बोलते हुए वायु का आकर्षण कैसे होता है, इसकी विधि है। गुरु से इसे जानना चाहिये। वायु के आकर्षण में इडा और पिङ्गला नाडियों का प्रयोग होता है। वाम नासिका वाली पिङ्गला होती है और दक्षनासा में इडा का अवस्थान होता है।

'य' में अनुस्वार का प्रयोग वायु को ऊर्जस्वल बनाता है। इस बीज के प्रयोग से शरीर को शुष्क बनाने का ध्यान करना चाहिये। मानो वह सूखे इन्धन के समान हो गया हो अर्थात् जलांश का आकर्षण कर लिया गया हो।

इसके बाद अग्निबीज से देह-दाह की प्रक्रिया अपनानी चाहिये। देह अग्निबीज के प्रयोग से भस्म हो गया है। इस ध्यान के उपरान्त वरुण बीज से उसका सेचन करना चाहिये। अमृतसिञ्चन से पुनः शरीरोत्पादन की क्षमता आती है। ऐसे अवसर पर ही पृथ्वी बीज का प्रयोग होना चाहिये। इससे भस्म कठिन और शिवत्व संधारण के योग्य हो जाता है। तत्पश्चात् 'हंस' मन्त्र से शरीर में शिवचैतन्य का सम्पादन करना चाहिये।

इस तरह शरीर शुचिता-सम्पन्न बन जाता है। भौतिकता दिव्यता से दिव्य हो जाती है। यह प्रक्रिया एक प्रकार से भूतशुद्धि की प्रक्रिया ही मानी जाती है। अब इसमें प्राण की प्रतिष्ठा भी कर देनी चाहिये। प्राण-प्रतिष्ठा का विधान श्रीक्रम के अनुसार होना चाहिये।।९।।

मूलमेकश उच्चार्य, वायुमाकृष्य त्रिशः उच्चार्य, कुम्भयित्वा सकृदुच्चार्य रेचयेत्। एवं रेचकपूरककुम्भकं त्रिधा, सप्तधा, दशधा, षोडशधा वा विरच्य तेजोमयतनुः ।।१०।।

एकश एकवारम्। रेचकपूरककुम्भकमिति व्युत्क्रमः। क्रमस्तु पूर्वपाठानुसारेण। संख्यावृद्धौ फलाधिक्यम्। तेजोमयतनुरित्यनेन प्राणायामक्रियायाः पापशोधकत्वं सूचितम् ।।१०।।

मूल का उच्चारण इस अवसर पर मात्र एक बार करके वायु का आकर्षण करना चाहिये। तीन बार उच्चारण कर कुम्भक और दो बार उच्चारण करते हुए रेचन करना उचित है। सूत्र में पहले रेचक पुनः पूरक और पुनः कुम्भक लिखा है। प्राणायाम प्रक्रिया के अनुसार क्रम अपनाना चाहिये। अधिक करने से अधिक फल होता है। प्राणायाम से शरीर तेजस्वी बनता है, यह सूत्र से स्पष्ट हो रहा है।।१०।।

अथ न्यासजालं वदति

षडङ्गं बालासहितां मातृकां मूलहृन्मुखेषु रतिप्रीतिमनोभवान् विन्यस्य ।।११।।

विन्यस्य इति सर्वत्रानुषज्य योज्यम्। तथा च षडङ्गं विन्यस्येत्यर्थः। अयमेको न्यासः। बालासहितां मातृकां विन्यस्य इति द्वितीयो न्यासः। मातृकां बहिर्मातृकाम्। मातृकान्यासमन्त्रे सदा बालायोग एव। अन्यत्र विकल्पेन बालायोगः। मन्त्रस्वरूपं च—ऐं क्लीं सौः—अं नमः। मूलं मूलाधारस्थानम्। तदादित्रिषु रत्यादित्रयं विन्यसेत्। अयं तृतीयो न्यासः।।११।।

हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र इन छः अङ्गों पर न्यास करने का विधान आवश्यक है। बाला मन्त्र सहित मातृका न्यास सबसे पहले

कर लेना चाहिये। बाला मन्त्र 'ऐं क्लीं सौः' के साथ ही मातृका न्यास होना चाहिये। श्रीक्रम के अनुसार ही यहाँ अर्थात् इस क्रम में भी मातृका न्यास किया जाता है।

मूल अर्थात् मूलाधार, हृत् अर्थात् अनाहत और मुख अर्थात् विशुद्ध को उद्बोधक प्रधान अङ्ग माना जाता है। इन तीनों स्थानों का अप्रतिम महत्त्व है। इनमें क्रमशः रति, प्रीति और मनोभव मन्त्रों का न्यास उपासना की दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रक्रिया में सारा शारीरिक विज्ञान, मनोविज्ञान और सृष्टि-विज्ञान निहित है। इसे इस तरह करना चाहिये—

१. ऐं क्लीं सौः रत्यै नमः मूलाधारे।

२. ऐं क्लीं सौः प्रीत्यै नमः हृदये। और

३. ऐं क्लीं सौः मनोभवाय नमः मुखे। इस तरह इस सूत्र के अनुसार न्यास पूरा होता है।।११।।

मूलं सप्तदशधा खण्डयित्वा षट् ब्रह्मविले, त्रीणि ललाटे, चत्वारि भ्रूमध्ये, दक्षवामेक्षणयोः षट् चाष्टौ, सप्तास्ये, दश वाम-श्रुतिकण्ठेष्वेकैकं, दक्षवामांसयोरष्टौ च दश, दक्षवामस्तनयोरष्टा-वष्टौ, नव नाभौ, द्विः स्वाधिष्ठाने, षडाधार एवं विन्यस्य ।।१२।।

खण्डयित्वा विभज्य। आदिमषड्वर्णानि नमोऽन्तानि उच्चार्य ब्रह्मरन्ध्रे न्यसेत्। एवमग्रेऽपि। दक्षवामेक्षणयोः षट्चाष्टौ इत्यत्र दक्षनेत्रे षड्वर्णाः क्रमप्राप्ता वामनेत्रे अष्टौ यथासंख्यं योज्यम्। एवमेव दक्षवामांसयोः इत्यादौ द्रष्टव्यम्। सर्वत्र त्रितारीकुमारीयोगः कार्यः। स्वाधिष्ठानं षड्दलकमलं गुह्यस्थानस्थम्। आधारो मूलाधारः, स पूर्वं व्याख्यातः। अयं चतुर्थो न्यासः ।।१२।।

सूत्र के अनुसार मूल को १७ भागों में विभक्त करना चाहिये। यह विभाजन वर्णों का विभाजन होता है। क्रमशः छः ब्रह्मरन्ध्र में, तीन ललाट में, चार भ्रूमध्य में, छः दाहिनी आँख में, आठ बायीं आँख में, सात मुख में, एक बायें कान में, एक दायें कान में, एक कण्ठ में, आठ दायें कन्धे पर, दश बायें कन्धे पर, आठ-आठ दाहिने और बायें स्तनों पर, नौ नाभि में दो

स्वाधिष्ठान में, छः मूलाधार में न्यास करना चाहिये। उदाहरण रूप में इसे इस तरह विभाजित करना चाहिये—

१. **ब्रह्मरन्ध्र**—६ वर्ण ऐं क्लीं सौः 'ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः' नमः ब्रह्मरन्ध्रे। इसमें छः वर्ण न्यस्त हैं। नमः का योग भी है।

२. **ललाट**—३ वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'ओम् नमो नमः' ललाटे। इसमें तीन वर्णों का योग है। योग सबमें है।

३. **भ्रूमध्य**—४ वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'भगवति' नमः भ्रूमध्ये इसमें चार वर्णों का योग है। त्रितारी का प्रथम प्रयोग भी सबमें करना चाहिये।

४. **दक्षनेत्र**—६ वर्णयोग ऐं क्लीं सौः श्रीमातङ्गीश्वरि नमः, दक्षनेत्रे।

५. **वामनेत्र**—आठ वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'सर्वजनमनोहारिं नमः' वामनेत्रे।

६. **आस्य**—सात वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'सर्वमुखरञ्जिनि' नमः आस्ये।

७. **दक्षश्रोत्र**—एक वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'क्लीं' दक्षश्रोत्रे।

८. **वामश्रोत्र**—एक वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'ह्रीं' नमः वामश्रोत्रे।

९. **कण्ठ**—एक वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'श्री' नमः, कण्ठे।

१०. **दाहिना स्कन्ध**—आठ वर्णों का योग ऐं क्लीं सौः 'सर्वराजवशङ्करि' नमः दक्षस्कन्धे।

११. **बायाँ स्कन्ध**—दश वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'सर्वस्त्रीपुरुषवशङ्करि' नमः वामस्कन्धे।

१२. **हृदये**—दश वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'सर्वदुष्टमृगवशङ्करि' नमः हृदये।

१३. **दाहिना स्तन**—आठ वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'सर्वसत्त्ववशङ्करि' नमः दक्षस्तने।

१४. **बायाँ स्तन**—आठ वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'सर्वलोकवशङ्करि' नमः वामस्तने।

१५. **नाभि**—नव वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'अमुकं मे वशमानय' नमः नाभौ।

१६. **स्वाधिष्ठान**—दो वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'स्वाहा' नमः स्वाधिष्ठाने।

१७. **मूलाधार**—छः वर्णयोग ऐं क्लीं सौः 'सौः क्लीं ऐं श्रीं ह्रीं ऐं' नमः मूलाधारे। चतुर्थ न्यास में मूलमन्त्र का इस प्रकार सत्रह विभाजन हो जाता

है। पूरा मूल-मन्त्र इस न्यास में आ गया है। अलग लिखने की आवश्यकता नहीं है।।१२।।

५ञ्चमं न्यासमाह

पुनराधारादिब्रह्मबिलपर्यन्तं सप्तदशखण्डानुक्तस्थानेषु विन्यस्य ।।१३।।

पूर्वस्माद्वैलक्षण्यं मूलाधारादिस्थानवैपरीत्यमात्रम्। अयं पञ्चमो न्यासः ।।१३।

चतुर्थ न्यास को ऊपर अनुलोम क्रम से दिखलाया गया है। इसे ही विलोम क्रम से मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक उन्हीं खण्डों को उसी क्रम से न्यस्त करना चाहिये। यही इस न्यास की विलक्षणता है। इस प्रकार यह पाँचवाँ न्यास पूरा होता है।।१३।।

मन्दिरार्चनम्

अमृतोदधिमध्यरत्नदीपे मुक्तामालाद्यलङ्कृतं चतुर्द्वारसहितं मण्डपं विचिन्त्य तस्य प्रागादिचतुर्द्वरिषु सां सरस्वत्यै, लां लक्ष्म्यै, शं शङ्खनिधये, पं पद्मनिधये नमः, लां इन्द्राय वज्रहस्ताय सुराधिपतये ऐरावतवाहनाय सपरिवाराय नमः, रां अग्नये शक्ति-हस्ताय तेजोऽधिपतये महिषवाहनाय सपरिवाराय नमः, क्षां निर्ऋतये खड्गहस्ताय रक्षोऽधिपतये नरवाहनाय सपरिवाराय नमः, वां वरुणाय पाशहस्ताय जलाधिपतये मकरवाहनाय सपरिवाराय नमः, यां वायवे ध्वजहस्ताय प्राणाधिपतये रुरुवाहनाय सपरिवाराय नमः, सां सोमाय शङ्खहस्ताय नक्षत्राधिपतये अश्ववाहनाय सपरिवाराय नमः, हां ईशानाय त्रिशूलहस्ताय विद्याधिपतये वृषभवाहनाय सपरिवाराय नमः, ओम् ब्रह्मणे पद्महस्ताय सत्यलोकाधिपतये हंसवाहनाय सपरिवाराय नमः, श्रीं विष्णवे चक्रहस्ताय नागाधिपतये गरुडवाहनाय सपरिवाराय नमः, ॐ वास्तुपतये ब्रह्मणे नमः, इत्येकादशदिक्षु एकादशदेवानर्चयेत् ।।१४।।

एकादशदिशश्च चतस्रो दिशः, चतस्रोऽवान्तरदिशः, ऊर्ध्वम्, अधः समस्तं चेति ज्ञेयाः। शेषं स्वयमूह्यम् ।।१४।।

साधक का सारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग मन्त्रन्यास से प्रकाशमान हो रहा है। वह प्रसन्न है। मन्त्र से दीप्त मुखमण्डल पर मान्त्रिक आभा है। उसके हृदय में भक्ति का उद्रेक है। वह माँ के महनीय मन्दिर का चिन्तन कर रहा है। वह सोचता है। अमृत का महोदधि लहरा रहा है। उसके बीचोंबीच रत्नों से बना एक मणिद्वीप सुशोभित है। उसी द्वीप पर वह एक मातृमण्डप का प्रकल्पन कर रहा है। वह मण्डप मुक्ताओं की मालाओं आदि से अलङ्कृत कर दिया गया है। पूरी तरह सजा दिया गया है। उस मण्डप में चार द्वार हैं। साधक चारों द्वारों की पूजा के क्रम में सर्वप्रथम पूर्व द्वार में 'सां' इस बीजमन्त्र के साथ सरस्वती को नमस्कार करता है। इस बीजमन्त्र के पूर्व त्रितारी प्रयोग आवश्यक है। पुनः 'लां' बीज के साथ 'लक्ष्म्यै नमः', 'शं' बीज के साथ 'शङ्खनिधये नमः' और 'पं पद्मनिधये नमः' से सामान्य पूजन सम्पन्न करने के उपरान्त पूर्व आदि द्वार पर नियत क्रम से पूजा प्रारम्भ करनी चाहिये।

१. **पूर्वादिक्-पूजन-मन्त्र**—ऐं क्लीं सौः लगाकर 'लां-इन्द्राय वज्रहस्ताय सुराधिपतये ऐरावतवाहनाय सपरिवाराय नमः' इस मन्त्र से इन्द्र का पूजन करना चाहिये।

२. **अग्निकोण**—'ऐं क्लीं सौः रां अग्नये शक्तिहस्ताय तेजोऽधिपतये अजवाहनाय सपरिवाराय नमः' इस मन्त्र से अग्निकोण में अग्नि की पूजा करनी चाहिये।

३. **दक्षिण**—'ऐं क्लीं सौः टां यमाय दण्डहस्ताय प्रेताधिपतये महिषवाहनाय सपरिवाराय नमः' मन्त्र से यम की पूजा की जाती है।

४. **नैऋत्यकोण**—ऐं क्लीं सौः बीज के साथ 'क्षां निऋतये खड्गहस्ताय रक्षोऽधिपतये नरवाहनाय सपरिवाराय नमः' इस मन्त्र से पूजा करनी चाहिये।

५. **पश्चिम**—ऐं क्लीं सौः बीज लगाकर 'वां वरुणाय पाशहस्ताय जलाधिपतये मकरवाहनाय सपरिवाराय नमः' मन्त्र से वरुण की पूजा करनी चाहिये।

६. **वायव्यकोण**—'यां वायवे' के पहले त्रितारी का प्रयोग कर 'ध्वजहस्ताय प्राणाधिपतये रुरुवाहनाय सपरिवाराय नमः' इस मन्त्र से वायु की पूजा करने का विधान शास्त्रविहित है।

७. **उत्तर दिशा**—सोम की पूजा की जाती है। इसके मन्त्र में भी पहले त्रितारी का प्रयोग किया जाता है। मूल मन्त्र इस प्रकार है—

"सां सोमाय शङ्खहस्ताय नक्षत्राधिपतये अश्ववाहनाय सपरिवाराय नमः"

८. **ईशानकोण**—ईशान भगवान् की पूजा का विधान है। मूल मन्त्र इस प्रकार है—'ऐं ह्रीं सौः हां ईशानाय त्रिशूलहस्ताय विद्याधिपतये वृषभवाहनाय सपरिवाराय नमः'।

९. **ईशान और पूर्वदिशा के मध्य में**—ब्रह्मा का अवस्थान ब्रह्माण्डमण्डल में निर्धारित है। ब्रह्मा के मूल मन्त्र के पहले भी त्रितारी प्रयोग कर 'ॐ ब्रह्मणे पद्महस्ताय लोकाधिपतये हंसवाहनाय सपरिवाराय नमः' इस मन्त्र से ब्रह्मा की पूजा की जाती है।

१०. इसी तरह 'अनन्त' नामक विष्णु का अवस्थान निऋति और वरुण के मध्य में निर्धारित है। तन्त्रशास्त्र के अनुसार अनन्त ही सितेतर सृष्टि के कारक देव हैं। इनकी कारयित्री देवी ही माया है। माया और अनन्त कृपा कर साधक को शुद्ध अध्वा में प्रवेश देने के लिये 'निरोधिका' का अवरोध हटाते हैं। इनकी पूजा भी उसी दिग्भाग में करनी चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—'ऐं ह्रीं सौः श्रीं विष्णवे नमः चक्रहस्ताय नगाधिपतये गरुडवाहनाय सपरिवाराय नमः" इस प्रकार ये दिव्य दिशाधिपति अपने-अपने दिक्-क्षेत्रों की रक्षा करते हैं। ये दिव्य देव परमेश्वर परमशिव की रश्मियों के प्रतीक हैं। इनकी पूजा से अर्चक की रक्षा अनायास होती रहती है। माँ का मन्दिर विश्व के केन्द्र भाग में अवस्थित है। अतः उस मन्दिर के चारों भागों की दिक्शक्तियों की पूजा होती है। यह मन्दिरार्चन नहीं अपितु मन्दिर के चतुर्दिक् नियुक्त दिगधिपतियों का ही अर्चन है।

इतनी पूजा करने के बाद वास्तु देवता का स्मरण भी शास्त्रकार इस सूत्र के माध्यम से कर रहे हैं। वास्तु शिल्प विश्वनिर्मिति का प्रतीक होता है। एक तरह से सभी दिक्शक्तियों का केन्द्र होता है। उसके पूजन का मन्त्र—

'ॐ वास्तुपतये ब्रह्मणे नमः' बोलकर उनका अर्चन करना चाहिये। यहाँ यह ध्यान देने की बात है। इस सूत्र के अनुसार चार पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर मुख्य दिशायें हैं। इसी तरह अग्निकोण, नैऋत्यकोण, वायव्यकोण और ईशानकोण मुख्य ४ कोण माने गये हैं। नैऋत्य और पश्चिम के मध्य कोण को अनन्त कोण कहते हैं। इसी तरह ईशान और पूर्व के मध्य में ब्रह्मकोण माना गया है। इन दोनों को अधः और ऊर्ध्व भी मान सकते हैं। इस तरह दश दिशायें हो जाती हैं। ग्यारहवीं दिशा वास्तु केन्द्र को समस्त दिशाओं के केन्द्र रूप में मान्य कर लेने से दिशाओं की संख्या ग्यारह हो जाती है। यह मन्दिर के बाहर और भीतर सर्वत्र अवस्थित है।।१४।।

श्यामाक्रमे सर्वमन्त्रेषु बीजविशेषयोगमाह

श्यामाक्रमे मन्त्राणामादौ त्रितारीकुमारीयोगः कुमारीयोगो वा। त्रितारी पूर्वोक्ता कुमारी बाला शेषमुत्तानम् ।।१५।।

अर्थः स्पष्टः ।।१५।।

श्यामा-क्रम के मन्त्रों में यह आदेश है कि, आदि में त्रितारी का प्रयोग करना अनिवार्य है। अथवा कुमारी प्रयोग भी कर सकते हैं। जहाँ तक त्रितारी का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है (त्रितारी वाङ्माया-कमलाः १) कुमारी बाला को कहते हैं। बाला के मन्त्र में वाग्भव, काम और परा २ मन्त्रों का योग प्रयुक्त होता है।।१५।।

कर्त्तुरङ्गभूतान् काँश्चिद् गुणानाह

गन्धद्रव्येण लिप्ताङ्गस्ताम्बूलामोदितवदनः प्रसन्नमनाभूत्वा।।१६।।

इस सूत्र की वृत्ति नहीं लिखी गयी है। पूरा सूत्र सरल है। अर्थ अनायास ही व्यक्त हो रहा है। वस्तुतः इस पूजा में संलग्न साधक को अपने व्यक्तित्व के उत्कर्ष का सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। राजराजेश्वरी की अर्चना में अवस्थित रहने की पूरी तैयारी में शरीर की साज-सज्जा का ध्यान साधक को अवश्य रखना चाहिये। इसके लिये सुगन्धित द्रव्यों के प्रयोग, ताम्बूल से मुखशुद्धि और

प्रसन्न मुद्रा यह सब अत्यन्त आवश्यक कर्त्तव्य है। इस तरह पूरी तरह अपने को योग्य बनाकर पूजा में प्रवृत्त होना चाहिये।।१६।।

श्यामाचक्रलेखनप्रकारमाह

सुवर्णरजतताम्रचन्दनमण्डलेषु बिन्दुत्रिकोणपञ्चकोणाष्टदल-षोडशदलाष्टदलचतुर्दलचतुरस्रात्मकं चक्रराजं विलिख्य ।।१७।।

मण्डलेषु फलकेषु। पञ्चकोणं पञ्चास्रकुण्डाकारम्। निर्माणं बिन्दुमारभ्य निर्गमनरीत्या ज्ञेयम् ।।१७।।

यन्त्र रचना फलक पर करनी चाहिये। सूत्र में फलक के लिये भी मण्डल शब्द का प्रयोग किया गया है। फलक के लिये १. स्वर्ण, २. रजत, ३. ताम्र और ४. चन्दन गृहीत हैं। यन्त्र रचना मध्य बिन्दु से प्रारम्भ करनी चाहिये। उसका क्रम इस प्रकार है—

सर्वप्रथम बिन्दु का निर्धारण करना चाहिये। उसी स्थान से माप के अनुसार समान दूरी कां ध्यान रखते हुए समत्रिकोण की रचना करनी चाहिये। उसके बाद पाँच कोणों वाले समपञ्चभुज की रचना करनी चाहिये। समपञ्चभुज के पञ्चकोण के चतुर्दिक् वृत्ताकार अष्टदल कमल, उसके ऊपर पुनः वृत्ताकार षोडशदल कमल, इसके अतिरिक्त वृत्ताकार पुनः अष्टदल और उसके साथ पुनः चतुर्दल कमलों की रचना करनी चाहिये। इसे ईशान-अग्नि, अग्नि-नैऋति-वायु-ईशान के चतुरस्र चारों ओर के कोणों वाला चतुर्भुज निर्मित करने से यन्त्र पूरा हो जाता है।।१७।।

सामान्यार्घ्यविधिमाह

मूलेन त्रिवारजप्तेन शुद्धजलेन चतुरस्र-वृत्त-षट्कोण-त्रिकोणबिन्दुना प्रवेशेन मत्स्यमुद्रया विधाय, 'अं आत्मतत्त्वाय आधारशक्तये वषट्' इत्याधारं प्रतिष्ठाप्य, धूम्रार्चिरूष्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विस्फुलिङ्गिनी सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यवाहा कव्यवाहेत्यग्निकला अभ्यर्च्य, उं विद्यातत्त्वाय पद्माननाय वौषट् इति पात्रं प्रतिष्ठाप्य, तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचिः सुषुम्ना

भोगदा विश्वा बोधिनी दारिणी क्षमा इति पात्रे सूर्यकला अभ्यर्च्य, 'मं शिवतत्त्वाय सोममण्डलाय नमः' इति शुद्धजलमापूर्य, अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिः धृतिः शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा पूर्णा पूर्णामृता चेति चन्द्रकला अभ्यर्च्य अग्नीशासुरवायुषु मध्ये दिक्षु च षडङ्गानि विन्यस्य अस्त्रेण संरक्ष्य कवचेनावकुण्ठ्य धेनुयोनी प्रदर्श्य मूलमन्त्रेण सप्तशोऽभिमन्त्र्य तज्जलविप्रुड्भिः यागगृहं पूजोपकरणानि चावोक्ष्य।।१८।।

प्रवेशेन प्रवेशरीत्या। मत्स्यमुद्राया मण्डलादिप्रकल्पने प्रसिद्धा। आधारलक्षणं वर्त्तुलं त्रिकोणादि तन्त्रोक्तम्। नमोऽन्तैश्चतुर्थ्यन्तैरेतैर्नामभिः। वह्निकलापूजनमाधारे। पात्रं प्रतिष्ठाप्य इति निरुक्तस्थापिताधारे। वह्न्यादि-कलानामभ्यर्चनं पश्चिमादि-प्रादक्षिण्येन। प्रमाणं (श्रीक्रमोक्त २३ सूत्रभाष्ये) प्राग् उक्तम्। धेनुः धेनुमुद्रा। इयं लोके बहुरूढा। योनिस्तु पूर्वमुक्ता। सप्तशः सप्तकृत्वः। तज्जलविप्रुड्भिः सामान्यार्घ्यविप्रुड्भिः ।।१८।।

श्यामा विद्या के मूल मन्त्र को तीन बार जप लेने से जल अभिमन्त्रित एवं शुद्ध हो जाता है। यही शुद्ध जल सामान्य अर्घ्य के लिये प्रयोग में लाना चाहिये। जिस समय अर्चक गुरु के आदेश से याग गृह में प्रवेश करता है, उस समय निर्धारित विधि का ही निर्देशानुसार पालन करता है। पुष्पों को चक्रादि पर बिखेर कर सामान्यार्घ्य जल प्रोक्षण से चतुरस्र पावन और दिव्य बनता है। पुनः षट्कोण, त्रिकोण आदि पर जल प्रक्षेप करते हुए बिन्दु तक यही क्रिया करनी चाहिये और साधक करता है। वहीं मत्स्य मुद्रा का प्रदर्शन भी आवश्यक माना जाता है।

इतना करने के बाद 'अं आत्मतत्त्वाय आधारशक्तये वौषट्' इस मन्त्र से आधार की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि, बाला बीज का प्रयोग इस मन्त्र के पहले कर लें। आधार पर ही १. धूम्रा, २. अर्चिः, ३. ऊष्मा, ४. ज्वलिनी, ५. ज्वालिनी, ६. विस्फुलिङ्गिनी, ७. सुश्रीः, ८. सुरूपा, ९. कपिला १०. हव्यवाहा और ११. कव्यवाहा इन अग्निकलाओं की पूजा करनी चाहिये।

इसके बाद पात्र की प्रतिष्ठा का विधान आता है। पात्र आधार पर ही प्रतिष्ठापित होता है। इसका मन्त्र बाला के साथ इस प्रकार बोलकर प्रयोग करना चाहिये—'ऐं क्लीं सौः उं विद्यातत्त्वाय पद्माननाय वौषट्'। इस मन्त्र से पात्र की प्रतिष्ठा कर उसमें सूर्य की कलाओं का अर्चन करना चाहिये। उनकी कलायें १. तपिनी, २. तापिनी, ३. धूम्रा, ४. मरीचि, ५. ज्वालिनी, ६. रुचि, ७. सुषुम्ना, ८. भोगदा, ९. विश्वा, १०. बोधिनी, ११. धारिणी और १२. क्षमा इस क्रम से बारह मानी जाती है। इस तरह पात्र में इन कलाओं की समन्त्रक पूजा पूरी होती है।

अब पात्र में शुद्ध जल भर लेते हैं। उसमें रहस्यरूप से ॐकार के तृतीयाक्षर बीज में विद्यमान शिवरूप सोमतत्त्व की पूजा बाला के साथ की जाती है। पूरा मन्त्र बनता है—'ऐं क्लीं सौः मं शिवतत्त्वाय सोममण्डलाय नमः'। इससे सोम की १. अमृता, २. मानदा, ३. पूषा, ४. तुष्टि, ५. पुष्टि, ६. रति, ७. धृति, ८. शशिनी, ९. चन्द्रिका, १०. कान्ति, ११. ज्योत्स्ना, १२. श्री १३. प्रीति, १४. अङ्गदा, १५. पूर्णा, १६. पूर्णामृता नामक कलाओं का अभ्यर्चन होता है। इतनी प्रक्रिया के बाद अग्निकोण और ईशानकोण में मौलि स्थान का प्रकल्पन कर तथा नैऋत्य और वायव्य में अधोभाग का प्रकल्पन कर इसी तरह इनके मध्य में अर्थात् १. अग्नि-ईशान के मध्य पूर्व दिशा में २. असुर और वायु के मध्य पश्चिम दिशा में एवं ३. अग्नि, असुर मध्य दक्षिण दिशा में और ४. वायव्य और ईशान के मध्य उत्तर दिशा में भी षडङ्गविन्यास आवश्यक है। षडङ्ग १. हृदय, २. शिर, ३. शिखा, ४. कवच, ५. नेत्रत्रय और ६. अस्त्र हैं। इनमें बाला जोड़कर न्यास करना चाहिये। जैसे 'ऐं क्लीं सौः हृदयाय नमः हृदयशक्तिं (पादुकां) पूजयामि तर्पयामि नमः' मन्त्र हृदय अङ्ग में प्रयुक्त होता है। इसी तरह सभी अङ्गों में करना चाहिये। इसके बाद अस्त्र मन्त्र से संरक्षण, कवच मन्त्र से अवकुण्ठन, धेनु और योनि दोनों मुद्राओं का प्रदर्शन आवश्यक है। पुनः मूल मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित कर सामान्य अर्घ्य के जल से याग-गृह, पूजा के उपकरण आदि का सम्प्रोक्षण करना चाहिये।।१८।।

विशेषार्घ्यविधिः

ताभिरीकाराङ्कितत्रिकोणवृत्तचतुरस्रं मण्डलं विधाय तस्मिन् पुष्पाणि विकीर्य पूर्ववदाधारं प्रतिष्ठाप्य अग्निकला अभ्यर्च्य पात्रं

प्रतिष्ठाप्य तस्मिन् पात्रे 'ह्रीं ऐं महालक्ष्मीश्वरि परमस्वामिनि ऊर्ध्व-शून्यप्रवाहिनि सोमसूर्याग्निभक्षिणि परमाकाशभासुरे आगच्छागच्छ विश विश पात्रं प्रतिगृहण प्रतिगृहण हुं फट् स्वाहा' इति पुष्पाञ्जलिं विकीर्य सूर्यकला अभ्यर्च्य,

ब्रह्माण्डाखण्डसम्भूतमशेषरससम्भृतम्।

आपूरितं महापात्रं पीयूषरसमावह।।

इत्यादिममापूर्य द्वितीयं निक्षिप्य अकथादित्रिरेखाङ्कितकोणत्रये हलक्षान् मध्ये हंसं च विलिख्य, मूलेन दशधा अभिमन्त्र्य चन्द्रकलाः अभ्यर्च्य अग्नीशासुरवायुषु मध्ये दिक्षु षडङ्गानि विन्यस्य, अस्त्रेण संरक्ष्य कवचेनावकुण्ठ्य धेनुयोनी प्रदर्शयेत् ।।१९।।

ताभिः सामान्याघ्र्योदकसम्बन्धिभिः अद्भिः, ईकाराङ्कितेति त्रिकोण-विशेषणम्। त्रिकोणमध्ये ईकारं लिखेद् इति भावः। इदं न पूर्ववत् प्रवेशरीत्या निर्माणाभिप्रायकम्; किन्तु निर्गमरीत्या त्रिकोणमारभ्य चतुरस्रावसानपाठात् त्रिकोणं सर्वान्तः चतुरस्रं सर्वस्माद् बहिरिति प्रायोदिष्टत्वात्। पूर्ववदिति सामान्याघ्र्याधारवदित्यर्थः। अग्निकलाः धूम्रार्चिरादीः अभ्यर्च्य पात्रं प्रतिष्ठाप्य इत्यत्रापि पूर्ववदनुवर्त्तते, योग्यत्वात्। तेन पात्रप्रतिष्ठापने पूर्वमन्त्रलाभः आदिमद्वितीयौ प्रोक्तौ अत्र सूत्रे, तेन नात्र तृतीयचतुर्थपञ्चमाः, अनुक्तत्वात्। गणपतिक्रम इव मध्यमं चेतिवत् चकारोऽस्ति, अग्रे मपञ्चकमुररीकृत्येति वा लिङ्गमस्ति, येन तल्लाभो भवेत्। तस्माद् यावदुक्तम्। अश्च कश्च थश्च ते आदौ यासां ताः त्रिरेखाः। अवर्णमारभ्य विसर्गान्ता एका वर्णमयी रेखा ततः कादितान्ता, ततः थादिसान्तेति भावः। विशेषस्यानुक्तत्वात् स्वाग्रादि-प्रादक्षिण्येन हलक्षान् त्रीन् वर्णान् त्रिषु विलिख्य मध्ये हंस इति उत्तरसंस्थं लिखित्वा इदं सर्वं पात्रस्थद्रव्ये तत्संस्काररूपं लेखनम्। इत्थं च ईदृशलेखेन द्रव्यसंस्कारं भावयेद् इति तदर्थः। दशधा—एतदनन्तरं आवर्त्तितमूलेनेत्यस्य विशेषणम्। धेनुयोनी प्रदर्शयेद् इति धेनुमुद्रां प्रदर्श्य योनिमुद्रया प्रणमेत्। एतदर्घ्यसंशोधनमिति क्वचित्पुस्तके पाठः ।।१९।।

सूत्र में ताभिः (उनके द्वारा) शब्द का प्रयोग सबसे पहले किया गया है। यह तत् शब्द पूर्वपरामर्शक होता है। इससे पहले कहे गये सामान्य अर्घ्य जल सम्बन्धी बिन्दुओं से यह अर्थ निकालना चाहिये।

ईकाराङ्कित शब्द त्रिकोण का विशेषण है। अर्थात् त्रिकोण रचना के उपरान्त उसमें 'ई' बीज लिखना चाहिये। बीजाक्षर पर अनुस्वार लगाने का भी विधान है। इस मण्डल में त्रिकोण के बाद वृत्तनिर्माण का उल्लेख है। त्रिकोण के बाद किन्हीं पुस्तकों में षट्कोण बनाने की भी चर्चा है। अन्त में अर्थात् वृत्त के बाद चतुरस्र मण्डल संरचना से मण्डल विधान पूरा होता है। वस्तुतः मण्डल में सबके भीतर त्रिकोण फिर षट्कोण वृत्त और चतुरस्र का क्रम सर्वमान्य है।

मण्डल में फूलों को बिखेर देने से दिव्यता आ जाती है और सौन्दर्य-मय आकर्षण बढ जाता है। इसके बाद आधार की प्रतिष्ठा का क्रम आता है। यह क्रम पहले की तरह पूरा करना चाहिये। इसीलिये सूत्र में पूर्ववत् शब्द का प्रयोग किया गया है। क्रमानुसार अब अग्निकलाओं की अभ्यर्चना करनी चाहिये। पुनः पात्र की प्रतिष्ठा होनी चाहिये। उस पात्र में 'ह्रीं ऐं महालक्ष्मीश्वरि परमस्वामिनि ऊर्ध्वशून्यप्रवाहिनि सोमसूर्याग्निभक्षिणि परमाकाशभासुरे आगच्छागच्छ विश विश पात्रं प्रतिगृह्ण प्रतिगृह्ण स्वाहा' इस मन्त्र से अञ्जलि भरा पुष्प डालना चाहिये।

एतदनन्तर सूर्य-कलाओं की पूजा का विधान है। अठारहवें सूत्र में सूर्य-कलाओं और अग्निकलाओं की चर्चा की जा चुकी है। कला पूजा के बाद मूल में दिये गये श्लोक से, पहले पात्र को भर कर दूसरे पात्र को हटा देना या अलग कर देना चाहिये। निक्षेप में नि उपसर्ग आधार, क्षिप धात्वर्थ फेंकने हटाने या अस्वीकृत अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। सूत्रानुसार उस पात्र के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। कल्पना करनी चाहिये कि, यह पात्र महत्त्वपूर्ण पात्र है। यह अखण्ड ब्रह्माण्डमण्डल से अखण्ड रूप से सम्भूत है और स्वयं समस्त रसों से परिपूर्ण है। मेरे द्वारा पीयूष से यह आपूरित किया जा रहा है। इसी पीयूषरसपूर्णता को हे पात्र तुम प्राप्त हो जाओ। इसी भावना से पात्र भरना चाहिये।

यहाँ दो पात्रों का उल्लेख है। आदिम और द्वितीय। इसका तात्पर्य यह है कि, इसमें तीसरे, चौथे, पाँचवें आदि पात्रों की कोई आवश्यकता नहीं। गणपतिक्रम में एक मध्य पात्र का उल्लेख है, पर यहाँ उसका अध्याहार नहीं होता। इतनी प्रक्रिया पूरी करने के उपरान्त त्रिकोण लेखन का क्रम आता है। त्रिकोण सबके भीतर रहता है और चतुरस्र सबसे बाहर। यह त्रिकोण रेखामय नहीं होता अपितु अक्षर त्रिकोण होता है। इसे अकथादि त्रिरेखाङ्कित कोणत्रय कहते हैं।

अकथ शब्द सङ्केतात्मक है। 'अ' वर्ण से विसर्ग पर्यन्त १६ स्वरवर्णों का बोध करते हैं। अर्थात् पहली रेखा सोलह स्वर वर्णों के क्रम से त्रिभुज की पहली रेखा होती है। दूसरी रेखा क से त पर्यन्त व्यञ्जन वर्णों से बनती है। इसमें कवर्ग के ५, चवर्ग के ५, टवर्ग के ५ और तवर्ग का एक वर्ण मिलाकर ५ + ५ + ५ + १ = १६ वर्ण आते हैं। तीसरी रेखा पर 'ह' वर्ण पर्यन्त अर्थात् तवर्ग के ४, पवर्ग के ५, यवर्ग के ४ और शवर्ग के ४ वर्ण अर्थात् कुल ४ + ५ + ४ + ४ = १७ वर्ण आते हैं। इस प्रकार यह विषमबाहु त्रिभुज बनता है। यह त्रिकोण संरचना बनायी नहीं जाती अपितु भावना अर्थात् हाथ द्वारा संकेत संस्कार-भावना रूप होती है। स्वर रेखा पर 'ह' प्राणात्मक वर्ण, क त रेखा पर 'ऊ' वर्ण और 'थ स' रेखा पर 'क्ष' वर्णों का प्रकल्पन करते हैं। इस प्रक्रिया से वहाँ वर्त्तमान वातावरण दिव्य बन जाता है। इस त्रिकोण के मध्य में 'हंसः' यह मन्त्र भी भावित किया जाना चाहिये।

तदनन्तर श्यामा मूल मन्त्र से पात्र को दश बार अभिमन्त्रित करना चाहिये। अब चन्द्रकलाओं के अर्चन का क्रम अपनाया जाता है। तदनन्तर अग्नि, ईशान, निऋति, वायु, मध्य और दिशाओं में षडङ्ग विन्यास कर अस्त्र मन्त्र सें संरक्षित कर कवच से अवकुण्ठित कर धेनुमुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये। पुनः योनिमुद्रा प्रदर्शित कर प्रणाम अर्पित करने का विधान है।।१९।।

इत्थं पात्रासादनमुक्त्वा श्रीदेवतायाः मूर्त्तिकल्पनामन्त्रमाह

चक्रमध्ये श्रीमुक्त्वा 'मातङ्गीश्वरीमूर्त्तये नमः' इति मूर्त्तिं कल्पयित्वा, भूयः श्रीमुक्त्वा 'मातङ्गीश्वर्यमृतचैतन्यमावाहयामि' इत्यावाह्य षोडशभिरुपचर्य, आंशुशुक्षणित्र्यक्षरक्षःप्रभञ्जनदिक्षु देव्या मौलौ परितश्च पूज्या अङ्गदेव्यः। तन्मन्त्राः सर्वजनादयः, अष्टौ सप्तैकादश

पुनर्दशाष्टाविंशतिखण्डाः त्रितारी-कुमारी-वागादयः सजातयः सामान्यमनुयुक्ताः ।।२०।।

चक्रमध्ये इति आवाह्येत्यनेनान्वितम्। श्रीं इत्यारभ्य प्रथमनम इत्यन्त उत्त्वेत्यपहाय मूर्त्तिकल्पनमन्त्रः। द्वितीये श्रीं इत्यारभ्य आवाहयामीत्यन्त उत्त्वावर्जम् आवाहनमन्त्रः। षोडशोपचाराः २।९ सूत्रे दर्शिताः। आशुशुक्षणिः अग्निः। त्र्यक्षः ईशानः। रः निर्ऋतिः। प्रभञ्जनो वायुः। एषां दिक्षु उक्तक्रमेण विदिक्ष्विति भावः। देव्या मौलौ मध्ये इत्यर्थः। प्रागादिदिक्षु अङ्गदेव्यः षडङ्गदेव्यः पूज्याः, तासां मन्त्रान् वक्तुं प्रक्रमते—तन्मन्त्रा इति। मूलमन्त्रे सर्वजनेत्यारभ्य षट् खण्डानि षडङ्गदेवीनां मन्त्रा बोध्याः, तत्रैकैकं कूटं कियद्वर्णकमिति जिज्ञासायामाह—अष्टाविति। प्रथमखण्डमष्टवर्णम्। द्वितीयं सप्तवर्णं, तृतीयम् एकादशवर्णं, चतुर्थपञ्चमौ दशवर्णौ, षष्ठम् अष्टाविंशति-वर्णकमिति फलितम्।

न केवलं मूलमन्त्रघटकोक्तसङ्ख्याकवर्णा एव मन्त्रस्वरूपम्। अन्येऽपि वर्णा योज्या इत्याह—त्रितारी-कुमारी-वाचः। आदौ एषां खण्डानां जातिः हृदयाय शिरसे इत्यादि तैः सहिता सजातयः। इत्थं च मन्त्रस्वरूपम् 'ऐं ह्रीं श्रीं'—

१. ऐं क्लीं सौः ऐं सर्वजनमनोहारि हृदयाय नमः।

२. ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं सर्वसुखरञ्जनि शिरसे स्वाहा।

३. ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं सर्वराजवशङ्करि शिखायै वषट्।

४. ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः सर्वस्त्रीपुरुषवशङ्करि कवचाय हुं।

५. ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः सर्वदुष्टमृगवशङ्करि नेत्रत्रयाय वौषट्।

६. ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं सर्वसत्त्ववशङ्करि सर्वलोकवशङ्करि अमुकं मे वशमानय स्वाहा। सौः क्लीं ऐं श्रीं ह्रीं ऐं अस्त्रायफट्—इति मन्त्रस्वरूपम्।

यद्यपि मन्त्रे त्रयस्त्रिंशद्वर्णा दृश्यन्ते सूत्रोक्ताष्टाविंशतिसङ्ख्ययाविरुध्यते, तथापि स्वाहान्ताः सप्तविंशतिवर्णा अग्रिमषड्बीजानि मिलित्वा श्रीषोडशाक्षर्यां

प्रविष्टपञ्चदशवर्णात्मककूटत्रये एकैककूटस्यैकैकवर्णत्ववत् षण्णां वर्णानामेकवर्णत्वम्। इत्थं चाष्टाविंशतिसङ्ख्योपपन्ना।।२०।।

सूत्र में चक्रमध्य में जो उक्ति है, उसका अन्वय आवाह्य शब्द से करना चाहिये। इसी तरह 'उक्त्वा' शब्द को हटाकर 'श्रीमातङ्गीश्वरीमूर्त्तये नमः' इस मन्त्रात्मक शब्द का आन्तरिक भावन करने से देवी शक्ति की मूर्त्ति का भावन हो जाता है। दूसरी बार सूत्र में पुनः श्रीं का उल्लेख है। इस मन्त्र के बीच में 'श्रीं उक्त्वा' शब्द आया है। उसे हटाकर एक साथ 'श्रीमातङ्गीश्वर्यमृतचैतन्य-मावाहयामि' बोलने पर एक मन्त्र बनता है। यह देवी के आवाहन का मन्त्र माना जाता है।

आवाहन के बाद सोलह उपचारों से देवी का पूजन होना चाहिये। सोलह उपचारों का वर्णन द्वितीय खण्ड के नवें सूत्र में किया गया है। वहाँ से देखना चाहिये। आशुशुक्षणि अग्नि का पर्यायवाची शब्द है। अग्निकोण के लिये इसका प्रयोग किया गया है। त्र्यक्ष का अर्थ त्रिनेत्र या त्रिलोचन होता है। ईशानकोण के लिये इस शब्द का प्रयोग है। रक्षः राक्षस अर्थ वाचक शब्द है। यह निऋति-कोण के लिये प्रयुक्त है, निऋति राक्षस ही है। वह दक्षिण-पश्चिम के मध्य कोण में रहता है। इस कोण को नैऋत्यकोण कहते हैं। प्रभञ्जन वायु का पर्याय शब्द है। वायु का कोण वायव्य कहलाता है। इन दिशाओं और विदिशाओं में सर्वत्र व्याप्त देवी के मौलि भाग, मध्य भाग और चारों ओर अङ्गमय देवियों की पूजा करने का विधान है।

साधक अपनी उपासना शक्ति से मातृशक्ति श्रीमातङ्गीश्वरी की मूर्त्ति की कल्पना कैसे करता है? अपने औन्मनस और सामनस स्तर से माँ को कैसे आवाहित करता है, यह सब अन्तर्याग के क्रम में सिद्ध गुरु ही जानता है, दिशाओं-विदिशाओं में व्याप्त अङ्गशक्तियों की समन्त्रक पूजा का इस सूत्र में सङ्केत मात्र है। यह सब गुरुगम्य औपासनिक रहस्य रूप ही है।

षडङ्गदेवियों की पूजा के मन्त्रों का उल्लेख संस्कृत व्याख्या में किया जा चुका है। वहीं से उसका प्रयोग करने के लिये याद कर लेना चाहिये। पूरे मन्त्र का उल्लेख भी इसी के साथ हो गया है।

जहाँ तक मन्त्र की वर्ण-संख्या का प्रश्न है, उसमें ३३ वर्ण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सूत्र में अट्ठाइस सङ्ख्याओं का उल्लेख है। यह विरोध षोडशाक्षरी

में अन्तर्भूत पञ्चदशी के तीनों कूटों के एक वर्ण की तरह छः आदिवर्णों को एक वर्ण और स्वाहान्त २७ वर्णों को मिलाकर अष्टाविंशत्यक्षर मानने पर मिट जाता है।।२०।।

आवरणपूजा

पश्चादावरणपूजां कुर्यात् ।।२१।।

पश्चादितीदं सूत्रं व्यर्थमिव दृश्यते, तथापि तथा न मन्तव्यम्। तथा हि— इदमावरणपूजोत्पत्तिवाक्यम्। अग्रिमवाक्यानि तदितिकर्त्तव्यता-प्रपञ्चरूपाणि ।।२१।।

यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि, यह सूत्र अनावश्यक है। वस्तुतः यह महत्त्वपूर्ण सूत्र आवरण-पूजा का मानो प्रवर्त्तन-सा करता हुआ प्रतीत हो रहा है। यह तो एक प्रकार का 'उत्पत्तिवाक्य' ही है। आगे के एतद्विषयक सूत्र तो मात्र इतिकर्त्तव्यता के प्रपञ्च मात्र हैं।।२१।।

अथ सर्वोपयोगिनीं काञ्चित् परिभाषामाह

सर्वचक्रदेवताऽर्चनानि वामकराङ्गुष्ठानामिकासन्दष्टद्वितीय-शकलगृहीतश्रीपात्रप्रथमबिन्दुसहपतितैः दक्षकराक्षतपुष्पक्षेपैः कुर्यात् ।।२२।।

सर्वचक्रदेवता गणपत्यादिपरान्ताः सामान्यपद्धत्या यक्ष्यमाणा अन्याश्च। श्रीपात्रं विशेषार्घ्यपात्रम्। सहपतितैरित्यनेन बिन्दुपुष्पाक्षतयोः पतनम् एककाले, इति सूचितम् ।।२२।।

'गणपति' से प्रारम्भ कर 'परा' पर्यन्त समस्त चक्र-देवता वर्ग का अर्चन बाँयें हाथ के अँगूठे और अनामिका से दृढतापूर्वक गृहीत विशेषार्घ्य-पात्र से करे। दक्ष हस्त के सहयोग से एक साथ जल-बिन्दुवों, फूलों और अक्षतों को नीचे छोड़ने की विधि अपनाये।।२२।।

प्रथमावरणदेवतास्तत्स्थानं चाह

त्रिकोणे रतिप्रीतिमनोभवान् ।।२३।।

अनुक्तत्वात् स्वाग्रादिप्रादक्षिण्यक्रमः। यद्वा आग्नेयकोणे, ततः पश्चिमकोणे, तत ऐशाने तेनोदगपवर्गलाभः। इति प्रथमावरणम् ।।२३।।

अर्चन क्रम में मन्त्र प्रयोग से सम्बन्धित नियम ध्यान में रखना चाहिये। जब भी त्रिकोण में पूजन करना हो, तो देवता नाम के पहले त्रितारी का प्रयोग अवश्य करें। दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि, किस कोण से अर्चन आरम्भ करना उचित है? सूत्र में उसका उल्लेख नहीं है। इसलिये गुरुदेव की आज्ञा से, परम्परा से प्राप्त विधि के अनुसार ही पूजा प्रारम्भ करनी चाहिये। इसमें व्याख्याकार दो बातें सामने रखते हैं—१. स्वाग्रप्रादक्षिण्य और २. अग्नि, पश्चिम और ईशानकोण का क्रम। मन्त्र—

१. 'ऐं क्लीं सौः रतिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' इति अग्निकोणे।

२. 'ऐं क्लीं सौः प्रीतिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' इस मन्त्र से त्रिकोण के अधःकोण में प्रीति देवी की पूजा करनी चाहिये।

३. 'ऐं क्लीं सौः मनोभवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' ईशानकोण में मनोभव की पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार प्रथमावरण पूजन पूरा होता है।।२३।।

द्वितीयावरणपूजास्थानादिकं दर्शयति

पञ्चारमूले पुर आदिक्रमेण द्रां द्रावणबाणाय द्रीं शोषणबाणाय क्लीं बन्धनबाणाय, ब्लूं मोहनबाणाय सः उन्मादनबाणाय नम इति तदग्रे मायाकामवाग्ब्लूं स्त्रीमुपजुष्टाः काममन्मथकन्दर्पमकरकेतन-मनोभवाः।।२४।।

'नमः' इति सर्वमन्त्रेष्वनुसज्जते। पुरः प्राची। मूले पञ्चारकोणमूले। तदग्रे इति, पञ्चारकोणाग्रेष्वित्यर्थः। मायादिपञ्चकैः क्रमेण युक्ताः। कामादयः पूज्या इत्यर्थः। मन्त्रस्वरूपं तु—ह्रीं कामश्रीपादुकां पूजयामि। एवमग्रेऽपि। पूर्ववत् चतुर्थ्यन्तनमोऽन्तरहितं ज्ञेयम्। इति द्वितीयावरणम् ।।२४।।

पाँच अरों से सम्पन्न पञ्च अरों के मूल अर्थात् अग्रभाग पर पाँच बाणों की पूजा का निर्देश इस सूत्र में दिया गया है।

१. द्रां बीज के द्रावणबाण का चतुर्थीरूप द्रावणबाणाय शब्द लगाकर नमः जोड़ना चाहिये। जैसे 'द्रां द्रावणबाणाय नमः' यह इसका मूलमन्त्र होता है। इसमें आदि में 'ऐं क्लीं सौः' और चतुर्थ्यन्त और 'नमः' बीच में 'श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' भी लगाते हैं। यह परम्परा है। यह पूर्वकोण की पूजा है।

२. 'ऐं क्लीं सौः द्रीं शोषणबाणाय श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' यह मन्त्र बनता है।

३. इसी तरह क्लीं बन्धनबाणाय नमः, ४. ब्लूं मोहनबाणाय नमः और ५. सः उन्मादनबाणाय नमः से ही पूजा करने पर पाँचों कोणों पर पञ्च बाणों की पूजा सम्पन्न होती है। इसके बाद माया (ह्रीं) काम (क्लीं) वाग् (ऐं) (ब्लूं) (स्त्रीं) से युक्त काम, मन्मथ, कन्दर्प, मकरकेतन, मनोभव इन पाँच नामों के साथ त्रितारीयुक्त मन्त्र बनाकर पूजा करनी चाहिये। उदाहरणरूप प्रथम मन्त्र जैसे—'ऐं क्लीं सौः ह्रीं कामश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः'। इसी तरह 'क्लीं' से मन्मथ, ऐं से कन्दर्प, ब्लूं से मकरकेतन, स्त्रीं से मनोभव के मन्त्र ऊहनपूर्वक बनाकर पूजा करनी चाहिये। यह द्वितीय आवरण की पूजा मानी जाती है।।२४।।

तृतीयावरणपूजादेशादीनाह

अष्टदलमूले ब्राह्मी-माहेश्वरी-कौमारी-वैष्णवी-वाराही-माहेन्द्री-चामुण्डा-चण्डिकाः सेन्दुस्वरयुग्मान्त्यादयः पूज्याः। तदग्रे लक्ष्मी-सरस्वती-रति-प्रीति-कीर्त्ति-शान्ति-पुष्टि-तुष्टयः ।।२५।।

इन्दुना अनुस्वारेण, सहिता ये स्वरयुग्मेषु अं आं, इं ईं, उं ऊं, ऋं ॠं, ऌं ॡं, एं ऐं, ओं औं, अं अः, इत्यष्टसु अन्त्याः आं ईं ऊं ॠं ॡं ऐं औं अः इत्यष्टौ वर्णा आदौ एभिः क्रमेण युक्ता ब्राह्म्यादयः पूज्याः। मन्त्रस्वरूपं यथा—आं ब्राह्मीश्रीपादुकां पूजयामि इति। तदग्रे इति अष्टदलाग्रे इत्यर्थः। इति तृतीयावरणम् ।।२५।।

अष्टदल कमल के पूर्व दल के अग्रभाग से ब्राह्मी के क्रम से आठों दलों पर आठ देवशक्तियों की पूजा की जाती है। सेन्दु का अर्थ अनुस्वारयुक्त होता

है। सोलह स्वरों में आठ स्वर युग्म (अर्थात् युगल या जोड़ा) होते हैं। इन स्वरयुगलों के अन्त आठ 'आ' 'ई' 'ऊ' 'ॠ' 'ॡ' 'ऐ' 'औ' और 'अ:' यदि अनुस्वारयुक्त हो जाँय, तो 'आं' 'ईं' 'ऊं' 'ॠं' ॡं' 'ऐं' 'औं' और 'अं:' ये आठ दीर्घ सेन्दु स्वर होते हैं। एक-एक शक्तियों के साथ लगाकर मन्त्र बनाने का निर्देश सूत्रकार देते हैं। इसी क्रम में सूत्रनिर्दिष्ट आठों देवियों की पूजा भी करनी चाहिये। उदाहरणरूप एक ब्राह्मी देवी का मन्त्र इस प्रकार बनाना चाहिये—

१. 'ऐं क्लीं सौ: 'आं' ब्राह्मीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नम:'। इसी तरह अन्य सात देवियों के क्रमिक मन्त्र बनते हैं।

२. लक्ष्मी आदि उपदेवियों के लिये उदाहरणरूप एक मन्त्र इस प्रकार बनता है—'ऐं क्लीं सौ: लक्ष्मीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नम:'। गुह्य मन्त्र से लक्ष्मी की पूजा होती है। इसी तरह क्रमश: सातों की पूजा सम्पन्न होती है। यह तृतीयावरण पूजा है।।२५।।

चतुर्थावरणपूजास्थानान्याह

षोडशदले वामा-ज्येष्ठा-रौद्री-शान्ति-श्रद्धा-सरस्वती-क्रिया-शक्ति-लक्ष्मी-सृष्टि-मोहिनी-प्रमथिनी-आश्वासिनी-वीची-विद्युन्-मालिनी-सुरानन्दा-नागबुद्धिकाः ।।२६।।

अत्र क्रियाशक्ति:, विद्युन्मालिनी, सुरानन्दा इत्येकैका देवता:। शेषा देवता: स्पष्टा:। क्रमस्यानुक्तत्वाद् देव्यग्रदलमारभ्य प्रादक्षिण्येन। इति चतुर्थावरणम् ।।२६।।

सोलह दल वाले कमलों के दलों पर यह पूजा की जाती है। क्रम अनुक्त होने के कारण देवी के अग्रदल से दक्षक्रम से पूजा प्रारम्भ की जाती है। क्रियाशक्ति, विद्युन्मालिनी और सुरानन्दा एक-एक देवी के ही नाम हैं। इनकी पूजा के लिये उदाहरणरूप एक मन्त्र इस प्रकार है—'ऐं क्लीं सौ: वामा श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नम:'। इसी तरह १६ देवियों के सोलह मन्त्रों से चौथे आवरण की पूजा पूरी होती है।।२६।।

पञ्चमावरणदेशादीनाह

अष्टदले असिताङ्ग-रुरु-चण्ड-क्रोधन-उन्मत्त- कलाप-भीषण-संहाराः सदण्डिस्वरयुग्मादिसंयुक्ता भैरवान्ताश्च भावनीयाः ।।२७।।

सदण्डीत्यत्र दण्डी अनुस्वारः 'दण्डी पञ्चदशः शून्यः' इति मेदिनी-कोशात्। अनुस्वारेण सहिता ये पूर्वोक्तस्वरयुग्मादय आदौ तैर्युक्त्वा भैरवान्ताश्च ये मन्त्रास्तैः पूज्या इत्यर्थः। यथा अं असिताङ्गभैरवश्रीपादुकां पूजयामि। एवमेवाग्रिमसप्तमन्त्रा ऊह्याः। इति पञ्चमावरणम् ।।२७।।

दूसरे अष्टदल कमल के दलों पर सदण्डि अर्थात् अनुस्वारयुक्त षोडश स्वरों के युग्म-युग्म भाग के आदि अक्षरों के साथ भैरवदेवों की पूजा का विधान है। उदाहरण रूप प्रथम मन्त्र—'ऐं क्लीं सौः अं असिताङ्ग'भैरवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' इस प्रकार का बनेगा। इसी प्रकार इं रुरु, उं चण्ड, ऋं क्रोध, ऌं उन्मत्त, एं कपाल, ओं भीषण, अं संहार भैरव के मन्त्रों का भी ऊहन करना चाहिये ।।२७।।

षष्ठावरणदेवतामन्त्रादीनाह

चतुर्दलं मायुक्ततङ्गी सिद्धलक्ष्मीश्च महामायुक्ततङ्गी महासिद्ध-लक्ष्मीश्च ।।२८।।

उभयत्रयुक्तेति ज्ञेयम्। तथा च मातङ्गी महामातङ्गीति सिद्धम्। शेषं स्पष्टम्। मातङ्गी सिद्धलक्ष्मी, महामातङ्गी महासिद्धलक्ष्म्यश्चतस्रः पूज्या इति विवेकः। इति षष्ठावरणम् ।।२८।।

इस आवरण-पूजन में केवल चार देवियों की पूजा त्रितारी के साथ की जाती है। चार दलों पर चार देवियों की पूजा करनी चाहिये। उदाहरणस्वरूप मन्त्र 'ऐं क्लीं सौः मातङ्गीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' बनता है। इसी तरह सिद्धलक्ष्मी, महामातङ्गी, और महासिद्धलक्ष्मी पूजन का भी विधान है। यह छठें आवरण की पूजा है। ।।२८।।

सप्तमावरणपूजामाह

गंगणपति, दुंदुर्गा, बंबटुक, क्षंक्षेत्रपालाः चतुरस्त्रे सम्पूज्याः।।२९।।

क्रमस्तु आग्नेयकोणमारभ्यैशानान्तकोणे इति सप्तमावरणम् ।।२९।।

सातवें आवरण में चतुरस्र के अग्निकोण से 'ऐं क्लीं सौः गं गणपति-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' ऐसे गणपति मन्त्र से गणपति की पूजा करनी चाहिये। इसी तरह निऋति में 'दुं' बीज सहित दुर्गा की, वायव्य में बं बीज सहित बटुक की और ईशान में 'क्षं' बीज सहित क्षेत्रपाल की पूजा करनी चाहिये। यह सप्तमावरण की पूजा मानी जाती है।।२९।।

श्रीक्रमे तत्रान्तरे आम्नायादिदेवतावद् आवरणबहिर्भूतदेवतायजनमाह

'सां सरस्वत्यै नमः' इति प्रभृति 'वास्तुपतये ब्रह्मणे नमः' इति-पर्यन्तं पुनस्तत्रैवाभ्यर्च्य ।।३०।।

तत्रैवेति पूर्वं यत्र न्यासोत्तरं पूजितास्तत्र तैरेव मन्त्रैः श्रीपादुकां पूजयामि नमःसहितैः, यथा—सां सरस्वत्यै नमः सरस्वतीश्रीपादुकां पूजयामि नम इति। एवमग्रेऽपि नमःपदान्ते श्रीपादुकामिति योगस्तु सूत्रे नमोऽन्तानुकरणेन सूचितः ।।३०।।

इसी क्रम के सूत्र १४ में पहले सरस्वती, लक्ष्मी, शङ्खनिधि, पद्मनिधि, इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण, वायु, सोम, ईशान, ब्रह्मा, विष्णु और वास्तुपति की एकादश दिशाओं की पूजा का उल्लेख है। उसी क्रम को यहाँ भी अपनाना चाहिये।।३०।।

श्रीश्यामाविद्याप्रवर्त्तकाचार्यपूजां तेषां स्थानान्याह

हंसमूर्त्तिपरप्रकाशपूर्णनित्यकरुणसम्प्रदायगुरूँश्चतुरस्रपूर्वरेखायामभ्यर्च्य ।।३१।।

हंसमूर्त्तिश्च, परप्रकाशश्च, पूर्णश्च, नित्यश्च, करुणश्च ये ते सम्प्रदायगुरवस्तान् चतुरस्रपूर्वरेखायाम्। उदगपवर्गं पूजयेद् इति तदर्थः। मन्त्रस्वरूपञ्च 'हंसमूर्त्तिसम्प्रदायगुरुश्रीपादुकां पूजयामि। एवमग्रिममन्त्रेष्वपि सम्प्रदायगुरु इति योज्यम्, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकं सर्वत्र सम्बन्ध्यत इति न्यायात् ।।३१।।

हंसमूर्त्ति, परप्रकाश, पूर्ण, नित्य और करुण गुरु सम्प्रदाय प्रवर्त्तक गुरु हैं। द्वन्द्व समास के अन्त में सम्प्रदाय गुरु शब्द का प्रयोग सभी के साथ लगाने का नियम है। मन्त्र का उदाहरण सूत्रानुसार 'हंसमूर्त्ति-सम्प्रदाय-गुरुश्रीपादुकां पूजयामि नमः' इस प्रकार का होगा। इसमें भी त्रितारी और कुमारी प्रयोग किया जा सकता है। तर्पयामि शब्द का प्रयोग भी परम्परा में है।।३१।।

एवं चक्रपूजां समाप्य गुरुपादुकापूजामाह

स्वशिरसि सामान्यविशेषपादुके अभ्यर्चयेत् ।।३२।।

सामान्यगुरुपादुकामन्त्रो दीक्षाखण्डे प्रतिपादितः। विशेषगुरुपादुकामन्त्रः चरमखण्डे श्यामागुरुपादुके(सू.४४)त्युद्धृतः। ताभ्यां मन्त्राभ्यां स्वशिरसि पादुकाद्वयं पूजयेत् ।।३२।।

गुरुदेव की चरणपादुकायें अभिव्यक्त रहस्यमयी शक्तियाँ मानी जाती हैं। इन्हें अपने शिर पर रखने से और सामान्य-विशेष मन्त्रमय पूजन से शिष्य के शरीर में दिव्यता का सञ्चार होता है। सामान्य मन्त्र का उल्लेख दीक्षा-खण्ड के सूत्र ४१ में वर्णित है।

सामान्य पादुका मन्त्र में त्रितारी कुमारी और ऐं ग्लौं इतना जोड़कर 'ह्स्खफ्रें हसक्षमलवरयूं सहक्षमलवरयीं ह्सौः स्हौः, मन्त्र बोलते हैं। विशेष पूजा में त्रितारी 'ऐं ग्लौं' नहीं लगाते हैं। इस पर ध्यान देना चाहिये ।।३२।।

एवं गुरुपादुकार्चना-आवरणपूजामुक्त्वा प्रधानदेवतापूजापुरःसरं बलिप्रदानं विवृणोति

पुनर्देवीमभ्यर्च्य बालया षोडशोपचारान् विधाय ।।३३।।

मूलेनेति शेषः। पुनरित्यनेन षडङ्गदेवताभ्यः प्राक् प्रधानदेव्यर्चनं ज्ञापितम्। बालयेति स्पष्टम् ।।३३।।

आवरणपूजा और गुरुपादुका-पूजा के बाद पुनः देवी श्यामा की पूजा करनी चाहिये। बाला मन्त्र से षोडशोपचार पूजन का क्रम अपनाना विधिविहित है। षोडशोपचार में पाद्यार्घ्याचमनीय, स्नान, वस्त्र, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, नीराजन, छत्र, चामर, दर्पण, आभूषण गृहीत हैं।।३३।।

बलिदानप्रकारं दर्शयति

शुद्धजलेन त्रिकोणवृत्तचतुरस्रं विधायार्धान्नपूर्णसलिलसादि-मोपादिममध्यमं सु(स)गन्धपुष्पं साधारं पात्रं निधाय ।।३४।।

शुद्धजलेन कलशस्थेन। अर्धान्नपूर्णं सलिलं यस्मिंस्तत्। आदिमं प्रथमम्। उपादिमं द्वितीयं, मध्यमं तृतीयम्, एभिः सहितं सुगन्धपुष्पं यत्र, ईदृशम् आधारसहितं बलिपात्रं निधाय स्थापयित्वा ।।३४।।

यहाँ शुद्ध जल से ही मण्डल-प्रकल्पन कर लेना चाहिये। कलशस्थित जल ही शुद्ध जल माना जाता है। इसकी सामान्य पुष्पविकीर्णन से अर्चना करने के उपरान्त साधार पात्र की स्थापना करे। उस पात्र को आधा अन्न और आधा जल से आपूरित कर उस पात्र में गन्ध, पुष्प आदि का प्रक्षेप करे, जिससे वहाँ का वातावरण आकर्षक और मनोहारी प्रतीत हो। जहाँ तक पात्र का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में आदिम, उपादिम और मध्य शब्दों का पात्र के विशेषण रूप में प्रयोग सूत्र में दिया गया है। अर्थात् तीन बलिपात्र अपेक्षित हैं।।३४।।

बलिदानमन्त्रान् तदितिकर्त्तव्यतां च दर्शयति

श्रीमातमुक्त्वा गीश्वरीमं बलिं गृह्ण गह्ण हुं फट् स्वाहा। श्रीमातमुक्त्वा गीश्वरि शरणागतं मां त्राहि त्राहि हुं फट् स्वाहा। क्षेत्रपालनाथेमं बलिं गृह्ण गह्ण फट् स्वाहा। इति मन्त्रत्रयेण वामपार्ष्णिघातकरास्फोटसमुदञ्चित-वक्त्रनाराच-मुद्राभिः बलिं प्रदाय ।।३५।।

श्रीमातमिति हुंफट् स्वाहेत्यन्तं मन्त्रत्रयम्। नाराचमुद्रा प्रसिद्धा ।।३५।।

१. **प्रथम मन्त्र**—ऐं क्लीं सौः श्रीमातङ्गीश्वरि इमं बलिं गृह्ण गृह्ण हुं फट् स्वाहा।

२. **दूसरा मन्त्र**—ऐं क्लीं सौः श्रीमातङ्गीश्वरि शरणागतं मां त्राहि त्राहि हुं फट् स्वाहा।

३. **तीसरा मन्त्र**—ऐं क्लीं सौः क्षेत्रपाल नाथ इमं बलिं गृह्ण गृह्ण हुँ फट् स्वाहा।

इन मन्त्रों का क्रमशः पाठ करते हुए देवी के दक्षिण भाग में इन तीन बलियों को अर्पित करना चाहिये। फिर बलि को दूध से नहलाना चाहिये। फिर

बायीं एड़ी के घात के साथ करास्फोट करते उत्तर ओर मुँह करके नाराच मुद्रा से बलि अर्पित कर देना चाहिये।

इसके बाद में हाथ-मुँह धोकर माँ को प्रणाम करने के बाद अन्य कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिये।।३५।।

एवं बलिप्रदानक्रममुक्त्वा सुवासिनीपूजादिकमुपदिशति

श्यामलां शक्तिमाहूय बालया तामभ्यर्च्य तस्या हस्त आदिमोपादिमौ दत्त्वा तत्त्वं शोधयित्वा तच्छेषमुररीकृत्य योग्यैः सह हविःशेषं स्वीकुर्यात्।।३६।।

अभ्यर्च्येति विशेषानुक्तेः, यथाविभवम्। तत्त्वं शोधयित्वा इत्यनेन तत्त्वशोधनमन्त्रा अपि प्राप्ताः। ते च मन्त्राश्चत्वारः प्रसिद्धाः। तैः पात्रचतुष्टयं ग्राहयित्वा चतुर्थपात्रं सशेषं ग्राहयित्वा तच्छेषं स्वयम् उररीकुर्यात्। हविश्शेषप्रतिपत्तिमाह—योग्यैरिति। योग्यपदार्थः श्रीक्रमोक्तशिष्टपदेन व्याख्यातः। इत्थं च तस्य प्रयोजनं तदितिकर्त्तव्यता, तत् सर्वमपि श्रीक्रमोक्त-प्रकारेणावगन्तव्यं भवति ।।३६।।

बलिक्रिया के अनन्तर श्यामला शक्ति का आवाहन कर बाला मन्त्र से उसकी पूजा होनी चाहिये। पूजा के लिये सूत्रकार का स्पष्ट निर्देश है कि, बाला से पूजा की जानी चाहिये। तत्त्वशोधन मन्त्र प्रसिद्ध है। दीक्षा प्रकरण के सूत्र ३९ में इसकी चर्चा की गयी है। उन शक्तियों को सभी पात्र समर्पित कर चतुर्थ पात्र का शेष अंश स्वयं ग्रहण करना चाहिये। खण्ड ५।२२ सूत्र की व्याख्या में शिष्टशब्द की व्याख्या है। श्रीक्रम के अनुसार सारा समायोजन उचित है ।।३६।।

एवं सङ्गीतमातृकापूजा कियत्कालं कर्त्तव्या, इत्याकाङ्क्षायां तदवधिमाह

एवं नित्यसपर्यां कुर्वन् लक्षजपं जप्त्वा तद्दशांशक्रमेण होम-तर्पण-ब्राह्मणभोजनानि विदध्यात् ।।३७।।

एवमुक्तप्रकारेण नित्यसपर्यां नित्यपूजाम्, अत्र कुर्वन्नित्यनेन पूजनस्य जपाङ्गत्वं गमयति। अतः अपः प्रधानं, तदवधित्वस्य पूजायां कथनात्। अत

एव जपसमाप्तौ पूजानिवृत्तिः। लक्षजपं जप्त्वेति लक्षसंख्याविशिष्टजपोऽनेन विधीयते। तद्दशांशक्रमेण होमो जपदशांशं, तद्दशांशं तर्पणम्, तद्दशांशं ब्राह्मणभोजनम् ।।३७।।

सूत्रकार का यह निर्देश है कि, सपर्या नित्य करनी चाहिये। तदनन्तर जप का विधान है। जप की संख्या भी एक लाख होनी चाहिये। ऐसा निर्देश है। इस सन्दर्भ में यह ध्यान देना आवश्यक है कि, पूजा प्रधान नहीं होती। प्रधान जप होता है और पूजा उसकी अङ्ग होती है। एक लाख जप, दश हजार होम, १ हजार तर्पण और सौ ब्राह्मण भोजन का क्रम अपनाना चाहिये। श्यामा मन्त्र जप करने वाले के लिये विशेष आचार पालन की भी पद्धति अपनानी चाहिये ।।३७।।

अथैतन्मनुजापिधर्मानाह

एतन्मनुजापी न कदम्बं छिन्द्यात्, गिरा कालीति न वदेत्। वीणावेणुनर्त्तन-गायन-गाथा-गोष्ठीषु च न पराङ्मुखो गच्छेत्। गायकं न निन्द्यात् ।।३८।।

एते धर्मा न जपसमकालिकाः किन्तु जपमारभ्य यावज्जीवम् ।।३८।।

श्यामा मन्त्र जपकर्त्ता आरम्भ काल से जीवनपर्यन्त करे। वह कदम्ब वृक्ष न काटे। 'काली' शब्द का उच्चारण मुख से न करे। वीणा, वंशा, मूर्च्छना, नृत्य, संगीत, गाथा, गोष्ठी में रुचि ले। गायक और गायन की कभी निन्दा न करे।।३८।।

एवं श्यामोपासकानां धर्मानुक्त्वा प्रसङ्गात् ललितोपासकधर्मानप्याह

ललितोपासको नेक्षुखण्डं भक्षयेत्, न दिवा स्मरेद् वार्त्तालीं, न जुगुप्सेत सिद्धद्रव्याणि, न कुर्यात् स्त्रीषु निष्ठुरतां, वीरस्त्रियं न गच्छेत्। न तां हन्यात्, न तद्द्रव्यमपहरेत्। नात्मेच्छया मपञ्चक-मुररीकुर्यात्, कुलभ्रष्टैः सह नासीत, न बहु प्रलपेत्, योषितं सम्भाषमाणामप्रतिसम्भाषमाणो न गच्छेत्, कुलपुस्तकानि गोपायेत्। इति शिवम् ।।३९।।

इक्षुखण्डमित्यनेन तद्विकाराणाम् गुडशर्करादीनाम् अदोषः सूचितः। वार्त्तालीं वाराहीम्। सिद्धद्रव्याणि मपञ्चकरूपाणि न जुगुप्सेत। स्वमनसाऽपि न निन्द्याद् निष्ठुरतां नासिकाच्छेदनादि। वीरस्त्रियमिति षष्ठीतत्पुरुषः, न कर्मधारयः। न तं हन्याद् इत्यत्र पुंस्त्वस्यानन्वयानुपपत्तेः। तं वीरं। तद्द्रव्यं वीरद्रव्यम्। आत्मेच्छया स्वेन्द्रियतृप्तये। उररीकुर्यात् स्वीकुर्यात्। अप्रतिसम्भाषमाणः प्रत्युत्तरमदत्त्वा कुलपुस्तकानि कुलशास्त्रपुस्तकानि।।३९।।

।। इति श्रीपरशुरामकल्पसूत्रे श्रीरामेश्वरनिर्मितायां सौभाग्योदयनाम्न्यां श्रीपरशुरामकल्पसूत्रवृत्तौ (मुख्यांशमात्रायां) श्यामाक्रमो नाम षष्ठः खण्डः सम्पूर्णः ।।६।।

ललितोपासक के आचार—

१. ऊख (गन्ना) न चूसे। २. दिन में वाराही का स्मरण न करे। ३. मपञ्चक द्रव्यों की निन्दा न करे। ४. स्त्रियों के प्रति निष्ठुर न बने। नाक, कान आदि का छेदन न करे। ५. वीरों की स्त्रियों को सहतल्पभागी न बनाये। वीर-वध न करे। वीर द्रव्यों का अपहरण न करे। ६. अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिये मपञ्चक का उपयोग न करे। ७. कुलाचारहीन व्यक्ति के साथ कभी न रहे। ८. बक बक न करे। ९. एक स्त्री बात करना चाहे या कर रही हो, तो उससे स्वयं भी बातें करें। १०. कुल-पुस्तकों की रक्षा करे। ये आचार अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य हैं। ललितोपासक को इन नियमों को मनोयोगपूर्वक निभाना चाहिये।।३९।। इति शिवम् ।।

।। श्रीरामेश्वरकृत मुख्यांश-सौभाग्योदयवृत्तिसहित डॉ. परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य-समन्वित श्रीपरशुरामकल्पसूत्र का श्यामाक्रम नामक षष्ठ खण्ड परिपूर्ण ।।६।।

।। शुभं भूयात् ।।

वाराहीक्रमः

[सप्तमः खण्डः]

अथ वाराह्युपासनां वक्तुं प्रक्रमते

इत्थं साङ्गां सङ्गीतमातृकामिष्ट्वा संवित्साम्राज्ञी सिंहासनाधिरूढाया ललिताया महाराज्ञ्या दण्डनायिकास्थानीयां दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहनिरर्गलाज्ञाचक्रां समयसङ्केतां कोलमुखीं विधिवद्वरिवस्येत्।।१।।

इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण साङ्गां सावरणां सङ्गीतमातृकां मातङ्गीमिष्ट्वा सम्पूज्य समुपास्य। अनेन सङ्गीतमातृकायागोत्तरकालस्य श्रीवाराह्युपासनाङ्गत्वमात्रं विधीयते। संविदः परशिवस्य वा साम्राज्ञी पट्टमहिषी तद्रूपायाः सिंहासनं राज्ञः सदसि सर्वोत्तमत्वेनावस्थितमासनं तदधिरूढाया ललिताया महाराज्ञा दण्डनायिकाया यत् स्थानं, तदीया स्वामिनी दुष्टनिग्रहाधिकारवती या ताम्। दुष्टनिग्रहादौ निरर्गलम् अन्यानपेक्षं यदाज्ञाचक्रं तद्वतीम्। समयो गुप्तः सङ्केतः शास्त्रपद्धतिर्यस्यास्तां 'समयो रहसि प्रोक्तः काले कार्यक्षमेऽपि वा' इति त्र्यक्षरकोशः (विश्वकोषः)। कोलो वराहस्तस्य मुखमिव मुखं यस्यास्तां विधिवद् वरिवस्येत् पूजयेत् ।।१।।

छठें खण्ड में सङ्गीतमातृका माता मातङ्गी की पूजा की चर्चा है। उस विधान को पूरा करने के बाद ही वाराही उपासना की विधि अपनायी जानी चाहिये। यहाँ इष्ट्वा में पूर्वकालिकक्रिया का प्रयोग है। अतः पूर्वकाल में सङ्गीतमातृका मातङ्गी की उपासना प्रधान उपासना के रूप में पूरी कर लेने के बाद ही अङ्गपूजा के रूप में वाराही माँ की पूजा करनी चाहिये। संवित् साम्राज्ञी

परशिवशक्तिमयी संविन्मयी पट्टमहिषी सिंहासनासीन राजराजेश्वरी ललिताम्बा की दण्डनायिका माँ वाराही सर्वथा प्रणम्य और पूज्य हैं। दुष्टों को नियन्त्रित करने और शिष्टों पर अनुग्रह करने के निरर्गल अधिकार से यह सम्पन्न हैं। अन्यानपेक्षा आज्ञा के अधिकार से यह सम्पन्न हैं। अन्यानपेक्षा आज्ञा की अधिकारिणी कोल के समान मुखवाली माँ वाराही की उपासना करनी चाहिये। यह अत्यन्त रहस्यमयी समयसङ्केता विद्या है।।१।।

तत्र कथंभावाकाङ्क्षायामाह

तत्रायं क्रमो महारात्रे बुद्ध्वा स्वहृदयपरमाकाशे ध्वनन्त-मनाहतध्वनिमूर्जितानन्ददायकमवमृश्य ।।२।।

तत्र वाराह्युपास्तावयं क्रमः प्रकारः। महारात्रे इति। धूर्त्तस्वामिभाष्ये महारात्रिस्त्रिभागावशिष्टा रात्रिः। यद्वा महारात्रिः निशीथः। 'महारात्रिसमुत्पन्नः कृष्णो गोपालनन्दनः' इति ब्रह्मवैवर्त्तात्। कृष्णजन्मार्धरात्रे इति प्रसिद्धत्वात्। तस्मिन् समये बोधोत्तरकालीनक्रियामाह—स्वहृदयेति। स्वहृदयरूपो यः परम उत्कृष्ट आकाशस्तस्मिन् ध्वनन्तं शब्दं कुर्वन्तम् अनाहतस्य द्वादशदल-कमलस्य ध्वनिं कराभ्यां कर्णपिधाने श्रूयमाणे यः शब्दः सोऽनाहतशब्द इत्युच्यते। स मध्यरात्रे कर्णपिधानाभावेऽपि अनुभूयते। कथंभूतम्? ऊर्जितः सिद्धो य आनन्दस्तस्य दायकम्। अभिव्यञ्जकम् अवमृश्य अनुसन्धाय कञ्चित् कालं श्रुत्वेत्यर्थः ।।२।।

वाराही की उपासना का यह निर्धारित क्रम है। 'महारात्र' एक योगरूढ शब्द है। 'धूर्त्तस्वामी' नामक भाष्यकार ने इसके भाष्य के सन्दर्भ में 'महारात्र' का एक विग्रह प्रस्तुत किया था। उसके अनुसार त्रिभागावशिष्ट रात्रिकाल ही महारात्र मानना चाहिये। रात्रि की बारह घड़ी के समय को तीन भागों में बाँटने पर और आठ घड़ी बीत जाने पर शेष चार घड़ी रात को महारात्र की संज्ञा दी जाती है।

एक दूसरा अर्थ भी अभिप्रेत है। अर्धरात्रि को निशीथ कहते हैं। यह निशीथ काल ही महारात्र काल है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में यह उल्लेख है कि, भगवान् श्रीकृष्ण महारात्रिकाल में उत्पन्न हुए थे। यह लोकप्रसिद्ध सत्य है। जन्माष्टमी

की अर्धरात्रि में ही कृष्णजन्म मनाया जाता है। अर्धरात्रि का निशीथ समय चतुर्थ सन्ध्या का पुण्यप्रद समय भी है। उपासक उस अवस्था का एकान्त सदुपयोग करता है। उस समय श्रीविद्यासाधक को अनिवार्यत: जगे रहना चाहिये। जगकर उस समय क्या करना चाहिये, इसका निर्देश कर रहे हैं—

शरीर की संरचना की ओर साधक का ध्यान आकृष्ट करते हुए सूत्रकार कह रहे हैं कि, मनुष्य का हृदय एक आकाश है। यह परम उत्कृष्ट आकाश है, उस द्वादशदल कमल रूप आकाश-देश से एक स्वाभाविक शब्द ध्वनित होता रहता है। हाथों से कान दबा लेने पर वह विचित्र शब्द सुनाई पड़ता है। वह मध्यरात्र में बाह्य शब्दों के शान्त रहने पर कान विना बन्द किये भी सुनाई देता है। यह श्रवण एक प्रकार का श्रवणानुभव सदृश माना जाता है। उस अनाहत शब्द की श्रुत्यनुभूति में एक प्रकार की आनन्दमयी ऊर्जा का उल्लास होता है। ऐसे ऊर्जस्वल आनन्द को प्रदान करने वाली यह अनाहत ध्वनि है। इसका अनुसन्धान साधक को उस समय अवश्य करना चाहिये।।२।।

शिवादिगुरुनमस्कार:

'शिवादिश्रीगुरुभ्यो नम:' इति मूर्ध्नि बध्नीयादञ्जलिम् ।।३।।

शिवादि इति स्पष्टम् ।।३।।

आदिगुरु शिव माने जाते हैं। गुरुजनों के प्रणाम करने के अवसर पर सर्वप्रथम शिव को ही नमस्कार करना चाहिये। इसके बाद अन्य गुरुजनों का नमस्कार विहित है। प्रणाम करते हुए शिर पर अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाने का भी क्रम अपनाना चाहिये। इस प्रक्रिया में श्रद्धा का प्राधान्य रहना चाहिये।।३।।

वाराहीपद्धतौ सर्वमन्त्रेषु बीजविशेषस्य योगमाह

वाचमुच्चार्य 'ग्लौं' इति च पद्धतावस्यां सर्वे मनवो जप्या: ।।४।।

अस्यां पद्धतौ सर्वमन्त्रादौ, 'ऐं ग्लौं' इति योज्यमित्यर्थ: ।।४।।

वाराही उपासना के क्रम में सर्वप्रथम जिस नियम पर ध्यान देना चाहिये, वह है कि, वाक् अर्थात् 'ऐं' बीज मन्त्र के साथ 'ग्लौं' बीज का सभी मन्त्रों के आदि में प्रयोग करना चाहिये।।४।।

अथ भूतशुद्धिं विधत्ते

मूलादिषण्मन्त्रैर्यथामन्त्रं लिङ्गदेहं शोधयेत् ।।५।।

मूलादिषण्मन्त्रैरधस्तन एव सूत्रे वक्ष्यमाणैः, यथामन्त्रैः, मन्त्रे तथा लिङ्गदेहं सूक्ष्मदेहं शोधयेत् ।।५।।

आगे के मन्त्र में छः मूलादि मन्त्र कहे गये हैं। उनके अनुसार सूक्ष्मदेह का शोधन करना चाहिये। यह शास्त्र का आदेश है।।५।।

तान् षण्मन्त्रान् आह

मूलशृङ्गाटकात् सुषुम्नापथेन 'जीवशिवं परशिवे योजयामि स्वाहा' 'यं सङ्कोचशरीरं शोषय शोषय स्वाहा' 'रं सङ्कोचशरीरं दह दह पच पच स्वाहा'। 'लं शाम्भवशरीरमुत्पादय स्वाहा'

'हंसः सोहमवतरावतर शिवपदात् जीवसुषुम्नापथेन प्रविश, मूलशृङ्गाटकमुल्लसोल्लस ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल हंसः सोहं स्वाहा' इति भूतशुद्धिं विधाय ।।६।।

स्वाहेत्यत्रैकमन्त्रसमाप्तिः। सुषुम्णामार्गेण परशिवे शिवयोजनशोषण-दाहनाप्लावनशाम्भवशरीरोत्पत्ति-जीवस्वस्थाननयनानि क्रमेण षण्मन्त्रैः कुर्यात्।।६।।

इस सूत्र में छः मन्त्रों के प्रयोग के साथ ही साथ भूतशुद्धि के सन्दर्भ में जिस साधना-प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है, वह उपासना को नव्य आयाम देने वाला है। साधना का सारा सन्दर्भ इसमें है। इसे सम्पन्न कर लेने के बाद दिव्यता की नयी भूमिका में उपासक प्रवेश कर जाता है।

१. सर्वप्रथम आसन पर विराजमान उपासक मूलाधार चक्र से सुषुम्णा नाड़ी के मार्ग से अपने जीवशिव को परशिव में संयोजन करने की प्रक्रिया

अपनाता है। यह क्रिया मात्र ध्यान की कल्पना मात्र नहीं होती। यह सूत्रप्रोक्त मन्त्र के माध्यम से चक्र-साधना में निष्णात व्यक्ति ही कर सकता है। जीवशिव का परशिव में समायोजन औन्मनस दशा की परा भूमि पर ही सम्पन्न हो सकता है, इस सम्बन्ध में अधिक कहना उचित नहीं। इस प्रथम प्रक्रिया का मन्त्र है—'जीवशिवं परशिवे योजयामि स्वाहा'। दूसरी प्रक्रिया इस ज्ञान पर आधारित है कि, सङ्कोच से मिला यह शरीर पराविद्या प्राप्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये इसमें आयी संकोच की आर्द्रता सूख जाय, इसे जला दिया जाय, जले भस्म को शिवामृत प्रवाह में बहा दिया जाय, तब शाम्भव शरीर को उत्पादित कर जीवशिव को शिवपद से उसी शाम्भव शरीर में प्रवेश करा दिया जाय। उसी नवनिष्पन्न प्रकाशमान शाम्भव शरीर की दिव्यता में स्वात्म को प्रतिष्ठित कर माँ की उपासना की जाय। यह सब प्रकल्पन की क्रिया होती है और बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसमें पाँच मन्त्रों द्वारा पाँच प्रकार के प्रकल्पन हैं, जो क्रम इस प्रकार है—

२. **शोषण**—'यं सङ्कोचशरीरं शोषय शोषय स्वाहा'।

३. **दाहन**—'रं सङ्कोचशरीरं दह दह पच पच स्वाहा'।

४. **आप्लावन**—'वं परमशिवामृतं वर्षय वर्षय स्वाहा'।

५. **शाम्भवशरीरोत्पादन**—'लं शाम्भवशरीरमुत्पादयोत्पादय स्वाहा'।

६. **जीवस्वस्थानानयन**—'हंसः सोऽहमवतरावतर शिवपदाज्जीवसुषुम्णापथेन-प्रविश मूलशृङ्गाटकमुल्लसोल्लस ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल हंसः सोहं स्वाहा'।

इन मन्त्रों के द्वारा गुरुनिर्दिष्ट क्रमानुसार स्वात्म को दिव्य बना लेना आवश्यक है। इसके बाद ही आगे की उपासना-प्रक्रिया अपनायी जाती है ।।६।।

अथ मातृकासम्पुटिताभ्यां बीजाभ्यां न्यासमाह

मातृकासम्पुटितां द्वितारीं काननवृत्तद्व्यक्षिश्रुतिनासागण्डोष्ठ-दन्तमूर्धास्यदोःपत्सन्ध्यग्रपार्श्वद्वय-पृष्ठनाभिजठरहृद्दोर्मूलापरगलकक्ष-हृदादिपाणिपादयुगलजठराननेषु विन्यस्य ।।७।।

मातृकाभिः आदिक्षान्तैः सम्पुटितां द्वितारीप्रकृतत्वाद् ऐं ग्लौं। तद्यथा आदिक्षान्तं प्रथमं सबिन्दु उच्चार्य मध्ये ऐं ग्लौं इति वर्णबीजद्वयं पुनरपि आदिक्षान्तं ततो नमःपदं न्यासरूपत्वात्। एवं वक्ष्यमाणैकचत्वारिंशत्स्थानेषु न्यसेदित्यर्थः। कं शिरः 'कं शिरोऽम्बुनोः' इत्यमरः। आननवृत्तं मुखवृत्तम्, अक्षिद्वयं, श्रोत्रद्वयं, नासाद्वयम्, गण्डद्वयम्, ओष्ठद्वयं, दन्तपक्तिद्वयम्, मूर्धा (शिरोरन्ध्र) आस्यं गुहारूपं, दोर्द्वयं, पादसन्धिद्वयं, पादाग्रद्वयं, पृष्ठः, नाभिः, जठरं, कुक्षिः, हृद्वक्षः, दोर्मूलं, गलस्यापरभागः, पाश्चात्त्यदेशः, कक्षः, पुनर्वामपार्श्वे हृदादिकक्षपर्यन्तं पाणिद्वयं, पादद्वयं, पुनर्जठरं, पुनराननम्, एवम् एकचत्वारिंशत्स्थाने मातृकासम्पुटितां द्वितारीं न्यसेत् ।।७।।

अ से क्ष पर्यन्त ५० वर्णों की मातृका के प्रत्येक वर्ण में बिन्दु लगाकर बोलने के बाद वार्त्ताली बीज 'ऐं ग्लौं'—बोलकर पुनः मातृका के अ क्ष वर्ण सबिन्दु बोले जाने पर एक सम्पुट मन्त्र बनता है। ऐसे मन्त्र को इकतालिस बार इकतालिस अङ्गों पर बोलकर नमः के साथ न्यास करना चाहिये। इकतालिस शरीर के अङ्ग सूत्र में निर्दिष्ट हैं—

१ शिर, १ मुखवृत्त, २ नेत्र, २ कर्ण, २ नासापुट, २ कपोल, २ ओष्ठ, २ दन्तपङ्क्ति, १ ब्रह्मरन्ध्र, १ मुखान्त, २ दोर्मूल, २ मध्यसन्धि, २ मणिबन्ध, २ अङ्गुल्यग्र, २ उरुमूल, २ जानु, २ पादसन्धि, २ पार्श्व, १ नाभि, १ पृष्ठ, १ जठर, १ वक्ष, २ हाथ, २ पाद, १ हृदादि-मूर्धान्त कुल मिलकर ४१ होते हैं।।७।।

अङ्गुलिन्यासः

अन्धेप्रभृति सप्तार्णपञ्चकमङ्गुष्ठादि-कनिष्ठान्तम् ।।८।।

अत्रापि पूर्वसूत्राद्विन्यस्येत्यस्यानुवृत्तिः। 'अन्धे अन्धिनि नमः' इत्यादि। 'स्तम्भे स्तम्भिनि नमः' इत्यन्तैः पञ्चभिः सप्तार्णमन्त्रैरङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्त-क्रमेण विन्यस्य। मन्त्रस्वरूपं तु—अन्धे अन्धिनि नमः अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। एवमग्रेऽप्यूह्यम्। इत्यङ्गुलिन्यासः ।।८।।

अङ्गुलियों पर न्यास करने के पहले मूलमन्त्र के पहले का भाग वाराहमुखि तक बोलकर—

१. अन्धे अन्धिनि नमः अङ्गुष्ठाभ्यां नमः,

२. रुन्धे रुन्धिनि नमः तर्जनीभ्यां नमः,

३. जम्भे जम्भिनि नमः मध्यमाभ्यां नमः,

४. मोहे मोहिनि नमः अनामिकाभ्यां नमः और

५. स्तम्भे स्तम्भिनि नमः कनिष्ठिकाभ्यां नमः बोलकर 'अस्त्राय फट्' तक मन्त्र पूरा कर देना चाहिये। १ से ५ तक के सभी मन्त्र सात-सात अक्षरों के हैं। इसीलिये इन्हें सप्तार्ण मन्त्र कहते हैं।।८।।

अथ हृदयादिन्यासः

वाङ्नमो भगवतीत्यारभ्य त्रयोदशभिर्हृदयं षड्भिः शिरः, दशभिः शिखां, सप्तभिः सप्तभिः कवचनेत्रास्त्राणि विन्यस्य।।९।।

वागित्यारभ्य मूलमन्त्रत्रयोदशादिमवर्णैर्हृन्मन्त्रसहितैः शिखायाम्, तदग्रि-सप्तवर्णैः कवचमन्त्रसहितैः नेत्रेषु, तदग्रिमसप्तवर्णैः अस्त्रमन्त्रसहितैः अस्त्रं च विन्यसेत्। मन्त्रस्वरूपं यथा—ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्त्तालि वार्त्तालि हृदयाय नमः। एवमग्रेऽपि योज्यम्। इति हृदयादिषडङ्गन्यासः ।।९।।

हृदयादि न्यास का विधान इस सूत्र में दिया गया है। सर्वप्रथम द्वितारी का प्रयोग कर सूत्र के अनुसार वाग्बीज 'ऐं' का उच्चारण करना चाहिये। पुनः मूलमन्त्र के १३ वर्णों से हृदय में, छः वर्णों से शिर पर, दश वर्णों से शिखा में, तथा सात-सात से कवच, नेत्र और अस्त्र में विन्यास होना चाहिये। मन्त्रों का स्वरूप इस प्रकार होना चाहिये—

१. ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्त्तालि वार्त्तालि हृदयाय नमः।

२. ऐं ग्लौं वाराहि वाराहि शिरसे स्वाहा।

३. ऐं ग्लौं वराहमुखि वराहमुखि शिखायै वषट्।

४. ऐं ग्लौं अन्धे अन्धिनि नमः कवचाय हुम्।

५. ऐं ग्लौं रुन्धे रुन्धिनि नमः नेत्रत्रयाय वौषट्।

६. ऐं ग्लौं जम्भे जम्भिनि नमः अस्त्राय फट्।

इस तरह मूल मन्त्र से हृदयादि न्यास का विधान सूत्रानुसार पूरा होता है ।।९।।

आत्मालङ्करणम्

गन्धादिभिरलङ्कृत्य अर्घ्यं शोधयेत् ।।१०।।

आदिपदेन शस्त्रभूषणादिपरिग्रहः। आत्मानमिति शेषः। अर्घ्यं शोधयेदित्यस्य अग्रिमसूत्रेण सहान्वयः।।१०।।

वस्तुतः यह सूत्र ग्यारहवें सूत्र का पूरक सूत्र है। इसमें किसी प्रक्रिया अथवा विधि की चर्चा नहीं है। अर्घ्यशोधन के पूर्व साधक को स्वयं आकर्षक रूप से सजा लेना चाहिये। कपड़े सुन्दर हों, गहने के रूप में गले में स्वर्णमाला, अङ्गुलिभाग में अँगूठियाँ आदि पहन लेनी चाहिये। इसके बाद अर्घ्य का शोधन होता है।।१०।।

अथ अर्घ्यशोधनमाह

आत्मनोऽग्रभागे गोमयेन विलिप्ते, हेतुमिश्रितजलेन चतुरस्रं वर्त्तुलं षट्कोणं त्रिकोणमन्तरान्तरं विलिख्य, अर्घ्यशोधनमनुभिः श्यामाक्रमोक्तैः आधारार्घ्यपात्राणि संशोध्य सामान्येनाभ्यर्च्य तदर्घ्यं वषडित्युद्धृत्य, स्वाहेति संस्थाप्य हुं इत्यवकुण्ठ्य वौषट् इत्यमृतीकृत्य फडिति संरक्ष्य, नमः पुष्पं निक्षिप्य, मूलेन निरीक्ष्य, तत्पृषतैः पावयित्वा सपर्यावस्तुनि ।।११।।

हेतुमिश्रितेन प्रथममिश्रितेन। चतुरस्रादिमण्डलं प्रवेशरीत्या, चतुरस्रस्य सर्वबाह्यत्वेन भूरिदर्शनात्। अनन्तरान्तरं परस्परमसंलग्नं यथा तथा मण्डलं कुर्यात्। अत्र विशेषांशमुक्त्वा शेषधर्मानतिदिशति-अर्घ्यशोधनेनेति। सामान्येन समस्तमूलमन्त्रेण। शेषं स्पष्टम्। तदर्घ्यं सपर्यावस्तूनीत्यन्तं स्पष्टोऽर्थः। एतावत्पर्यन्तं विहितमर्घ्यशोधनं सामान्यविशेषार्घ्ययोः समानम् अविशेषेणोक्तेः ।।११।।

गोमय से लिपी-पुती भूमि अत्यन्त पवित्र मानी जाती है। उसी भूमि पर हेतु द्रव्यमिश्रित जल से चतुरस्र वर्त्तुल षट्कोण त्रिकोण मण्डल का इस प्रकार निर्माण होना चाहिये कि, वे एक-दूसरे से बिना स्पर्श किये अन्तर-अन्तर पर रहें। अर्घ्यशोधन के मन्त्रों से श्यामाक्रम के अनुसार शोधन करते हैं। यह ठीक

नहीं। सामान्य मूलमन्त्र से शोधन का विधान है। इसी से अर्चना भी होनी चाहिये। षड् जाति मन्त्र द्वारा इसका उद्धार कर स्वाहा मन्त्र से संस्थापित करे। हुं बीज से उसका अवगुण्ठन करना आवश्यक है। वौषट् से अमृतीकरण, फट् जाति मन्त्र से संरक्षण देकर 'नमः' इस मन्त्र से फूलों को मण्डप में छींट देना चाहिये। मूल मन्त्र से अच्छी तरह देखकर अर्घ्य के पवित्र जल-बिन्दुवों से सपर्या प्रक्रिया में समुपस्थित सारी सामग्री को पवित्र कर लेना चाहिये।।११।।

पुनरप्यर्घ्यशोधनानन्तरं कर्त्तव्यन्यासानाह

शिरोवदनहृद्गुह्यपादेषु पूर्वोक्तसप्तकपञ्चकं विन्यस्य विद्यामष्टधा खण्डयित्वा पादादिजानु-जान्वादिकटि-कट्यादिनाभि-नाभ्यादिहृदय-हृदयादिकण्ठकण्ठादिभ्रूमध्य-भ्रूमध्यादिललाट-ललाटादिमौलिषु एकत्रिंशत् सप्त सप्त सप्त सप्त सप्त पञ्चत्रिंशदेका-दशार्णखण्डान् मातृकास्थानेषु मूलमनुपदानि च न्यस्य ।।१२।।

शिरोवदनेति। पूर्वोक्तसप्तार्णमन्त्रपञ्चकं शिर आदि पञ्चसु स्थानेषु न्यसेत्। पादद्वयं मिलित्वैकं स्थानम्, विद्यामिति, मूलविद्याम् अष्टधा खण्डयित्वा विभज्य क्रमेण अष्टखण्डानष्टसु स्थानेषु विन्यसेदित्यर्थः। स्थानानि तानि कानि इत्याकाङ्क्षायामाह—पादादि-जान्विति, ललाटादिमौलीत्यन्तेन।

पादादि-जान्वित्यत्र जानुपर्यन्तमित्यर्थः। तेन प्रथमखण्डन्यासे जान्वन्यवलेशो न। एवमग्रेऽपि। अष्टधा खण्डयेदित्युक्तम्। तत्रैकखण्डे कियन्तो वर्णा इत्याकाङ्क्षायाम् आह—एकत्रिंशदित्यादिना। मूलस्य खण्डाष्टकं क्रमादेकत्रिंशदादिसङ्ख्याकं भवतीत्यर्थः। इत्यष्टखण्डन्यासः। मूलपदन्यासमाह—मातृकास्थानेषु इति। मातृकास्थानानि शिरः १ मुखवृत्तं २ नेत्रद्वितयं ४ कर्णद्वयं ६ नासाद्वयं ८ कपोलद्वयम् १० ओष्ठद्वयं १२ दन्तपङ्क्तिद्वयं १४ जिह्वा १५ ब्रह्मरन्ध्रं १६ दक्षदोर्मूलं १७ बाहुमध्यं १८ मणिबन्धः १९ अङ्गुलिमूलम् २० अङ्गुल्यग्रम् २१ एवंवामदोर्मूलादारभ्य अङ्गुल्यग्रान्तं पञ्च २६ दक्षोरुमूलं २७ दक्षजानु २८ तत्पादसन्धिः २९ तत्पादाङ्गुलिमूलं ३० तदङ्गुल्यग्रम् = ३१ एवं वामभागे पञ्च = ३६ पार्श्वद्वयं = ३७ पृष्ठं ३८ नाभ्यूरुजठराणि

(त्रीणि) ४१ हृदि ४२ स्कन्धद्वयं ४४ गलापरभागः ४५ हृदयादिदक्षपाण्यन्तं ४६ हृदयादिवामपाण्यन्तं ४७ हृदयादिदक्षपादान्तं ४८ हृदयादिवामपादान्तं ४९ नाभिमूर्धनी ५१ एवमेकपञ्चाशत् स्थानानि।

एवमेकपञ्चाशत्स्थानेषु मूलमन्त्रस्य एकपञ्चाशत्पदानि न्यसेत् ।।१२।।

इस सूत्र में पहले कहे गये सप्तार्ण मन्त्रपञ्चक न्यास, मूलविद्या का अष्टखण्ड न्यास और मातृका-स्थानों में मूलविद्या के पदन्यासों का अर्थात् तीन प्रकार के न्यासों का निर्देश दिया गया है। इनका क्रमिक रूप से इस प्रकार का विधान करना चाहिये—

१. सप्तार्णमन्त्रपञ्चक न्यास

अ—ऐं ग्लौं अन्धे अन्धिनि नमः शिरसि।

आ—ऐं ग्लौं रुन्धे रुन्धिनि नमः वदने।

इ—ऐं ग्लौं जम्भे जम्भिनि नमः हृदि।

ई—ऐं ग्लौं मोहे मोहिनि नमः गुह्ये।

उ—ऐं ग्लौं स्तम्भे स्तम्भिनि नमः पादयोः।

२. अष्ट खण्डों में मूलमन्त्रन्यास–

अ. 'ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्त्तालि वार्त्तालि वाराहि वाराहि वराहमुखि वराहमुखि' इससे आपादजानुपर्यन्त।

आ. 'ऐं ग्लौं अन्धे अन्धिनि नमः' से जानु से कटि पर्यन्त।

इ. 'ऐं ग्लौं रुन्धे रुन्धिनि नमः' से कटि से नाभि पर्यन्त।

ई. 'ऐं ग्लौं जम्भे जम्भिनि नमः' से नाभि से हृदय पर्यन्त।

उ. 'ऐं ग्लौं मोहे मोहिनि नमः' से हृदय से कण्ठ तक।

ऊ. 'ऐं ग्लौं स्तम्भे स्तम्भिनि नमः' से कण्ठ से भ्रूमध्य तक।

ऋ. 'ऐं ग्लौं सर्वदुष्टप्रदुष्टानां सर्वेषां सर्ववाक्चित्तचक्षुर्मुखगतिजिह्वास्तम्भनं कुरु कुरु शीघ्रं वश्यं नमः' इतने मन्त्रांश से भ्रूमध्य से ललाटपर्यन्त न्यास करना चाहिये और आठवें मुख्यांशरूप—

ऋ. 'ऐं ग्लौं ठः ठः ठः ठः हुं अस्त्राय फट्' से ललाट से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त न्यास करना चाहिये। इस प्रकार पूरे मन्त्र को ८ खण्डों में बाँट-कर पैर से ब्रह्मरन्ध्र तक का मन्त्रन्यास पूरा होता है।

३. मातृका स्थानों में मूल विद्या के पदों का न्यास इस प्रकार करना चाहिये—

क्रम,	मूलविद्या के अंश,	मातृका स्थान।
१.	ऐं ग्लौं ऐं	१. शिरसि (मातृका स्थानों का स्पर्श करना चाहिये)
२.	नमः	२. मुखवृत्ते
३.	भगवति	३. दक्षनेत्रे
४.	वार्त्तालि	४. वामनेत्रे
५.	वार्त्तालि	५. दक्षकर्णे
६.	वाराहि	६. वामकर्णे
७.	वाराहि	७. दक्षनासापुटे
८.	वराह	८. वामनासापुटे
९.	मुखि	९. दक्षकपोले
१०.	वराह	१०. वामकपोले
११.	मुखि	११. ऊर्ध्वोष्ठे
१२.	अन्धे	१२. अधरोष्ठे
१३.	अन्धिनि	१३. ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ
१४.	नमः	१४. अधोदन्तपङ्क्तौ
१५.	रुन्धे	१५. जिह्वायाम्
१६.	रुन्धिनि	१६. ब्रह्मरन्ध्रे
१७.	नमः	१७. दक्षदोर्मूले
१८.	जम्भे	१८. बाहुमध्ये
१९.	जम्भिनि	१९. मणिबन्धे
२०.	नमः	२०. अङ्गुलिमूले
२१.	मोहे	२१. अङ्गुल्यग्रे
२२.	मोहिनि	२२. वामदोर्मूले
२३.	नमः	२३. वामबाहुमध्ये

२४. स्तम्भे	२४. वामबाहुमध्ये
२५. स्तम्भिनि	२५. वाममणिबन्धे
२६. नमः	२६. वामाङ्गुल्यग्रे
२७. सर्व	२७. दक्षोरुमूले
२८. दुष्ट	२८. दक्षजानौ
२९. प्रदुष्टानां	२९. दक्षपादसन्धौ
३०. सर्वेषां	३०. दक्षपादाङ्गुलिमूले
३१. सर्व	३१. दक्षाङ्गुल्यग्रे
३२. वाक्	३२. वामोरुमूले
३३. चित्त	३३. वामजानौ
३४. चक्षुः	३४. वामपादसन्धौ
३५. मुख	३५. वामपादाङ्गुलिमूले
३६. गति	३६. वामाङ्गुल्यग्रे
३७. जिह्वा	३७. पार्श्वद्वये
३८. स्तम्भनं	३८. पृष्ठे
३९. कुरु	३९. नाभौ
४०. कुरु	४०. ऊर्वोः
४१. शीघ्रं	४१. जठरे
४२. वश्यं	४२. हृदि
४३. ऐं	४३. दक्षस्कन्धे
४४. ग्लौं	४४. वामस्कन्धे
४५. ठः	४५. गलापरभागे
४६. ठः	४६. हृदयादिदक्षपाण्यन्तम्
४७. ठः	४७. वामपाण्यन्तम्
४८. ठः	४८. हृदयादिदक्षपादान्तम्
४९. हुं	४९. हृदयादिवामपादान्तम्
५०. अस्त्राय	५०. नाभौ
५१. फट्	५१. मूर्ध्नि

परशुरामकल्पसूत्रानुसार और रामेश्वरवृत्ति के अनुसार इसी क्रम से न्यास करना चाहिये। इस प्रकार तीनों सूत्रोक्त न्यास पूरे करने चाहिये।।१२।।

तत्त्वन्यासमाह

पूर्वोक्तानष्टखण्डानेकैकश उच्चार्य पूर्वोक्तेषु स्थानेषु 'ह्लां' शर्वाय क्षितितत्त्वाधिपतये' 'ह्लीं' भवाय अम्बुतत्त्वाधिपतये, ह्लूं रुद्राय वह्नितत्त्वाधिपतये' 'ह्लैं' उग्राय वायुतत्त्वाधिपतये' 'ह्लौं' ईशानाय भानुतत्त्वाधिपतये, 'सौं' महादेवाय सोमतत्त्वाधिपतये, 'हं' महादेवाय यजमानतत्त्वाधिपतये' 'औं' भीमाय आकाशतत्त्वाधिपतये नम इति तत्त्वन्यासः ।।१३।।

पूर्वोक्तानेकत्रिंशत्सप्तेत्यादिना खण्डितान् अष्टखण्डान् पादादि-जान्वित्यादिस्थानेषु सर्वत्र। तत्त्वाधिपतये एतदनन्तरं 'नमः' इति पदस्यानुषङ्गेण योगः। इति तत्त्वन्यासः ।।१३।।

१. पादादिजानुपर्यन्त
२. जान्वादिकटिपर्यन्त
३. कट्यादिनाभिपर्यन्त
४. नाभ्यादिहृदयपर्यन्त
५. हृदयादिकण्ठपर्यन्त
६. कण्ठादिभ्रूमध्यपर्यन्त
७. भ्रूमध्यादिललाटपर्यन्त
८. ललाटादिमौलिपर्यन्त

इन आठ स्थानों में मूल मन्त्र के आठ भागों के साथ सूत्रोक्त ह्लां ह्लीं ह्लूं ह्लैं ह्लौं सों हं औं बीजों के साथ वाले मन्त्रों को भी बोलकर ऊपर निर्दिष्ट आठ स्थानों में न्यास करना चाहिये। जैसे प्रथम पूरा मन्त्र 'ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्त्तालि वार्त्तालि वाराहि वाराहि वराहमुखि वराहमुखि ह्लां शर्वाय क्षितितत्त्वाधिपतये पादादिजानुभागे नमः' बोलकर उस अङ्गभाग का स्पर्श करना चाहिये। इसी तरह मूलविद्या के शेष सात खण्डों को बोलकर सूत्रोक्त मन्त्रों के साथ क्रमिक अङ्गभागों का न्यासरूप स्पर्श करना चाहिये। जैसे दूसरा मन्त्र भी इस प्रकार बनाना चाहिये—'ऐं ग्लौं अन्धे अन्धिनि ह्लीं भवायाम्बुतत्त्वाधिपतये नमः' मन्त्र बोलकर जान्वादिकटिपर्यन्त का स्पर्श कर अम्बुतत्त्व का न्यास करना चाहिये। इसी तरह उक्त स्थानों में वह्नि, वायु, सूर्य, सोम, यजमान और आकाश तत्त्वों का न्यास शेष मन्त्र बनाकर करना चाहिये ।।१३।।

देवीध्यानम्

मूलेन सर्वेण व्यापकं कृत्वा देवीं ध्यात्वा ।।१४।।

ध्यानं सूत्रे वक्ष्यमाणं, तन्त्रान्तरप्रसिद्धध्यानश्लोकरीत्याऽपि ज्ञेयम्। ध्यानश्लोको यथा—

पाथोरुहपीठगतां पाथोरुहमेचकां कुटिलदंष्ट्रां।
कपिलाक्षित्रितयां घनकुचकुम्भां प्रणत वाञ्छितवदान्याम्।
दक्षोर्ध्वतोऽरिखड्गां मुसलमभीतिं तदन्यतस्तद्वत्
शङ्खं खेटं हलवरान् करैर्दधानां स्मरामि वार्त्तालीम्।।

अत्र अरिः चक्रम्। दक्षोर्ध्वत ऊर्ध्वमारभ्य। तद्वद् वामेऽप्यूर्ध्व-मारभ्यैव ।।१४।।

इसी सातवें खण्ड के आगामी २४वें सूत्र में माँ वार्त्ताली का ध्यान वर्णित है। सर्वप्रथम पूरा मन्त्र पढ़कर व्यापक विधि पूरी करनी चाहिये। उसके बाद ही ध्यान करना चाहिये। यों तो २४वें सूत्र में ध्यान का उल्लेख है, फिर भी तन्त्रान्तरोक्त मन्त्रों द्वारा ध्यान करने में कोई हर्ज नहीं। उक्त श्लोक-सूत्रानुसार ही विरचित है। माँ नीलकमल के समान आकर्षक श्यामवर्ण से विभूषित है और कमलासन पर ही अधिष्ठित है। उसकी दंष्ट्रा टेढी है, आँखें पिंगलवर्णी हैं, माता के वक्ष पर वात्सल्य के प्रतीक कुचकुम्भ शोभित हैं। प्रणत की प्रार्थना तुरत पूरी करने के लिये प्रसिद्ध हैं। माँ दाहिने हाथ में खड्ग और चक्र धारण करती हैं। मुसल और अभयमुद्रा में हैं। इसी तरह बाँयें में भी ऊपर से नीचे तक शङ्ख, खेटक, हल और वर मुद्रा धारण करती हैं। ऐसी महिमामयी माँ वार्त्ताली का मैं श्रद्धापूर्वक स्मरण कर रहा हूँ।।१४।।

चक्रनिर्माणम्—

पुरतः पटपट्टसुवर्णरजतताम्रचन्दनपीठादिनिर्मितं दृष्टिमनोहरं चतुरस्त्रत्रयं सहस्त्रपत्रशतपत्राष्टपत्र-षडस्त्रपञ्चास्त्र्यस्त्रबिन्दुलक्षणं कोलमुखीचक्रं विरच्य ।।१५।।

पटतूलमयः। पट्टः कौशेयः। पीठं फलकम्, आदिपदेन नवरत्न-परिग्रहः। तेषु निर्मितं दृष्टिमनोहरमित्यनेन दलानां कोणानां च मानवैषम्य-

विरहः। दलमाने शास्त्रीयनियमाभावश्च सूचितः। तथापि तत् शारदातिलकादुद्ग्राह्य एव यन्त्रनिर्माणक्रमः प्रवेशरीत्या, बिन्दुचक्रस्य चरमपाठात्। शेषं स्पष्टम् ।।१५।।

सामने ही फलक होना चाहिये, जिसमें चक्र की रचना की जा सके। चक्र का फलक कपास के वस्त्र कौशेय, स्वर्ण, रजत, ताम्र या चन्दन का होना चाहिये। देखने में वह आकर्षक होना चाहिये। सूत्र में जो विधि निर्दिष्ट है, वह प्रवेश क्रम से है क्योंकि बिन्दु का उल्लेख सूत्र के अन्त में आया हुआ है। इसकी रचना के क्रम में सर्वप्रथम चतुरस्र का निर्माण करना चाहिये। ये तीन एक पर एक बनते हैं। उसके भीतर वृत्त में एक हजार दल वाला कमल, उसके भीतर शतपत्र, उसके भीतर अष्टपत्र, उसमें षट्कोण, उसमें त्रिकोण और उसमें बिन्दु की रचना कर लेने पर यन्त्र तैयार हो जाता है। इसे ही वाराही चक्र कहते हैं।।१५।।

चक्रनिर्माणानन्तरं चक्रकर्त्तव्यमाह

तत्र कुसुमाञ्जलिं विकीर्य स्वर्णप्राकाराय सुधाब्धये वराहद्वीपाय वराहपीठाय नमः। आं आधारशक्तये कुं कूर्माय, कं कन्दाय नमः, अं अनन्तनालाय नम इति च धर्मादिभिः सह षोडशमन्त्रैः पीठे अभ्यर्च्य ।।१६।।

तत्र चक्रे। स्वर्णप्राकारादयः चतुर्थ्यन्ताः। अष्टौ नमोऽन्ता मन्त्राः। तैः पीठमध्यपूजनं, धर्मादिचतुर्भिः, अधर्मादिचतुर्भिश्च गणपतिक्रमे क्लृप्तस्थाने पूजनं, मिलित्वा षोडशभिः पीठपूजनं भवति। पीठपदेन देवतायतनं चक्रमेव ।।१६।।

पूजा के उद्देश्य से यागगृह में प्रवेश करते समय चक्र पर पुष्पों भरी अञ्जलि के द्वारा फूल अर्पित करना उचित है। इसके बाद सोलह मन्त्रों से उसकी पूजा होनी चाहिये। सोलह मन्त्र इस प्रकार उच्चरित करना चाहिये।

१. ऐं ग्लौं स्वर्णप्राकाराय नमः। २. ऐं ग्लौं सुराब्धये नमः। ३. ऐं ग्लौं वराहदीपाय नमः। ४. ऐं ग्लौं वराहपीठाय नमः। ५. ऐं ग्लौं आधारशक्तये नमः। ६. ऐं ग्लौं कूं कूर्माय नमः। ७. ऐं ग्लौं कं कन्दाय नमः। ८. ऐं ग्लौं अं

अनन्तनालाय नमः। इन मन्त्रों से चक्रमध्य की पूजा करनी चाहिये। तदुपरान्त पुनः निम्नलिखित आठ मन्त्रों से पूजा करनी चाहिये। वे मन्त्र इस प्रकार बनते हैं—९. ऐं ग्लौं धर्माय नमः। १०. ऐं ग्लौं ज्ञानाय नमः। ११. ऐं ग्लौं वैराग्याय नमः। १२. ऐं ग्लौं ऐश्वर्याय नमः। इन मन्त्रों से अग्नि, नैऋत्य, वायव्य और ईशान कोणों में पूजा करनी चाहिये। तदुपरान्त १३. ऐं ग्लौं अधर्माय नमः। १४. ऐं ग्लौं अनैश्वर्याय नमः। १५. ऐं ग्लौं अवैराग्याय नमः। १६. ऐं ग्लौं अनैश्वर्याय नमः इन मन्त्रों से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में पूजा करनी चाहिये। यह पीठपूजा कहलाती है।।१६।।

चक्रमनुमाह

'त्रिपञ्चषडरदलाष्टकशतसहस्रारपद्मासनाय नमः' इति चक्रमनुना चक्रमिष्ट्वा ।।१७।।

इस सूत्र में साम्राज्ञी कोलमुखी, जो विन्दु में विराजमान हैं, उनके सान्निध्य में उल्लसित चक्र रूप देवशक्ति-प्रतीक रूप जो निर्मिति है, उसका क्रमिक उल्लेख भीतर से बाहर की ओर किया गया है। यही चक्रमन्त्र कहलाता है। इससे चक्र पर पुष्प अर्पित करना चाहिये। वृत्ति में केवल निबन्धकार का खण्डन है। सूत्र से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।।१७।।

ततो मण्डलादीनां यजनम्

वह्निमण्डलाय, सूर्यमण्डलाय, सोममण्डलाय नमः, इति त्रयो गुणमन्त्राः। आत्ममन्त्राश्चत्वारः। इति सप्तविंशतिकमिदं पीठे वरिवसनीयम् ।।१८।।

अत्र सोममण्डलाय नम इत्यन्तं मन्त्रत्रयम्। सं सत्त्वाय नमः, रं रजसे नमः, तं तमसे नमः, इति गुणमन्त्राः। आं आत्मने नमः, अं अन्त-रात्मने नमः, पं परमात्मने नमः, ह्रीं ज्ञानात्मने नम इति आत्ममन्त्राश्चत्वारः। इत्थं च स्वर्णप्राकारायेत्यारभ्य सप्तविंशतिः, तैः पीठपूजा कार्येत्यर्थः।।१८।।

इस सूत्र में तीन प्रकार के मन्त्र हैं—

१. तत्त्वमन्त्र—१. ऐं ग्लौं वह्निमण्डलाय नमः। २. ऐं ग्लौं सूर्यमण्डलाय नमः और ३. ऐं ग्लौं सोममण्डलाय नमः। ये मण्डल तीन हैं।

२. गुणमन्त्र—१. सं सत्त्वाय नमः। २. रं रजसे नमः। ३. तं तमसे नमः। ये गुणमन्त्र भी तीन ही हैं।

३. आत्ममन्त्र—ये चार हैं, १. आं आत्मने नमः, २. अं अन्तरात्मने नमः। ३. पं परमात्मने नमः। ४. ह्रीं ज्ञानात्मने नमः। इस प्रकार 'स्वर्णप्राकाराय नमः' इस १६वें सूत्र से इस अठ्ठारहवें सूत्र तक सप्तविंशति मन्त्रों से इस सप्तविंशतिक पीठ की पूजा करने का निर्देश सूत्रकार ने दिया है। इसी क्रम से पूजा होनी चाहिये।।१८।।

ह्रौं प्रेतपद्मासनाय सदाशिवाय नम इति चक्रोपरि देव्यासन-विमृष्टिः ।।१९।।

प्रेतरूपं यत्पद्मं तदभिन्नं यदासनं तत् स्वरूपो यः सदाशिवस्तस्मै नम इति योजना, ब्रह्मा ननु सदाशिवे प्रेतरूपत्वं कथम्। एतदुक्तं ज्ञानार्णवे पार्वतीप्रश्नोत्तरे—

ब्रह्माविष्णश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
पञ्चप्रेता वरारोहे निश्चला एव ते सदा।।

अयमभिप्रायः — ब्रह्मादयः सदाशिवान्ता वामाज्येष्ठादिस्वस्वशक्ति-रहिताः स्पन्दनेऽप्यशक्ताः सन्तः प्रेततुल्या एवेति। विमृष्टिः कल्पनम्।।१९।।

सदाशिव प्रेतपद्मासनस्वरूप माने जाते हैं। ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थ में पार्वती के प्रश्नोत्तर रूप में भगवान् शिव का कथन दिया गया है। उसके अनुसार "ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः। पञ्चप्रेता वरारोहे निश्चला एव ते सदा"।। अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव ये पाँचों अपनी-अपनी शक्तियों से रहित प्रेत माने जाते हैं। शक्तिसमन्वित रहने पर ही अपने कार्य करने में समर्थ होते हैं। अन्यथा निश्चल ही रहते हैं। इनकी शक्तियाँ क्रमशः वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका और सदाशिवा मानी जाती हैं। इस विचार के पहले ही बिन्दुरूप देवी के आसन पर 'ऐं ग्लौं प्रेतपद्मासनाय सदाशिवाय नमः' मन्त्र से देवी के प्रति आस्थावान् होकर अभ्यर्चना करनी चाहिये।।१९।।

मूर्त्तिकरणीविद्यामाह

लृषाई वाराहीमूर्त्तये ठः ठः ठः ठः हुं फट् इति वाग्ग्लौमादिग्लौंवागन्ता मूर्त्तिकरणीविद्या ।।२०।।

'वाग्ग्लौं' आदौ यस्यां, ग्लौं वागन्ते यस्यां, मध्यतनवर्णानाम् ईदृशी मूर्त्तिकरणीविद्येत्यर्थः। एतेन आसनकल्पनानन्तरं मूर्त्तिकल्पनविधिरुन्नेयः। मन्त्रस्वरूपम्—'ऐं ग्लौं लृषाई वाराहीमूर्त्तये ठः ठः ठः ठः हुं फट् ग्लौं ऐं' इति।।२०।।

इस सूत्र में मूर्त्तिकरणी विद्या का निर्देश है। पहले आसन की कल्पना के बाद मूर्त्तिकल्पन विद्या का प्रयोग करना चाहिये। इस विद्या के आदि मे 'ऐं ग्लौं' का प्रयोग पहले तथा अन्त में इसी का विपर्यय अर्थात् 'ग्लौं ऐं' करना चाहिये। मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार मन्त्रप्रयोग से अनुभूत होता है—'ऐं ग्लौं लृषाई वाराहीमूर्त्तये ठः ठः ठः ठः हुं फट् ग्लौं ऐं'। आस्थापूर्वक मन्त्र का प्रयोग करने पर चक्र में एक चमत्कार उन्मिषित होता हुआ-सा अनुभूत होता है।।२०।।

आवाहनादि मुद्राबन्धनम्

मूलविद्यया आवाहनसंस्थापनसन्निधापनसन्निरोधनसम्मुखीकरणावकुण्ठनवन्दनधेनुयोनीर्बद्ध्वा ।।२१।।

मूलविद्यामुच्चार्य तत्तन्मुद्रां बध्वा दर्शयन् तं तमर्थं भावयेद् इति भावः। आवाहनादि मुद्राबन्धप्रकारः प्रसिद्धः। यावत्यो मुद्रा विहितास्तावतीषु मुद्रासु बध्यमानासु तावद्वारं मूलमावर्त्तयेत्। न तु सकृन्मूलमुच्चार्य सर्वमुद्राबन्धनम्। इति ज्ञेयम् ।।२१।।

मूलविद्या का उच्चारण कर उन मुद्राओं के बन्ध का प्रदर्शन करना चाहिये। साथ ही उन मुद्राओं का उन बन्धों के साथ भावन भी करना चाहिये। सूत्रकार ने सारी मुद्राओं का परिगणन सूत्र में कर दिया है। वे इस प्रकार हैं—१. आवाहन, २. संस्थापन, ३. सन्निधापन, ४. संनिरोधन, ५. सम्मुखीकरण, ६. अवकुण्ठन, ७. वन्दन, ८. धेनु और ९. योनि। वृत्ति में तन्त्रों के उद्धरण हैं। इनसे पढ़कर ये बन्ध नहीं बन पाते। गुरुदेव से इन्हें अभ्यासपूर्वक सीखना चाहिये। इन सारी मुद्राओं के बनाने के लिये पुस्तकों का आश्रय लेने से अच्छा सीखना ही है।।२१।।

षडङ्गन्यासजालक्रमं च विवृणोति

देव्यङ्गन्यस्तषडङ्गपञ्चाङ्गाः ।।२२।।

षडङ्गमन्त्राः

१. ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्त्तालि वार्त्तालि हृदयाय नमः।

२. ऐं ग्लौं वाराहि शिरसे स्वाहा।

३. ऐं ग्लौं वराहमुखि वराहमुखि शिखायै वषट्।

४. ऐं ग्लौं अन्धे अन्धिनि नमः कवचाय हुम्।

५. ऐं ग्लौं रुन्धे रुन्धिनि नमः नेत्रत्रयाय वौषट्।

६. ऐं ग्लौं जम्भे जम्भिनि नमः अस्त्राय फट्।

पञ्चाङ्गन्यासमन्त्रा ऐं ग्लौं अन्धे अन्धिनि इत्यादयः पूर्वोक्ताः। तैर्देव्यास्तत्तदङ्गेषु न्यासं भावयेत् ।।२२।।

माँ वार्त्ताली के अङ्गों में मन्त्रन्यास का भावन करना चाहिये। षडङ्गन्यास मन्त्र मैंने ऊपर लिख दिया है। पञ्चाङ्गन्यास क्रमशः अङ्गुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका में भावित करना चाहिये। 'अन्धे अन्धिनि' से 'स्तम्भे स्तम्भिनि' तक 'ऐं ग्लौं' लगाकर 'अङ्गुष्ठाभ्यां नमः' आदि का प्रयोग करना चाहिये।।२२।।

अथ षोडशोपचारपदार्थकथनपूर्वकं तावतामर्पणं विधत्ते

पाद्यार्घ्याचमनीयस्नानवासोगन्धपुष्पधूपदीपनीराजनछत्रचामरदर्पणरक्षाचमनीयनैवेद्यपानीयताम्बूलाख्यषोडशोपचारक्लृप्त्यन्ते।।२३।।

षडङ्ग-पञ्चाङ्ग न्यास के अनन्तर षोडशोपचार पूजन करना चाहिये। जैसे पाद्यमन्त्र—'ऐं ग्लौं पाद्यं कल्पयामि नमः' बनता है, इसी तरह सभी उपचारों में 'ऐं ग्लौं' जोड़कर अन्त में 'कल्पयामि नमः' लगाने से मन्त्र बन जाते हैं। इन उपचार वस्तुओं को माँ के समक्ष श्रद्धापूर्वक प्रस्तुत कर परमानन्द का अनुभव करना चाहिये।।२३।।

अथ देव्या ध्यानप्रकारमाह

ध्यानं देव्या मेघमेचका कुटिलदंष्ट्रा कपिलनयना घनस्तन-मण्डला चक्रखड्गमुसलाभयशङ्खखेटकहलवरपाणिः पद्मासीना वार्त्ताली ध्येया।।२४।।

तथा च षोडशोपचारार्पणानन्तरं यावदवकाशमुक्तप्रकारेण मूर्त्तिं ध्यायेद् इत्यर्थः। मेघमेचका मेघश्यामला 'कालश्यामलमेचकाः' इत्यमरः। कुटिला (वक्रा) 'कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यमरः। हलं लाङ्गलम् ।।२४।।

षोडशोपचार पूजन के उपरान्त माँ वार्त्ताली का ध्यान करना चाहिये। ध्यान का श्लोक इसी क्रम के सूत्र १४ में लिखा गया है। वहीं से देखकर श्रद्धापूर्वक ध्यान में तसल्ली होने से माँ की अनुकम्पा प्राप्त होती है।।२४।।

देवीतर्पणम्

दशधा तस्यास्तर्पणं कुर्यात् ।।२५।।

तर्पणमन्त्रे कोलमुखीति मूलमन्त्रान्ते योज्यम्, न तु वाराहीमिति। उत्पत्तिवाक्ये कोलमुखीति श्रवणात् ।।२५।।

तर्पण के मन्त्र से देवी का दश बार तर्पण करना चाहिये। तर्पण के मन्त्र को मूलमन्त्र से वहीं तक लेना चाहिये, जिसमें कोलमुखि शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे तर्पण के 'ऐं ग्लौं सौं नमः भगवति वार्त्तालि वार्त्तालि वराहमुखि वराहमुखि श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' इस मन्त्र से बाँयें हाथ में जल लेकर दाहिने हाथ के पुष्प को उसमें डुबाकर देवी को तृप्त करने के उद्देश्य से तृप्त करना चाहिये। यही तर्पण का विधान है।।२५।।

अथावरणपूजां वक्तुं प्रारभते

त्र्यस्त्रे जम्भिनीमोहिनीस्तम्भिन्याः ।।२६।।

देव्यग्रकोणमारभ्य प्रादक्षिण्येन ज्ञेयम्। इति प्रथमावरणम् ।।२६।।

त्रिकोण में प्रथमावरण की पूजा होती है। इसमें देवी के अग्रकोण से आरम्भ कर प्रादक्षिण्य क्रम से पूजन का विधान है। इसका मन्त्र है—

'ऐं ग्लौं जम्भिनीश्रीपादुकां पूजयामि नमः'।

'ऐं ग्लौं मोहिनीश्रीपादुकां पूजयामि नमः'।

'ऐं ग्लौं स्तम्भिनीश्रीपादुकां पूजयामि नमः'।

इन मन्त्रों में पूजयामि और नमः के बीच में तर्पयामि लगाने की भी परम्परा है।।२६।।

अथ द्वितीयावरणपूजामाह

पञ्चारे अन्धिनी-रुन्धिन्यौ ताश्च ।।२७।।

पञ्चारे पञ्चकोणेषु अन्धिनीरुन्धिन्यौ। ताश्च जम्भिन्यादयः, त्रयश्च मन्त्राः पूर्वोक्ता ग्राह्याः। मन्त्रस्वरूपम्—'ऐं ग्लौं अन्धिनि नमः अन्धिनीश्रीपादुकां पूजयामि' क्रमः पूर्ववद् इति द्वितीयावरणम् ।।२७।।

दूसरा आवरणपूजा-स्थान पञ्चकोण माना जाता है। पञ्चकोण की संरचना बड़ी आकर्षक होती है। रेखाओं के परस्पर कटाव और कोणों की स्वतः निर्मिति में ब्रह्माण्डीय रहस्यमयता के दर्शन होते हैं।

उस रहस्य-शक्ति की पूजा इस आवरण में भी की जाती है। इन पाँच शक्तियों की पूजा के सन्दर्भ में अन्धिनी, रुन्धिनी, जम्भिनी, मोहिनी और स्तम्भिनी की पूजा का विधान है। वृत्ति में मन्त्र स्वरूप इस प्रकार दिया गया है 'ऐं ग्लौं अन्धिनि नमः अन्धिनीश्रीपादुकां पूजयानि नमः'। इसी तरह क्रमशः स्तम्भिनी पर्यन्त मन्त्र का ऊहन कर लेना चाहिये। स्तम्भिनी मन्त्र, जैसे—'ऐं ग्लौं स्तम्भिनि नमः स्तम्भिनीश्रीपादुकां पूजयामि नमः' बनेगा। पूजयामि और नमः के बीच में तर्पयामि भी लगाते हैं। इस प्रकार द्वितीयावरण की पूजा पूरी होती है।।२७।।

तृतीयावरणपूजामाह

षट्कोणे आक्षाई ब्रह्माणी, ईलाई माहेश्वरी ऊहाई कौमारी, ऋसाई वैष्णवी, ऐशाई इन्द्राणी, औवाई चामुण्डा, तस्यैवाग्रेषु मध्ये च यमरयूं यां यीं यूं यैं यौं यः याकिनि जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां त्वग्धातुं गृह्ण गृह्ण अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहेति।

अन्यासां धातुनाथानामप्येवं बीजे नामनि धातौ त्वाराधनकर्मणि मन्त्रः सन्नाम। रमरयूं राकिणि रक्तधातुं पिब पिब लमरयूं लाकिनि मांसधातुं भक्षय भक्षय डमरयूं डाकिनि मेदोधातुं ग्रस ग्रस कमरयूं काकिनि अस्थिधातुं जम्भय जम्भय समरयूं साकिनि मज्जाधातुं गृह्ण गृह्ण हमरयूं हाकिनि शुक्रधातुं पिब पिब अणिमादिवशं कुरु कुरु स्वाहा–इति धातुनाथयजनम् ।।२८।।

षट्कोणे कोणाग्रेषु आक्षाई. इत्यादि षण्मन्त्रैः षड्देवताः पूजयेत्। 'ऐं ग्लौं' आक्षाई ब्रह्माणी श्रीपादुकां पूजयामि (तर्पयामि) नम, इति मन्त्रस्वरूपम्। एवमग्रेऽपि। मध्ये (षट्कोणमध्ये) स्वाहान्तमेकं मन्त्रं दर्शयित्वा एतन्मन्त्र-वर्णानन्यत्र काँश्चिदतिदिशति—एवमिति। एवम् (उक्तमन्त्रवदित्यर्थः)। एवमति-देशमुक्त्वा अतिदिष्टमन्त्रवर्णेषु बाधकमूह्यम्। तत्रैव क्वचित्स्थलविशेषे दर्शयति—बीजेत्यादिना। बीजे इत्येकवचनं जात्याख्यायाम्। 'इति रीत्या बीजस्थाने वक्ष्यमाणबीजानां सन्नाम ऊहः कार्यः।

एवं धातौ त्वग्धातुस्थाने तत्तद्धातूनां नामनि याकिनीति नामस्थाने तत्तन्नाम्नामूहश्च कार्यः। शिष्टा मन्त्रवर्णा मम सर्वशत्रूणाम् इत्यादयः समाना इति भावः। अथ द्वितीयादिमन्त्रेषु विशेषमाह—रमरयूमित्यादिना ।।२८।।

तीसरे आवरण की पूजा का सर्वाधिक विशिष्ट महत्त्व है। षट्कोण के छः कोणों के कोण-मूलों में क्रमशः पाँच बीज-मन्त्र लगते हैं। ऐं ग्लौं आ क्षाई उनके बाद ब्रह्माणी देवी का उल्लेख कर श्रीपादुकां पूजयामि (तर्पयामि) नमः। यह प्रथम अग्रकोण का मूल मन्त्र बनता है। पूरे मन्त्र इस प्रकार बनेंगे—

१. ब्रह्माणी—ऐं ग्लौं आक्षाई ब्रह्माणी श्रीपादुकां पूजयामि नमः।
२. माहेश्वरी—ऐं ग्लौं ईलाई माहेश्वरी श्रीपादुकां पूजयामि नमः।
३. कौमारी—ऐं ग्लौं ऊहाई कौमारी श्रीपादुकां पूजयामि नमः।
४. वैष्णवी—ऐं ग्लौं ऋसाई वैष्णवी श्रीपादुकां पूजयामि नमः।
५. इन्द्राणी—ऐं ग्लौं ऐशाई इन्द्राणी श्रीपादुकां पूजयामि नमः।
६. चामुण्डा—ऐं ग्लौं औवाई चामुण्डा श्रीपादुकां पूजयामि नमः।

इन्हीं कोणों में कोण-मध्य में क्रमशः १. याकिनी, २. राकिणी, ३. लाकिनी, ४. डाकिनी, ५. काकिनी, ६. साकिनी और ७. हाकिनी देवियों की पूजा होती है। ये देवियाँ धातुओं की स्वामिनी मानी जाती है। इनके क्रमिक मन्त्र इस प्रकार हैं—

१. याकिनी—ऐं ग्लौं यमरयूं यां यीं यूं यैं यौं यः याकिनि जम्भय जम्भय मम शत्रूणां त्वग्धातुं गृह्ण गृह्ण अणिमादिवशं कुरु कुरु स्वाहा श्रीपादुकां पूजयामि नमः।

२. राकिणी—ऐं ग्लौं रमरयूं राकिणि रक्तधातुं पिब पिब इतना मूल उल्लेख है; किन्तु इस अन्य धातु स्वामिनियों के मन्त्रों में भी पहले की तरह योजना होनी चाहिये, यह निर्देश सूत्र में अन्यासां धातुनाथानां वाक्य में दिया हुआ है। अतः पूरा मन्त्र इस प्रकार होता है—

ऐं ग्लौं रमरयूं रां रीं रूं रैं रः राकिनि जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां रक्तधातुं पिब पिब अणिमादिवशं कुरु कुरु स्वाहा राकिणी श्रीपादुकां पूजयामि (तर्पयामि) नमः।

३. लाकिनी—ऐं ग्लौं लमरयूं लां लीं लूं लैं लौं लः लाकिनि जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां मांसधातुं भक्षय भक्षय अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहा लाकिनी श्रीपादुकां पूजयामि (तर्पयामि) नमः।

४. डाकिनी—ऐं ग्लौं डमरयूं डां डीं डं डैं डौं डः डाकिनि जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां मेदोधातुं ग्रस ग्रस अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहा डाकिनी श्रीपादुकां पूजयामि (तर्पयामि) नमः।

५. काकिनी—ऐं ग्लौं कां कीं कं कैं कौं कः काकिनि जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणाम् अस्थिधातुं भञ्जय भञ्जय अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहा काकिनी श्रीपादुकां पूजयामि (तर्पयामि) नमः।

६. साकिनी—ऐं ग्लौं समरयूं सां सीं सूं सैं सौं सः साकिनि जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां मज्जाधातुं गृह्ण गृह्ण अणिमादिवशं कुरु कुरु स्वाहा साकिनि श्रीपादुकां पूजयामि नमः।

७. हाकिनि—ऐं ग्लौं हमरयूं हां हीं हूं हैं हौं हः हाकिनि जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां शुक्रधातुं पिब पिब अणिमादिवशं कुरु कुरु स्वाहा हाकिनि

श्रीपादुकां पूजयामि (तर्पयामि) नमः। इन धातु स्वामिनियों की पूजा सम्पन्न करने के अनन्तर षट्कोण के उभयपार्श्व की पूजा की जाती है।।२८।।

अनन्तरं षडस्रोभयपार्श्वयोः क्रोधिनीस्तम्भिन्यौ चामरग्राहिण्यौ तत्रैव स्तम्भनमुसलायुधाय आकर्षणहलायुधाय नमः षडराद्बहिः पुरतो देव्याः क्षौं क्रौं चण्डोच्चण्डाय नम इति तद्यजनम् ।।२९।।

अनन्तरं धातुनाथयजनानन्तरम्। षडस्रोभयपार्श्वयोरिति, उभयपार्श्व-द्वयकोणान्तःप्रदेशो बोध्यः। मन्त्रस्वरूपं च ऐं ग्लौं क्रोधिनी चामरग्राहिणी श्रीपादुकाम्। एवमपरम्। अग्रे चण्डोच्चण्डपूजाया बहिर्विधानात् तत्रैवेति षडस्रोभयपार्श्वयोरेवेत्यर्थः। इति तृतीयावरणम् ।।२९।।

धातुनाथ पूजन के अनन्तर षडस्र के दाहिने और बायें दोनों ओर कोणों के अन्तःप्रदेश में क्रोधिनी और स्तम्भिनी दो चामरग्राहिणी शक्तियों की पूजा भी होनी चाहिये। इनके दो मन्त्र इस प्रकार बनेंगे।

१. ऐं ग्लौं क्रोधिनी श्रीपादुकां पूजयामि नमः।

२. ऐं ग्लौं स्तम्भिनी श्रीपादुकां पूजयामि नमः।

षट्कोण के दोनों पार्श्व भाग में ही आयुधों की पूजा करने का निर्देश सूत्रकार दे रहे हैं। इनके मन्त्र—१. ऐं ग्लौं स्तम्भनमुसलायुधाय नमः। २. ऐं ग्लौं आकर्षणहलायुधाय नमः। बनते हैं। षडर के बाहर देवी के समक्ष ही श्री चण्डोच्चण्ड देव की पूजा इस मन्त्र से करनी चाहिये।

१. ऐं ग्लौं क्षौं क्रौं चण्डोच्चण्डाय नमः। इस प्रकार धातुनाथ, चामर-ग्राहिणी और षडस्र के बाहर चण्डोच्चण्ड की पूजा इस तीसरे आवरण में सम्पन्न की जाती है।।२९।।

चतुर्थावरणमाह

अष्टदले वार्त्ताली वाराही वराहमुख्यन्धिन्यादयः पञ्च तद्बहिः महामहिषाय देवीवाहनाय नमः ।।३०।।

देव्यग्रदलमारभ्य प्रादक्षिण्येन, क्रमस्यानुक्तत्वात्। वाहनपूजामाह—तद्बहिरिति। अष्टदलाद्बहिरित्यर्थः। देवीपुरतोऽयं पूज्यः, वाहनरूपत्वात्। वाहनस्थितेः सर्वत्र प्रधानदेवताग्रभागे दृष्टत्वात् ।।३०।।

चतुर्थ आवरण में अष्टदलों में आठ देवियों—१. वार्त्ताली २. वाराही, ३. वराहमुखी, ४. अन्धिनी, ५. रुन्धिनी, ६. जम्भनी, ७. मोहिनी और ८. स्तम्भिनी की पूजा की जाती है। अष्टदल के बाहर सामने ही 'ऐं ग्लौं महामहिषाय देवीवाहनाय नमः' मन्त्र से वाहन की पूजा होती है। 'ऐं ग्लौं' लगाकर ही 'वार्त्ताली श्रीपादुकां पूजयामि नमः' के समान सभी सातों देवियों के मन्त्र बनते हैं।।३०।।

पञ्चमावरणमाह

शतारे देवीपुरतो दलसन्धौ जम्भिन्या, इन्द्रायाप्सरोभ्यः, सिद्धेभ्यः, द्वादशादित्येभ्योऽग्नये, साध्येभ्यो, विश्वेभ्यो देवेभ्यो, विश्वकर्मणे, यमाय, मातृभ्यो, रुद्रपरिचारकेभ्यो, रुद्रेभ्यो, मोहिन्यै, निऋतये, राक्षसेभ्यो, मित्रेभ्यो, गन्धर्वेभ्यो, भूतगणेभ्यो, वरुणाय, वसुभ्यो, विद्याधरेभ्यः, किन्नरेभ्यो, वायवे, स्तम्भिन्यै, चित्ररथाय, तुम्बुरवे, नारदाय, यक्षेभ्यो, सोमाय, कुबेराय, देवेभ्यो, विष्णवे, ईशानाय, ब्रह्मणे, अश्विन्यां, धन्वन्तरये, विनायकेभ्यो नम इति देवतामण्डलमिष्ट्वा तद्बहिः औं क्षौं क्षेत्रपालाय नमः, सिंहवराय देवीवाहनाय नम इति च तदुभयं वरिवस्येत्। तद्बहिः महाकृष्णाय देवीवाहनाय नम इति तत्पूजा ।।३१।।

देवतानामष्टत्रिंशत्संख्याकत्वात् तया संख्यया शतपत्रविभागासम्भवाद् अवश्यं सन्धयो हेयाः। तथा सति देव्याः पुरतः देवतासमसंख्याकसन्धयो ग्राह्याः। शेषा हेयाः। तत्राप्युदगपवर्गलाभाय नमःपदमनुषज्यते। तत उत्तरे समाप्तिः। सर्वत्र नमःपदमनुषज्यते। ततः क्षेत्रपालादिपूजां विधत्ते—तद्बहिरिति। तद्बहिः शतपत्रबहिः। वाहनरूपत्वाद् देवीपुरत एव। यद्वा तद्बहिः पूर्व-पूजिताष्टत्रिंशद्देवताऽधिष्ठानदलसन्धिबहिः। तेन देवीपुरोभागस्त्वर्थात् सिध्यति। तदुभयं क्षेत्रपालसिंहोभयम्। तद्बहिः क्षेत्रपालसिंहबहिः। तत्पूजा मृगराजपूजा। इति पञ्चमावरणम् ।।३१।।

पञ्चमावरण की पूजा शतार सम्बन्धित पूजा है। इसमें ३८ देवताओं की पूजा का उल्लेख वृत्तिकार ने किया है। शेष को हेय कर दलसन्धि में

ही पूजा का विधान किया गया है। देवताओं की ३८ संख्या का परिगणन परम्परा के अनुसार है। सूत्र के अनुसार नहीं। जैसे बहुवचन वाले शब्दों की देवसंख्यायें तीन-तीन हैं। आदित्य १२ हैं। साध्य, विश्वदेव, अष्टमातृकाएँ ११ रुद्र और उनके ११ परिचारकों (अष्टवसुवों) की निर्धारित संख्यायें पुराणों में प्रसिद्ध हैं। शतार में स्थान सौ हैं। इन्हें छोड़ना और किसी को ग्रहण करना परम्परा पर आश्रित लगता है। विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिये। सूत्रानुसार यह ठीक नहीं। सूत्रकार ने देवता मण्डल कहा है। अड़तीस नहीं कहा है। पुराणों में निर्धारित संख्याओं के अनुसार यह संख्या सौ ही होनी चाहिये।

जो हो, ऐं ग्लौं लगाकर चतुर्थ्यन्त के साथ नमः लगाकर पूरा मन्त्र बनाते हैं। इन्हीं मन्त्रों से इनकी पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार देवता मण्डल की पूजा के बाद शतपत्र के बाहर 'ऐं ग्लौं औं क्षौं क्षेत्रपालाय नमः' से इन दोनों की पूजा करनी चाहिये।

इसके बाहर अर्थात् देवदलसन्धि के बाहर देवी के समक्ष ही 'ऐं ग्लौं महाकृष्णाय मृगराजाय देवीवाहनाय नमः' मन्त्र से मृगराज की पूजा पूरी की जाती है। इस प्रकार पञ्चम आवरण की पूजा पूरी होती है।।३१।।

षष्ठावरणपूजामाह

सहस्रारे अष्टधा विभक्ते ऐरावताय, पुण्डरीकाय, वामनाय, कुमुदायाञ्जनाय, पुष्पदन्ताय, सार्वभौमाय, सुप्रतीकाय नम इति तत्पूजा। बहिः सुधाब्धेर्वा बाह्यप्रकाराष्टदिक्षु अध उपरि च हेतुकादयो भैरवक्षेत्रपालशब्दयुक्ताः प्रत्येकं क्षौमादयश्च यष्टव्याः। हेतुकत्रिपुरान्तकाग्नियमजिह्वैकपादकालकरालभीमरूपहाटकेशाचला दशभैरवाः ।।३२।।

अष्टधा विभक्ते पञ्चविंशत्युत्तरशतदलेष्वेकैका देवता पूज्या। अमीषामेव देवतानां विकल्पेन स्थानान्तरमाह—बहिः सुधाब्धेर्वेति। सुधाव्यधिकरणत्वेन कल्पितो यो देशस्तस्माद्बहिरित्यर्थः। क्रमस्तु इन्द्रादीशानान्तप्रदक्षिणम्। अत्र

नमोऽन्तमन्त्रेषु सर्वत्र नमोऽन्ते देवतानाम। ततः श्रीपादुकामित्यष्टाक्षरीयोगः। यथा जम्भिन्यै नमः जम्भिनी श्रीं। बाह्यप्रकारेति प्रथमचतुरस्त्रे इत्यर्थः। हेतुकादयो दश अचलान्ताः प्रत्येकं प्रतिमन्त्रं क्षौं इत्यादौ येषां ते यष्टव्याः पूज्याः। मन्त्रस्वरूपं ऐं ग्लौं क्षौं हेतुकभैरव-क्षेत्रपाल श्रीं। एवमग्रेऽपि योज्यम् ।।३२।।

एक हजार अरों वाले भाग को आठ से विभक्त करने पर एक सौ पचीस दलों का एक भाग होता है। प्रति एक सौ पचीस दल वाले भाग पर एक देवता की पूजा करनी चाहिये। ये देवता—१. ऐरावत, २. पुण्डरीक, ३. वामन, ४. कुमुद, ५. अञ्जन, ६. पुष्पदन्त, ७. सार्वभौम और ८. सुप्रतीक नामक हैं। एक अन्य मान्यता के अनुसार सुधा समुद्र के लिये अधिकृत जो भाग प्रकल्पित होता है, उसी में इनकी पूजा होनी चाहिये। पूर्व से ईशान तक का क्रम पूजा में मान्य है।

बाह्य प्राकार के अर्थात् चक्र के प्रथम चतुष्कोण के चारों ओर, चारों कोणों और ऊपर-नीचे भी भैरवक्षेत्रपाल चतुर्थ्यन्त शब्द योजना के साथ नमः लगाकर मन्त्र बनाना चाहिये। मन्त्र के पहले 'ऐं ग्लौं क्षौं' अवश्य जोड़ना चाहिये। हेतुकभैरव का मन्त्र इस प्रकार बनता है—ऐं ग्लौं क्षौं, हेतुकभैरवक्षेत्रपालाय नमः। हेतुकभैरवश्रीपादुकां पूजयामि (तर्पयामि) नमः। कुल भैरवों की संख्या यहाँ दश दी गयी है।

वे—१. हेतुक, २. त्रिपुरान्तक, ३. अग्निजिह्व, ४. यमजिह्व, ५. एकपाद, ६. काल, ७. कराल, ८. भीमरूप, ९. हाटकेश और १०. अचल नामक हैं। हेतुक भैरवों के मन्त्र बनते हैं। जैसे अन्तिम दशवें भैरव की (ऊपर) पूजा के लिये मन्त्र इस प्रकार बनेगा— ऐं ग्लौं क्षौं अचलभैरवक्षेत्रपालाय नमः। अचलभैरवश्रीपादुकां पूजयामि (तर्पयामि) नमः। इस प्रकार आवरणपूजा पूरी होती है।।३२।।

उक्तमर्थमुपसंहरति

एवं षडावरणीमिष्ट्वा पुनर्देवीं त्रिधा सन्तर्प्य सर्वैरुपचारै-रुपचर्य ।।३३।।

षडावरणपूजानन्तरं कर्त्तव्यां क्रियामाह—पुनरिति। सर्वैरुपचारैः पूर्वोक्त-षोडशोपचारैरुपचर्य ।।३३।।

छः आवरणों की पूजा-विधि का वर्णन सूत्र-संख्या ३२ तक हो चुका, इसके बाद क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासा के उत्तर में सूत्रकार कह रहे हैं कि, देवी का त्रिधा सन्तर्पण होना चाहिये और अन्त में सोलह उपचारों से माँ की पूजा की जानी चाहिये। इससे माँ परम प्रसन्न होती है।।३३।।

अथ बलिदानप्रकारं वक्तुं प्रक्रमते

पुरतो वामभागे हस्तमात्रं जलेनोपलिप्य रुधिरान्नहरिद्राऽन्न-महिषपलसक्तुशर्करा-हेतुफलत्रय-माक्षिकमुद्गत्रय-माषचूर्णदधिक्षीर-घृतैः शुद्धोदनं सम्मर्द्य चरणायुधाण्डप्रमाणान् दशपिण्डान् विधाय, तत्र निधाय कपित्थपलमानमेकं पिण्डं च तत्समीपे सादिमोपादिम-मध्यमं चषकं च निक्षिप्य दशपिण्डान् हेतुकादिभ्यो मध्यमपिण्डं चषकं च चण्डोच्चण्डाय तत्तन्मन्त्रैर्दत्त्वा वृन्दमाराध्य ।।३४।।

देव्या इति शेषः। अथ द्रव्यमाह—रुधिरान्नेति। रुधिरेण रक्तेन युक्तम् अन्नं हरिद्रायुक्तम्, अन्तं पलं मांसं सक्तवो भर्जितयवचणकचूर्णं हेतुः प्रथमं फलत्रयं त्रिफला माक्षिकं पुष्परसः, मुद्गत्रयं त्रिजातिमुद्गाः। शेषं स्पष्टम्। एतैः शुद्धोदनं संमर्द्य मिश्रितं कृत्वा। चरणायुधः कुक्कुटः, कुक्कुटश्चरणायुध इत्यमरः। तत्र पूर्वलिप्तदेशे तत्समीपे दशपिण्डसमीपे। दशपिण्डस्थापनं च प्रागादिदशदिक्षु पूजायामासां दिशां क्लृप्तत्वात् तत्तन्मन्त्रैः पूजायां क्लृप्तमन्त्रैः। तत्रापि नमोऽन्तैरेव, न श्रीपादुकेत्यादि मन्त्रशेषः। वृन्दमाराध्येति हेतुकादि-चण्डोच्चण्डान्तवृन्दमित्यर्थः। अत्र पाठक्रमं बाधित्वाऽर्थक्रमेण आदौ आराधनं पश्चाद् बलिदानं ज्ञेयम्, तत्रापि बाधकाभावात् पदार्थानुसमयेनाभ्यर्चनं पञ्चोपचारैः कार्यम् ।।३४।।

सामने आगे ही बायें भाग में एक हाथ वर्गाकार जल से उपलिप्त कर वहीं दश पिण्डों का निर्माण करना चाहिये। पिण्डों के द्रव्य के रूप में रक्तमिश्रित अन्न, हरिद्रामिश्रित अन्न, मांस, सक्तु, शर्करा, हेतु, द्रव्य, त्रिफला, माक्षिक

(मधु), मुद्गत्रय, उड़दचूर्ण, दही, दूध, घी इन सबको शुद्ध पके चावल (भात) में पूरी तरह मिश्रित कर लेना चाहिये। इन्हीं द्रव्यों से बने उस मिश्रित खाद्य से कुक्कुट के अण्डे के बराबर दश पिण्ड बनाना चाहिये। उपलिप्त भूमि पर इन पिण्डों को रखना चाहिये। एक अलग कपित्थ फल के बराबर पिण्ड बनाकर उन्हीं पिण्डों के पास रखते हैं। दश पिण्ड दश दिशाओं के क्रम से ही पूजा के उपयुक्त भाव से रखे जाते हैं। पूजा के मन्त्रों में केवल नमः अन्त वाले मन्त्र ही प्रयुक्त किये जाते हैं, श्रीपादुका वाले नहीं। ११ पिण्ड तीन चषक में से १० पिण्ड और दो चषक तो हेतुक भैरव क्षेत्रपालों को तथा ग्यारहवाँ कपित्थ समपिण्ड तथा तीसरा चषक 'चण्डोच्चण्ड' देव को अर्पित करना होता है। चषक वहीं उलट देते हैं। सूत्र के अनुसार अन्त में वृन्द का पञ्चोपचार पूजन होना चाहिये; किन्तु वृत्तिकार आराधन के बाद बलि का क्रम उचित मानते हैं।।३४।।

गुरुसन्तोषणम्

यथाविभवं गुरुं सन्तोष्य ।।३५।।

यथाविभवं स्वशक्तिं दृष्ट्वा गुरुं सन्तोष्येत्यनेन गुरुसन्निधावनुष्ठानं सूचितम्। दूरस्थे नित्यं सन्तोषणासम्भवात् तेन सति सम्भवे गुरुसन्निधौ फलाधिक्यं ज्ञेयम् ।।३५।।

अपने वैभव के अनुसार गुरु को सन्तुष्ट करना शिष्य का कर्त्तव्य है। शास्त्र का यह निर्देश है कि, वित्त रहने पर वित्तशाठ्य नहीं करना चाहिये। इस सूत्र के निर्देश के अनुसार यह भी सूचित हो रहा है, कि ये क्रियायें गुरु के सान्निध्य में होनी चाहिये। दूर रहकर यह सम्भव नहीं।।३५।।

शक्त्यादिपूजामाह

सम्पूर्णयौवनाः सलक्षणा मदनोन्मादिनीस्तिस्रः शक्तीराहूय बटुकं चैकमभ्यर्च्य स्नपयित्वा गन्धादिभिरलङ्कृत्य वार्त्तालीबुद्ध्या एकां शक्तिं मध्ये क्रोधिनी-स्तम्भिनी-बुद्ध्या द्वे इतरे पार्श्वयोश्चण्डोच्चण्डधिया बटुकमग्रे स्थापयित्वा सर्वैर्द्रव्यैः सन्तोष्य मम श्रीवार्त्तली-मन्त्रसिद्धिर्भूयादिति ताः प्रति वदेत् ताश्च प्रसीदन्त्वधिदेवता इति ब्रूयुः।।३६।।

मदनोन्मादिनीः मदनवर्धिनीः आहूयाभ्यर्च्येति शक्तिषु बटुके चान्वेति। स्नपनं चात्राभ्यङ्गरूपम्। तत्त्वपूजायां स्नानावसरे कर्त्तव्यम्। ततो गन्धादिभिरलङ्कुर्यात्। आदिपदेन वस्त्रभूषापटादि ग्राह्यम्, अग्रे तासामग्रे सर्वैर्द्रव्यैरिति वाराहीपूजायां विहित-प्रथम-द्वितीय-तृतीयैरित्यर्थः। ता इत्यतः प्रार्थनं सुवासिनीनामेव न बटुकस्य ।।३६।।

पूर्णरूप से यौवनसम्पन्न स्त्रियाँ सलक्षणा मानी जाती हैं, यौवन से स्त्रीमात्र में एक दिव्य आकर्षण होता है। इस आकर्षण के फलस्वरूप काम का उन्माद होना पुरुष की दुर्बलता का द्योतक है। पूजा के सन्दर्भ में काम बढ़ाने वाली स्त्रियों के आवाहन में सूत्रकार की यह स्पष्ट इच्छा झलक रही है कि, साधक ऐसी स्त्री में दिव्यता का दर्शन करे। अन्यथा तत्काल काम के मृत्यु-गर्त्त में गिराने वाली गारल्य-गर्हिता-वृत्तिरूप गोमुखी गोधायें काट खाने को मुँह बाये खड़ी हैं। ऐसी आकर्षक सौन्दर्यमयी शक्तिरूपा देवियों और बटुक को वहाँ बुलाकर उनकी पूजा करनी चाहिये। स्नपन को वृत्तिकार अभ्यङ्ग रूप मानते हैं। वस्तुतः अभ्यङ्ग के बाद, जिसे उबटन कहते हैं, स्नान आवश्यक होता है। स्नान के बाद गन्ध, वस्त्राभूषण से अलङ्कृत करना चाहिये। उन्हें पूर्ण सन्तुष्ट कर उनसे निवेदन करना चाहिये कि, आप लोग शक्तिरूपा हैं। हमें यह आशीर्वाद दें कि, 'हमारी वार्त्तालीपूजा सिद्ध हो जाय'। वे यह कहें कि, यहाँ इस मण्डल में अभ्यर्चित सभी अधिकारसम्पन्न देवता परम प्रसन्न हों। अर्थात् यजमान के मनोरथ सिद्ध हों।।३६।।

एवं पूजामुपसंहृत्य अग्रे कर्त्तव्यं विधत्ते

एवं सपरिवारामुदारां भूदारवदनामुपतोष्य पुरश्चरणं कृत्वा तद्दशांशं तापिच्छकुसुमैर्हुत्वा मन्त्रं साधयेत् ।।३७।।

एवमुक्तप्रकारेण सपरिवाराम् आवरणदेवतासहिताम् उदारां फलदानशौण्डां भूदारस्य क्रोडस्य वदनमिव वदनं यस्यास्ताम्। लक्षं पुरश्चरणं कृत्वा इति तद्दशांशं, जपदशांशं, तापिच्छकुसुमैस्तमालकुसुमैः। 'कालस्कन्धस्तमालः स्याद् तापिच्छोऽप्यथ' इत्यमरः। मन्त्रं साधयेद् इत्यनेन केवललक्षजपेनैव पर्याप्तः।

इयं संख्या पुरश्चरणे कृतयुगे कलौ चतुर्गुणं प्रोक्तम् इति वचनात् कलियुगे चतुर्गुणमित्यलं पल्लवितेन इति।।३७।।

इस प्रकार परिवारसहित माता वार्त्ताली की पूजा कर उनको प्रसन्न करने में उपासक को अपना अस्तित्व ही अर्पित कर देना चाहिये। वह महती कृपावती है। उसके औदार्य का उपमान नहीं। इसके मुख का सादृश्य क्रान्तदर्शी विद्वानों, गुरुजनों और उपासकों के अनुसार वराह से मिलता-जुलता है। इस कथन के भी कई रहस्य हैं। ऐसी दयामयी माँ श्रद्धा से ही सन्तुष्ट हो जाती है।

उसको सन्तुष्ट करने के उपरान्त पुरश्चरण में प्रवृत्त होना चाहिये। पुरश्चरण की संख्या का निर्देश सूत्रकार ने दिया है। तदनुसार एक लाख मन्त्रजप आवश्यक है। वृत्तिकार कहते हैं कि, यह संख्या सत्ययुग की है। कलियुग में चतुर्गुण अर्थात् चार लाख की होनी चाहिये। इसी के साथ वृत्तिकार ने परमानन्दतन्त्र आदि के विशद और सविस्तर उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। सूत्रकार की दृष्टि से साधक या उपासक को गुरुदेव पर निर्भर रहना चाहिये। उद्धरणों से उपासक में वृत्तिभेद पैदा होने का भय है। यहाँ वह अनावश्यक विस्तार ही लग रहा है। यों विद्वान् साधक के स्वाध्याय और तन्त्रान्तर अध्ययन को कहीं बाधित नहीं किया गया है।

पुरश्चरण के सिद्ध हो जाने के उपरान्त जप के दशवें भाग की संख्या में हवन करना चाहिए। विशेष कृत्यों में हवनीय द्रव्य भी अलग-अलग होते हैं। यहाँ पर सूत्रकार ने तापिच्छकुसुम से हवन का निर्देश दिया है। तापिच्छ अमरकोश के अनुसार तमाल को कहते हैं। तमाल के फूल का हवन इस उपासना की पूर्णता के लिये आवश्यक माना जाता है।

मन्त्र की सिद्धि में हवन सहायक होता है, कैसे? इस रहस्य को गुरुदेव से जानना चाहिये।।३७।।

एवं पुरश्चरणमुक्त्वा पूजाशेषकृत्यमाह

ततश्च पूजितां देवीमात्मनि योजयित्वा स्वैरं विहरन्नाज्ञासिद्धः सुखी विहरेत्। इति शिवम् ।।३८।।

ततः जपानन्तरं चक्रे पूजितां देवीम् आत्मनि हृदयकमले योजयित्वा स्थापयित्वा स्वैरं स्वेच्छया विहरन् आज्ञायाः सिद्धिः फलवत्ता यस्यैतादृशः अप्रतिहताज्ञः सुखी अपरिच्छिन्नसुखः। शिवमिति व्याख्यातं प्राक्।।३८।।

।। इति श्रीपरशुरामकल्पसूत्रे श्रीरामेश्वरनिर्मितायां सौभाग्योदयनाम्न्यां श्रीपरशुरामकल्पसूत्रवृत्तौ (मुख्यांशमात्रायां) वाराहीक्रमो नाम सप्तमः खण्डः सम्पूर्णः।।७।।

इस प्रकार वार्त्ताली की आराधना का सम्पूर्ण विवरण यहाँ तक दिया गया है।

।। श्रीरामेश्वरकृत मुख्यांश-सौभाग्योदयवृत्तिसहित
डॉ. परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य-समन्वित
श्रीपरशुरामकल्पसूत्र का वाराहीक्रम नामक सप्तम खण्ड परिपूर्ण ।।७।।

।। शुभं भूयात् ।।

पराक्रमः

[अष्टमः खण्डः]

इति विधिवत्कृतवार्त्तालीवरिवस्यः सिंहासनविद्याहृदयमनुत्तरं पराबीजरूपं धाम तत्क्रमपूर्वकं विमृशेत् ।।१।।

कृतवार्त्तालीवरिवस्य इत्यनेन वार्त्तालीक्रमसमाप्त्युत्तरकालोऽङ्गत्वेन सूचितः। सिंहासनं सिंहासनस्वामिपरम्। तद्रूपा या विद्या सा त्रिपुरसुन्दरी ललिता तस्या हृदयं हृदयरूपम्। न विद्यते उत्तरं श्रेष्ठं यस्मात् तद् अनुत्तरं पराबीजं, सौः तद्रूपं देवतामन्त्रयोरभेदात् तद्रूपत्वं युक्तम्। धाम तेजः। तत्क्रमः पूर्वं यस्येति क्रियाविशेषणम्। विमृशेद् उपासनां कुर्यात्।।१।।

सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया है कि, वार्त्ताली विद्या की पूरी तरह सम्पन्नता के बाद ही सिंहासन-विद्या-हृदयरूप अनुत्तर पराबीज रूप को क्रमिक रूप से विमर्श का विषय बनाना चाहिये।

सिंहासन शब्द से सिंहासनेश्वरी राजराजेश्वरी ललिता त्रिपुरसुन्दरी का अर्थ गृहीत करना चाहिये। ऐसी विश्ववात्सल्यमयी माँ की हृदयरूपा परा विद्या मानी जाती है। यह 'परा' बीज-मन्त्र कहलाता है। इसे चिन्मय धाम भी कहते हैं। इसमें देवता और मन्त्र दोनों का तादात्म्य अनुसन्धान का विषय है। इसकी उपासना का एक निर्धारित क्रम होता है। इसी क्रम से इस विद्या को विमर्श का विषय बनाया जाना चाहिये।।१।।

अस्या उपासने हेतुमाह

प्रभुहृदयज्ञातुः पदे पदे सुखानि भवन्ति ।।२।।

अस्याः श्रीललिताहृदयरूपत्वाद् एतदुपासनेन तत्प्रीतौ सम्पादितायां प्रधानदेवीप्रीतिसम्पादनं सुगममिति ध्वनितम् ।।२।।

यह ध्रुव सत्य है कि, प्रभु के हृदय को सुचारुरूप से पहचानने वाला विज्ञ उपासक सर्वदा सुखी रहता है। उसके जीवन में सुख का साम्राज्य छाया रहता है। इस सूत्र से यह ध्वनित होता है कि, मन्त्र की इस उपासना से माँ ललिता को प्रसन्न करना अत्यन्त सरल हो जाता है।।२।।

अस्याः क्रमव्याख्यानं प्रतिजानीते

अथोऽनुत्तरपद्धतिं व्याख्यास्यामः ।।३।।

अथो इति समुच्चयार्थो निपातः। अग्रिमवर्णे पूर्वरूपमार्षम्।।३।।

यहाँ से अनुत्तर-पद्धति की व्याख्या सूत्रकार सूत्र रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। सूत्र में अथो शब्द निपात अव्यय है। इसे समुच्चयबोधक अव्यय कहते हैं। इससे सारी पद्धति का प्रकल्पन हो जाता है। अथो निपात से युक्त अनुत्तर का पूर्वरूप नहीं हो सकता। इसलिये अथो अव्यय पृथक् निपात है। इसमें पूर्वरूप आर्ष प्रयोग है।।३।।

उषःकृत्यम्

कल्ये समुत्थाय ब्रह्मकोटरवर्त्तिनि सहस्रदलकमले सन्निविष्टायाः सौवर्णरूपायाः परायाश्चरणयुगलविगलदमृतरसविसरपरिप्लुतं वपुः ध्यात्वा।।४।।

कल्ये उषसि। 'प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यम्' इत्यमरे। ब्रह्मकोटरं ब्रह्मविलम्। सौवर्णरूपाया इति सुवर्णस्येदं सौवर्णं पीतमित्यर्थः। सौवर्णं रूपं यस्यास्तस्या विगलत्प्रसस्रवद् अमृतरसः, अमृतसारं तस्य यो विसरों व्याप्तिस्तेन परिप्लुतं स्नातं ध्यात्वा। इति ब्राह्ममुहूर्त्तकृत्यम्।।४।।

कल्य उषःकाल का पर्यायवाची शब्द है। ब्रह्मकोटर ब्रह्मबिल को कहते हैं। उसमें सहस्रदल कमल रूप सहस्रार चक्र विद्यमान है। सहस्रार मानवशरीर में प्राकृतिक संरचना का वरदान है। उसमें सुवर्णवर्णा परा देवता सर्वदा

विराजमान रहती है। उसके चरणयुगल से शाश्वत अमृतरससार की वर्षा होती रहती है। प्रातः उठते ही अपने को उस अमृतरस से स्नात अनुभव करना उपासक का प्रथम और परम कर्त्तव्य है। इससे आत्मिक शान्ति मिलती है और उपासना में प्रवृत्ति बढ़ती है।।४।।

स्नानादिकृत्यम्

स्नातः शुचिवाससो वसानः, सौःवर्णेन त्रिराचम्य, द्विः परिमृज्य, सकृदुपस्पृश्य चक्षुषी, नासिके, श्रोत्रे, अंसे, नाभिं, हृदयं, शिरश्चावमृश्य, एवं त्रिराचम्य ।।५।।

स्नात इति नाम्ना श्रीक्रमोक्तस्नानधर्मातिदेशः। अत्र मूलस्थाने प्रकृतमूलम्। एतावान् विशेषः। अथाचमनमाह त्रिराचम्य त्रिवारं सौःवर्णेन एकैकवारमभिमन्त्रितजलपानं कृत्वेत्यर्थः। सौःवर्णस्य तृतीयाश्रुत्या आचमनाङ्गत्वे सिद्धे प्रतिप्रधानमङ्गावृत्तिरिति न्यायेन मन्त्रावृत्तिर्लभ्यते। द्विः परिमार्जनम् ओष्ठयोः। सकृदुपस्पृश्य इत्यत्रापि जलम् इति। अवमृश्य स्पृष्ट्वा।।५।।

स्नानोपरान्त पवित्र वस्त्र धारण कर पराबीज रूप सौः वर्ण से तीन बार आचमन करे। दो बार इसी वर्ण से परिमार्जन कर, एक बार इसी बीज से उपस्पर्शन कर, दोनों आँखें, नासापुट, दोनों कर्ण, दोनों स्कन्ध, नाभि, हृदय और शिर का भी इसी वर्ण से स्पर्श कर पुनः तीन बार आचमन करना चाहिये।।५।।

अथासनविधिमाह

ऊर्णामृदुशुचितमासनं सौवर्णसूर्यजपाभिमन्त्रितं मूलमन्त्रोक्षितमधिष्ठाय।।६।।

ऊर्णा एडकलोमविकारः। मृदुत्वविधानाद् दृष्टं फलं स्वस्यान्तःकरणं कठिनसंयोगाभावेन। सौवर्णस्तद्युक्तो यः सूर्यो विसर्गः सौः विसर्गस्य सूर्यपदवाच्यत्वे प्रमाणम् देवीभागवते—'बिन्दुद्वयं हिमांशुः स्याद् विसर्गस्तरणिस्तथा' इति वाक्यम्। अनेन अभिमन्त्रितं तेनैवोक्षितमासनम् अधिष्ठाय स्थित्वा ।।६।।

आसन के लिये सुकुमार ऊनी वस्त्र उचित होता है। 'सौः' वर्ण के साथ सूर्य अर्थात् विसर्ग लगाकर पराबीज रूप मूलमन्त्र बनता है। इसी बीज से अभिमन्त्रित जल से आसन को प्रोक्षित कर लेना चाहिये। ऐसे आसन पर बैठने से उपासक की वैद्युतिक शक्ति उपासक में ही अधिष्ठित रहती है।।६।।

दैशिकयजनम्

उदग्वदनो मौनी भूषितविग्रहो मूलपूर्वेण दैशिकमनुना मस्तके दैशिकमिष्ट्वा ।।७।।

उदग्वदन इति पराप्रकरणविधिः। भूषितविग्रहो वस्त्रभूषणादिभिः। मूलं पूर्वं यस्य ईदृशेन दैशिकमनुना ।।७।।

परा प्रकरण के उपासन क्रम में उत्तर मुख बैठने का विधान है। माँ राजराजेश्वरी के समक्ष उसका उपासक सामान्य परिधान में कैसे उपस्थित हो सकता है। अपने को पूरी तरह यथाशक्ति सजाकर ही आसन पर बैठना उचित है। प्रकरण में दैशिक सम्बद्ध गुरुपादुका[१] मन्त्र का वर्णन है। उस मन्त्र में मूल मन्त्र पहले लगाकर शिर के अग्रभाग में दैशिक की पूजा करनी चाहिये। पूरा मन्त्र इस 'सौः ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं हस्क्रें हसक्षमलवरयूँ सहक्षमलवरयीं हसौः स्हौः अमुकानन्दनाथश्रीगुरुपादुकां पूजयामि' इस मन्त्र से शिर पर अंजलिबद्ध भाव से गुरुदेव का स्मरण करना चाहिये।।७।।

विघ्नोत्सारणम्

वामपार्ष्णिघातैः छोटिकात्रयेण पातालादिगतान् भेदावभासिनः विघ्नानुत्सार्य ।।८।।

वामपार्ष्णिघातैर्वामपादपृष्ठभागघातैः (बहुवचनेन त्रित्वमेव) छोटिकात्रयेण। पातालादिपदेन अन्तरिक्षस्य दिशः परिग्रहः। पातालादित्रये अभिघातछोटिकयोः प्रत्येकमन्वयः। उत्सार्य दूरीकृत्य ।।८।।

---

१. सर्वसाधारणक्रम-सू. ३२।

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्त्तारस्ते गच्छन्तु शिवाज्ञया।।

इस मन्त्र को पढ़ते हुए बाँयीं एड़ी से भूमि में तीन आघात करना चाहिये। इसी तरह तीन बार चुटकी बजाकर तीनों लोकों में अवस्थित विघ्नों का उत्सारण करना चाहिये।।८।।

अङ्गन्यासः

शिरोमुखहृन्मूलसर्वाङ्गेषु मूलं विन्यस्य ।।९।।

अत्र शिरोमुखादिषु प्रत्यवयवं मूलावृत्तिः। सर्वाङ्गे सकृत्। मूले मूलाधारे। पराप्रकरणे एतावानेव न्यासः। अधिकानुक्तेः ।।९।।

न्यासविधि में सूत्र के सामान्य निर्देश का विशेष अर्थ परम्परा में गृहीत है। पहले 'सौः नमः' कहकर शिर, मुख, हृदय, मूल और सर्वाङ्ग का स्पर्श पुनः सौःस् हृदयाय नमः, सौः औ शिरसे स्वाहा, सौः शिखायै वषट्, सौः स् कवचाय हुम्, सौः औ नेत्रत्रयाय वौषट्, सौः[1] अस्त्राय फट्।

विसर्गन्यास में स्वर नहीं लगाना चाहिये। इसमें न्यास की आवृत्ति हो जाती है।।९।।

चिदग्नौ सर्वतत्त्वविलापनम्

काकचञ्चुपुटाकृतिना मुखेन सञ्चोष्यानिलं सप्तविंशतिशो मूलं जप्त्वा वेद्यं नाभौ सम्मुद्र्य पुनः सप्तविंशतिशो जप्त्वा अङ्गुष्ठेन शिखां बध्वा पुनरनिलमापूर्य तेन मूले चिदग्निमुत्थाप्य तत्र वेद्यस्य विलयं विभाव्य ।।१०।।

काकचञ्चुपुटं काकमुखाग्रं तत्समाकृतिना स्वमुखेन सञ्चोष्यानिलं सम्यग् बाह्यवायुमन्तर्नीत्वा वेद्यं षट्त्रिंशत्तत्त्वानि[2]। सम्मुद्र्य एकीकृत्य। अङ्गुष्ठेन तन्मन्त्रेण नमः इत्यनेनेत्यर्थः। विलयं घनघृतम् अग्निसंयोगेन द्रवीभूतम्। यद्यपि लयशब्दो नाशः, तथापि 'वि' उपसर्गेण द्रवत्त्वमर्थः। आज्यं विलाप्य इति प्रयोगात्।।१०।।

---

१. अस्त्राय फट्। २. पराक्रम-सूत्र १८।

काकचञ्चुपुट के समान मुख और जिह्वाग्र गोलक से बाहरी वायु का आन्तर आकर्षण हठयोग की प्राणायाम विधि के अन्तर्गत आने वाली क्रिया है। उस वायु-समाकर्षण के बीच में ही २७ बार मूल-मन्त्र का जप आवश्यक है। इसके बाद समस्त वेद्य को अर्थात् ३४ तत्त्वों को नाभि में एकत्र मापन करना चाहिये।

तत्पश्चात् पुनः परामन्त्र का २७ बार जप करना चाहिये। शिखा बँधी रहनी चाहिये। बँधी न हो, तो बाँधकर पुनः 'पूरक' करके चिदग्नि का उत्थापन करना चाहिये। इस चिदग्नि में सारे वेद्य ३६ तत्त्वों का विलय कर देना चाहिये। यहाँ वेद्य के विलय का सन्दर्भ विचारणीय है। वृत्तिकार विलय का अर्थ पिघलाना कर रहे हैं। यह मेरी दृष्टि से उचित नहीं। यह एक प्रकार का चिदग्निसात्करण व्यापार है। इस सम्बन्ध में एक श्लोक मैं लिख रहा हूँ। इस पर विचार उचित है।

अन्तर्निरन्तरनिरिन्धनमेधमाने
कस्याञ्चिदद्भुतमरीचिविकासवेद्याम् ।
मायान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ
विश्वं जुहोमि वसुधादिशिवावसानम्।।

इस श्लोक में भी संविदग्नि में विश्व अर्थात् वेद्य का चिदग्निसात्करण है, पर मात्र ३४ वेद्यतत्त्वों का, शिवशक्ति का नहीं। अतः इस सूत्र के अनुसार भी ३४ वेद्यों का ही विलापन उद्देश्य है।।१०।।

अथार्घ्यसादनम्

गोमयेनोपलिप्तचतुरस्रभूतले प्रवहत्पार्श्वकरकृतया मत्स्यमुद्रया दिव्यगन्धाम्बुयुतया भूव्योमवायुवह्निमण्डलानि कृत्वा।।११।।

प्रवहत्पार्श्वेति, येन नासापुटेन वायुर्वहति, तत्पार्श्वकरमधः कृत्वा, रचितमत्स्यमुद्रया दिव्यः श्रेष्ठः। भूमण्डलं चतुरस्रं श्रीयन्त्रलेखने चतुरस्रे भूबिम्बं क्षोणीपुरमिति भूरिप्रयोगात्। व्योममण्डलं वृत्तं, शून्यात्मकवृत्ते ज्योतिः-

शास्त्रादौ संख्यासङ्केते आकाशशब्दस्य भूरिप्रयोणात् शून्यस्य वृत्तरूपत्वात्। वायुमण्डलं षट्कोणं, वह्निमण्डलं त्रिकोणम्। इत्थं च चतुरस्र-वृत्तषट्कोण-त्रिकोणानि इत्यर्थः।।११।।

पूजा में साँस लेते समय यह ध्यान दीजिये कि, वह किस पुट में बह रही है। मत्स्य मुद्रा में वही हाथ नीचे रखकर मत्स्यमुद्राबन्ध साधन करना उचित है। गोबर से लिपे-पुते चतुर्भुज भूतल पर भूमण्डल, व्योममण्डल, वायुमण्डल, वह्निमण्डल, इस तरह १. भूमण्डल चौकोर, २. व्योममण्डल वृत्ताकार, ३. वायुमण्डल षट्कोण और ४. वह्निमण्डल त्रिकोण बनाना चाहिये। इतनी प्रक्रिया इस सूत्र के अनुसार पूरी कर लेनी चाहिये। यह क्रिया आवश्यक होती है।।११।।

शेषमर्घ्यमानमतिदिशति

श्यामावत् सामान्यविशेषार्घ्ये सादयेत् ।।१२।।

श्यामा क्रम की तरह इस पूजाक्रम में भी सामान्य और विशेष दो प्रकार के अर्घ्य प्रदान की व्यवस्था करनी चाहिये।।१२।।

परामन्त्रेषु योजनीयबीजविशेषः

सर्वेऽपि पराक्रममनवः 'सौः'वर्णपूर्वाः कार्याः ।।१३।।

पराक्रम में जितने मन्त्रों के निर्देश हैं, उन सबके पहले पराबीज 'सौः' का प्रयोग आवश्यक होता है।।१३।।

विशेषार्घ्ये श्यामातोयोऽधिकांशस्तमाह

भृगुचतुर्दशषोडशद्विरावृत्त्या वर्णषडङ्गं सर्वमूलषडावृत्त्या मन्त्रषडङ्गं च कृत्वा।।१४।।

भृगुः सकारः। चतुर्दशः औकारः। षोडशो विसर्गः। एतेषां प्रत्येकं द्विरावृत्त्या हृदयादि-षडङ्गं कुर्यात्। अथ वर्णषडङ्गन्यासः। बिन्दुयोगश्च शिष्टसम्प्रदायात्। मन्त्रस्वरूपम्। सं हृदयाय नमः। औं शिरसे स्वाहा। औः शिखायै वषट्। विसर्गस्य केवलस्यानुच्चार्यत्वात्। एवमग्रेऽपि। इति मूल-वर्णषडङ्गन्यासः। मूलेष पुनः षडङ्गन्यासमाह—सर्वमूलेति।।१४।।

'भृगु' शब्द 'स'वर्ण का द्योतक है। इसी तरह वर्ण सन्दर्भ में प्रयुक्त 'चतुर्दश' संख्या चौदहवें स्वर 'औ'कार की द्योतक है। 'षोडश' संख्या से सोलहवें वर्ण विसर्ग का बोध होता है। तीनों मिलकर पराबीज 'सौः' का सङ्केत करते हैं। स का हृदय में, औ का शिर पर, विसर्ग का शिखा में, पुनः स का कवच में, औ का नेत्रत्रय में और विसर्ग का अस्त्र मन्त्र में प्रयोग करने पर दो आवृत्ति हो जाती है। यह वर्ण षडङ्गन्यास माना जाता है। इसके उपरान्त पूरे मूल से अर्थात् पराबीज से छः आवृत्ति होने पर मन्त्रषडङ्ग न्यास पूरा होता है। इस तरह मन्त्र के वर्ण-वर्ण में जिस दिव्यता का शाश्वत उल्लास होता है, उसे उपासक अपने शरीर में धारण कर दिव्यातिदिव्य हो जाता है।।१४।।

न्यस्तानां षडङ्गदेवीनां पूजामाह

उभाभ्यामर्चयित्वा ।।१५।।

मूलवर्णमूलाभ्यामित्यर्थः ।।१५।।

न्यस्त षडङ्ग देवियों का भावन कर पुनः मूल के वर्णों से और पुनः मूल के साथ-साथ षडङ्ग देवियों का स्मरण करते हुए, पूर्ववत् न्यास का निर्देश इस सूत्र में दिया गया है।।१५।।

अथ सुधादेवीपूजामाह

मूलमुच्चार्य तां चिन्मयीमानन्दलक्षणाममृतकलशपिशित-हस्तद्वयां प्रसन्नां देवीं पूजयामि नमः स्वाहा इति सुधादेवीमभ्यर्च्य तया सम्प्रोक्ष्य वरिवस्यावस्तूनि।।१६।।

मूलमुच्चार्येति। तया सुधादेव्या। वरिवस्यावस्तूनि पूजाद्रव्याणि।।१६।।

सुधा देवी की पूजा का निर्देश इस सूत्र में है। मूल का उच्चारण कर श्रद्धा के चरम स्तरीय आवेश से आविष्ट होकर मूलवर्ण का उच्चारण कर सुधा देवी का ध्यान करना चाहिये। यह ध्यानात्मक स्मरण बड़ा ही आकर्षक है। देवी चिन्मयी है। वह आनन्दमयी है। प्रकाश और स्वातन्त्र्य ही चित् और आनन्द माने जाते हैं। ऐसी प्रकाशानन्दमयी प्रसन्नमुद्रा में अपने दोनों हाथों में अमृत-कलश और पिशित लिये हुए है। इतना स्मरण कर यह कहना चाहिये कि,

'सौः चिन्मयीमानन्दलक्षणाममृतकलशपिशितहस्तां प्रसन्नां सुधादेवीं पूजयामि नमः स्वाहा।' उसी अमृत-कलश पवित्र जल का भावन करते हुए पूजाद्रव्य का प्रोक्षण करना चाहिये।।१६।।

तत्त्वकदम्बस्य हृत्पद्मानयनम्

पूर्वं नाभौ सम्मुद्रितं चिदग्निविलीनं तप्तायोद्रववत् षट्त्रिंशत्तत्त्वकदम्बकं हृत्सरोजे समानीय।।१७।।

पूर्वं पात्रासादनात्पूर्वमित्यर्थः। तप्तायोद्रववत् तप्तसुवर्णद्रववत्। वेदे निघण्टौ सुवर्णपर्याये अयःपदसत्त्वात् प्रकृतायःपदमपि सुवर्णवाचकम्। इत्थं च पूर्वं नाभौ षट्त्रिंशत्तत्त्वानि एकीकृत्य चिदग्निना द्रवीभावः सम्पादितोऽस्ति। तान्नूद्य हृदये तद्रसस्य समानयनं विधीयते।।१७।।

पात्रासादन के पहले नाभि में सम्मुद्रित अर्थात् एकीकृत रूप से चिदग्नि में विलीन ३६ तत्त्वों का समूह जो चैतन्य के चमत्कार से इस रूप में परिणत हो गया है। उसको हृदयकमल में मयूराण्डरस के समान मकरन्दरस की तरह ध्यान करना चाहिये। इस प्रक्रिया पर विशेष ध्यान देना चाहिये, चित् रूप प्रकाश में ३६ तत्त्वों को सोने के पिघले द्रव की तरह रस रूप में परिणत करने का प्रकल्पन, एक विशेष प्रक्रिया है। फिर उसे हृदय में लाना और उसका अनुभव करना एक अलग स्थिति है। इस स्थिति में उपासक परा पूजा के योग्य होता है।।१७।।

अथ पराचक्रं वक्तुं प्रक्रमते

मूलजप्तैः कुसुमक्षेपैर्वक्ष्यमाणैश्च मन्त्रैरासनकल्पितं कुर्यात्। मूलादियोगपीठाय नम इत्यन्तानि तानि च पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशगन्धरसरूपस्पर्शशब्दोपस्थपायुपादपाणिवाग्घ्राणजिह्वाचक्षुस्त्वक्श्रोत्राहङ्कारबुद्धिमनःप्रकृतिपुरुषनियतिकालरागकलाविद्यामायाशुद्धविद्येश्वरसदाशिवशक्तिशिवाः। एवं पराचक्रं कृत्वा।।१८।।

प्रथमं केवलमूलेनैकवारं कुसुमक्षेपः। ततो वक्ष्यमाणैकैकतत्त्वमन्त्रेण, मूलादिना योगपीठाय नम इत्यन्तेनैकवारं कुसुमाक्षतक्षेपो वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैः। यथा तत्र तत्त्वमन्त्रस्वरूपम्—पृथिवीयोगपीठाय नम इति। एवं शिवान्तेषु

योज्यम्। एवं हृदये षट्त्रिंशद्वारं मूलेन निरुक्तषट्त्रिंशत्तत्त्वमन्त्रैश्च कुसुमानां प्रक्षेप एव पराचक्रनिर्मितिरिति भावः। तानि चेत्यत्र लिङ्गव्यत्यय आर्षः। षट्त्रिंशत्तत्त्वान्याह—पृथिवीति शिव इत्यन्तेन। यद्यपि तन्त्रान्तरे शिवादि-पृथिव्यन्तक्रमस्तत्त्वानामस्ति, तथापि प्रकृतेऽनेनैव क्रमेण मन्त्रैः पुष्प-क्षेपोऽपूर्वसाधनमिति विपरीतपाठः। तत्स्वरूपं व्याख्यातं प्राक्।।१८।।

परा चक्र का यह निर्माण शिव संकल्प प्रकल्प का अनूठा उदाहरण है। कुसुमक्षेप द्वारा आराध्य चक्र के निर्माण की योजना अन्यत्र दुर्लभ है। सर्वप्रथम मूल मन्त्र का एक बार प्रयोग कर कुसुमक्षेप करने के उपरान्त सूत्रोक्त सभी तत्त्वपीठों के मन्त्रों से कुसुमक्षेप करना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार होंगे, जैसे—

१. 'सौः पृथिवीयोगपीठाय नमः' मन्त्र बोलकर कुसुमक्षेप करना चाहिये।

२. 'सौः अप्योगपीठाय नमः' (कुमुमक्षेप)।

३. 'सौः तेजोयोगपीठाय नमः' (कुसुमक्षेप)।

इसी प्रकार सभी तत्त्वपीठों पर मूलमन्त्र बोलकर कुसुमक्षेप करते हैं। अन्तिम मन्त्र इस प्रकार बनेगा—'सौः शिवयोगपीठाय नमः'। इस प्रकार पराचक्र निर्मित होता है।।१८।।

कल्पितचक्रे देव्या आवाहनमाह

तत्रैतदैक्यविमर्शरूपिणीं षोडशकलां परां देवीमावाह्य।।१९।।

एतेषां तत्त्वानां य ऐक्यविमर्शः, ऐक्यप्रकाशशक्तिस्तद्रूपिणीमावाहयेत्। अन्यत् स्पष्टम्।।१९।।

इस पराचक्र का निर्माण हो जाने के उपरान्त सभी ३६ तत्त्वों के ऐक्य का विमर्श करने वाली सोलह कलाओं से परिपूर्ण परा देवी का आवाहन करना चाहिये। यह आवाहन स्वात्म के हृदय-केन्द्र में होना चाहिये।।१९।।

एवमावाहनमुक्त्वा आवाहिताया ध्यानप्रकारमाह

अकलङ्कशशाङ्काभा त्र्यक्षा चन्द्रकलावती।
मुद्रापुस्तकसद्बाहुः पातु मां परमा कला।। इति ध्यात्वा।।२०।।

अकलङ्कः कलङ्कशून्यो यः शशाङ्कश्चन्द्रस्तत्तुल्याभा। मुद्रा चिन्मुद्रा, पुस्तं पुस्तकम्। एतेन द्विबाहुत्वं स्पष्टम्। अत्र पुस्तकं वामहस्ते, गणपति-प्रकरणलिखितयामलवचनात् परिशेषान्मुद्रा दक्षे।।२०।।

'निष्कलङ्क चन्द्रमा के समान सौन्दर्यसुधासामरस्यमयी त्रिनेत्रा चन्द्र-कलाकलिता मुद्रापुस्तकधारिणी द्विबाहुसुशोभिता परमा कला मेरी रक्षा करे।' इस विमृष्टि के स्तर पर माँ सदाशिवरूप चन्द्रकलाकलिता परमाम्बा का ध्यान करना चाहिये।।२०।।

अथ पूजामाह

मूलादिमुच्चार्य प्रकाशरूपिणी पराभट्टारिका, मूलमध्यमुच्चार्य विमर्शरूपिणी पराभट्टारिका मूलान्तमुच्चार्य प्रकाशविमर्शरूपिणी पराभट्टारिकेति त्रिभिः देव्या मूलहृन्मुखेष्वभ्यर्च्य समस्तमुच्चार्य, महाप्रकाशविमर्शरूपिणी पराभट्टारिकेति, दशवारमवमृश्य तामेव देवीं कालाग्निकोटिदीप्तां ध्यात्वा।।२१।।

मूलादिं सकारम्। तत्र बिन्दुयोगोऽपि। एवं मूलद्वितीयम् औं। तृतीयं विसर्गः। मन्त्रस्वरूपं तु—'सं प्रकाशरूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि नमः'। एवमन्यत्। देव्या मूलं मूलाधारम्। इदं पूजनं विशेषार्घ्यद्रव्येण आवरणदेवतावत् स्वहृदये ज्ञेयम्। समस्तं सम्पूर्णं मूलमित्यर्थः। श्रीपादुकेत्यादियोजनम् अत्रापि अवमृश्य पूजयित्वा।।२१।।

मूल अर्थात् पराबीज को उच्चरित कर उसका आदि अक्षर बिन्दुयुक्त बोलकर और इसके बाद प्रकाशरूपिणी पराभट्टारिका प्रयोग कर 'श्रीपादुकां पूजयामि नमः' लगाना चाहिये। इस तरह प्रथम मन्त्र स्वरूप—'सौः सं प्रकाश-रूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि नमः' बनता है।

इसी तरह मूल के साथ मूलमध्य 'औ' को लगाकर विमर्शरूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि नमः, मन्त्र बनता है। इसी क्रम में मूलान्त्य अर्थात् विसर्ग (अः) को मूल के बाद बोलकर तीसरा मन्त्र 'सौः अः प्रकाश-विमर्शरूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि नमः' बनता है, इन तीनों से क्रमशः मूलाधार, हृदय और मुख में पूजन करना चाहिये। यह पूजन

विशेषार्घ्यद्रव्य से होता है। इसे अपने हृदय में ही सम्पन्न करना चाहिये। तदनन्तर समस्त मन्त्र का उच्चारण कर 'महाप्रकाशविमर्शरूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि नमः' मन्त्र से देवी के मूल हृदय और मुख में दश बार पूजन करना चाहिये। अवमर्शन का अर्थ पूजन ही होता है। ऐसी पूजित वात्सल्यमयी करोड़ों कालानल की दीप्ति के समान अनन्त दीप्तिमन्त माँ का ध्यान करना चाहिये।।२१।।

ततः कृत्यशेषमुपदिशति

तस्यां क्रियासमभिव्याहारेण वेद्यमखिलं हुत्वा ।।२२।।

तस्यां दीप्तौ हुत्वा हुतं भावयित्वा।।२२।।

कालाग्निकोटिदीप्तिरूप चिदग्नि में क्रियासमभिव्याहार क्रम से प्रत्येक वेद्य का हवन करना चाहिये। प्रथम मन्त्र जैसे—'सौः पृथिवीं जुहोमि स्वाहा'' की तरह सभी वेद्यों का हवन करना चाहिये।।२२।।

मुखे अर्घ्यनिवेदनम्

मूलमुच्चार्य सामान्यपादुकया स्वमस्तकस्थाय गुरवे अर्घ्यं निवेद्य ।।२३।।

सामान्यपादुकया दीक्षाप्रकरणे पठितगुरुपादुकामन्त्रेण।।२३।।

गुरुपादुका मन्त्र प्रथम खण्ड के सूत्र ४१ में दिया गया है। खण्ड दश के सूत्र ३२ में भी श्रीपादुका के विषय में चर्चा है। इन सन्दर्भों के अर्थ को ध्यान में रखते हुए गुरुदेव के दीक्षा नाम के पहले मूल अर्थात् पराबीज का उच्चारण करते हुए 'सौः स्वमस्तकस्थामुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः' मन्त्र बोलकर गुरुदेव को अर्घ्य देना चाहिये।।२३।।

चिदग्नेरुद्दीपनम्

पुनश्चिदग्निमुद्दीप्तं विभाव्य ।।२४।।

गुरुदेव के अर्घ्य निवेदन के पश्चात् चिदग्नि के उद्दीप्त होने का विभावन करना आवश्यक माना जाता है।।२४।।

ओघत्रयाभ्यर्चनम्

दिव्यौघं तिस्रः पादुकाः, सिद्धौघं त्रिस्रः, मानवौघमष्टाव-भ्यर्च्य।।२५।।

दिव्यौघसिद्धौघमानवौघानामर्चनम् आवरणदेवतावदर्चनम्। विशेषार्घ्य-द्रव्येण स्वहृदय एव कार्यम्।।२५।।

दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ की पूजा क्रमशः तीन, तीन और आठ की संख्या के कारण पृथक्-पृथक् इतने ही मन्त्रों से की जाती है। जैसे—

१. **दिव्यौघ**—इस पूजा में तीन पूज्य परिगणित हैं। अघोरानन्दनाथ, श्रीकण्ठानन्दनाथ के पहले पराभट्टारिका की पूजा की जाती है। जैसे—

अ. सौः पराभट्टारिका-श्रीपादुकां पूजयामि नमः।

आ. अघोरानन्दनाथ-श्रीपादुकां पूजयामि नमः।

इ. श्रीकण्ठानन्दनाथ-श्रीपादुकां पूजयामि नमः।

२. **सिद्धौघ**—शक्तिधर, क्रोध, त्र्यम्बक ये तीन नाथ इसमें परिगणित हैं। इनके मन्त्र भी पूर्ववत् बनाने चाहिये। उदाहरणरूप प्रथम मन्त्र जैसे—

'सौः शक्तिधरानन्दनाथ-श्रीपादुकां पूजयामि नमः'। इसी प्रकार दोनों शेष नाथों की पूजा करनी चाहिये।

३. **मानवौघ**—१. सौः आनन्दानन्दनाथ-श्रीपादुकां पूजयामि नमः। इसी तरह २. प्रतिभादेव्यम्बानन्द, ३. वीरानन्द, ४. संविदानन्द, ५. मधुरा-देव्यम्बानन्दनाथ, ६. ज्ञानानन्द, ७. श्रीरामानन्द, ८. योगानन्दनाथ सबके साथ 'श्रीपादुकां पूजयामि नमः' लगाकर पूजा करनी चाहिये। यह तीनों ओघों की पूजा है।।२५।।

दिव्यौघादीनाह

पराभट्टारिकाऽघोरश्रीकण्ठ-शक्तिधर-क्रोध-त्र्यम्बकनन्द-प्रतिभादेव्यम्बा-वीर-संविदानन्द-मधुरादेव्यम्बा-ज्ञान-श्रीराम-योगा इति परापादुकाः ।।२६।।

१. पराभट्टारिका, अघोरा, श्रीकण्ठ इति दिव्यौघः।

२. शक्तिधरः, क्रोधः, त्र्यम्बक इति सिद्धौघः।

३. आनन्दः, प्रतिभादेव्यम्बा, वीरः, संविदानन्दः, मधुरादेव्यम्बा, ज्ञानः, श्रीरामः, योग इति मानवौघः।।२६।।

सूत्र २५ के अर्थ के साथ दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ के क्रमशः तीन, तीन, आठ अर्चनीय नाथों के नाम दे दिये गये हैं। मन्त्रों की योजना भी वहीं द्रष्टव्य है।।२६।।

बलिदानम्

ततः कलामनुना बलिं निवेद्य ।।२७।।

ततः अर्चनानन्तरम्। कलामनुना 'सौः' इत्यनेन 'पातु मां परमा कला' इत्यत्र परायाः कलापदवाच्यत्वं निर्णीतम्। अतस्तन्मनुरसावेव भवितुमर्हति। बलिदाने धर्माः श्रीक्रमोक्ता ग्राह्याः, साजात्यात्। अत्र जपस्य उपासनाकालस्य वाऽनुक्तेरयं प्रयोगः सकृदेव। यद्वा, श्यामावार्त्तालीसाहचर्यात् जपसङ्ख्या अनुक्ता तत्रत्या ग्राह्या। तावज्जपपर्यन्तोपास्तिः। अत एवाग्रे सूत्रकारो जपकालं वक्ष्यति।।२७।।

ततः अर्थात् परादेव्यम्बा के अर्चन के उपरान्त ही बलिकर्म करना चाहिये। इसमें निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये—

१. बलि कलामन्त्र से होनी चाहिये।

२. कला पराम्बा को भी कहते हैं। यही मन्त्र 'सौः' है।

३. 'पातु मां परमाकला' के उद्धरण में पराम्बा को ही परमा कला कहते हैं।

४. बलिदान श्रीक्रम के अनुसार करना चाहिये।

५. जप और उपासना के समय अनुक्त हैं। अतः ये कार्य एक बार ही करणीय हैं।

६. जपसंख्या श्यामावार्त्तालीवत् होनी चाहिये।।२७।।

हविःशेषस्वीकारः

हविःशेषमात्मसात्कुर्यात्। इति शिवम् ।।२८।।

हविःशेषमात्मसात्कारः श्रीक्रमवत्। आत्मसात्कुर्यात् इत्येवोक्त्या अत्र सामयिकाभावः सूचितः। शिवमिति व्याख्यातमेव।।२८।।

।। इति श्रीपरशुरामकल्पसूत्रे श्रीरामेश्वरनिर्मितायां श्रीपरशुरामकल्पसूत्रवृत्तौ सौभाग्योदयनाम्न्यां (मुख्यांशमात्रायां) पराक्रमो नामाष्टमः खण्डः सम्पूर्णः ।।८।।

हविःशेष स्वीकार करने के पहले 'सौः' मन्त्र से आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व का शोधन करना चाहिये। परापूजा की हवि स्वयं या स्वसन्ततिक्रमस्थ व्यक्ति को ही देनी चाहिये, दूसरे को नहीं। इति शिवम्।।२८।।

।। श्रीरामेश्वरकृत मुख्यांश-सौभाग्योदयवृत्तिसहित
डॉ. परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य-समन्वित
श्रीपरशुरामकल्पसूत्र का पराक्रम नामक अष्टम खण्ड परिपूर्ण ।।८।।

।। इति शिवम्।।

होमविधिः

[नवमः खण्डः]

अथ गणपतिक्रमे नित्यहोमप्रसक्तौ ललिताऽऽदिपुरश्चरणाङ्गहोमस्य अन्यत्र काम्यहोमस्य वा प्रसक्तौ तदितिकर्त्तव्यताज्ञानस्यावश्यकतया तदर्थं होमविधिं वक्तुमारभते—

अथ स्वेष्टमन्त्रस्य होमविधानं व्याख्यास्यामः ।।१।।

अथेति पूर्वक्रान्तविच्छेदाद्योतकः। स्वेष्टमन्त्रस्येत्यनेन, अग्रे सौरवैष्णवादिसर्वसाधारणोपासनाया वक्ष्यमाणत्वाद् अत्रापि सर्वसाधारणो होमविधिरिति ज्ञापितः।।१।।

अथ शब्द पूर्व में उपक्रान्त विषय के अन्त और नूतन विषय के उपक्रम का सूचक माना जाता है। सूत्र में निर्दिष्ट स्वेष्टमन्त्रोपासना के प्रयोग में होम का विधान सभी सम्प्रदायों में है। जैसे सौर सूर्यमन्त्र-जपान्त में होम करते हैं, इसी तरह वैष्णवादि सम्प्रदायों में भी यही क्रम अपनाया जाता है। इसे सर्वसाधारण उपासना क्रम में स्वीकृत विधि कहते हैं। इसी आधार पर इस होम-विधान को भी सर्वसाधारण होम विधान मानना चाहिये।।१।।

ततस्तद्विधिमाह

चतुरस्रं कुण्डमथवा हस्तायाममङ्गुष्ठोन्नतं स्थण्डिलं कृत्वा।।२।।

कुण्डमित्यनेन तन्त्रान्तरोक्तमेखलायोनिखातादिमतिदिष्टं नाम्ना। चतुरस्रं नित्यम्। प्रजादिकामनायां योनिकुण्डादिकमपि। सूत्रानुयायिनां न मण्डप-विचारः। अनुक्तत्वाद् असूचितत्वाच्च। आयामो विस्तारः।।२।।

सूत्र में चतुरस्र शब्द के प्रयोग पर बल दिया गया है। अर्थात् सभी प्रकार के उपक्रमों में कुण्ड चतुरस्र ही होना चाहिये। नैमित्तिक और काम्य प्रयोगों में कभी इसका अपवाद भी पाया जाता है, जैसे पुत्रसन्तति परम्परा की कामना में योनिरूप ही कुण्ड बनाया जा सकता है। सूत्रानुसारी निर्देश के अनुयायी विद्यावान् विद्वान् यह भी मानते हैं कि, इसमें मण्डप की आवश्यकता नहीं। क्योंकि सूत्र में मण्डप की चर्चा नहीं है। अन्यत्र भी इसका निर्देश नहीं है, न सूचना ही है।।२।।

सामान्योदकेनावोक्षणम्

सामान्यार्घ्यमुपशोध्य तेनावोक्ष्य ।।३।।

तत्तत्क्रमोक्तविधिना सामान्योदकं निर्मायेत्यर्थः। यदि पूजाङ्गहोमः, तदा पूजायां क्लृप्तेनैव कार्यसिद्धौ न निर्माणम्, अन्यत्र निर्माणमिति ज्ञेयम् ।।३।।

जिस क्रम की पूजा का विधान हो, उसमें सामान्य जल लेकर उसे शुद्ध कर उससे पूजा द्रव्य का उञ्छन करना चाहिये। किसी पूजा के अङ्गरूप में यदि होम का विधान किया गया हो, तो जो जल प्रयुक्त हो रहा है, उसी से अवोक्षण होना चाहिये।।३।।

रेखासु ब्रह्मादिदेवतार्चनम्

प्राचीरुदीचीस्तिस्रस्तिस्रो रेखा लिखित्वा ।।४।।

पूर्व और उत्तर तीन-तीन रेखायें खींचनी चाहिये। प्रथम प्रागग्र रेखा और प्रथम उदगग्र के क्रम से इन पर देवों का आवाहन करने का विधान शास्त्र में निर्दिष्ट है।।४।।

तासु रेखासु ब्रह्मयमसोमरुद्रविष्णिवन्द्रान् षट्तारी नमः सम्पुटितानभ्यर्च्य[१] ।।५।।

षट्तारी कुमारी प्रथमं ततो ब्रह्मणे नम इति। एवञ्च षट्तारनमः-सम्पुटिता भवन्ति। एवमेव यमायेत्यादौ योज्यम्। नमःसम्पुटितानित्यनन्तरं

---

१. श्रीक्रम-सूत्र. ८।

पठित्वेति शेषः। अभ्यर्च्य इत्यस्य कर्माकाङ्क्षायां मन्त्रलिङ्गाद् देवता योज्याः।।५।।

उन रेखाओं पर प्रथम, द्वितीय और तृतीय क्रम से ब्रह्मा, यम और सोम की पूजा करनी चाहिये। इसी तरह उदगग्र रेखाओं पर क्रमशः रुद्र, विष्णु और इन्द्र की पूजा की जाती है। पूजा के मन्त्र देव नामों को त्रितारी और कुमारी के बाद नमः से सम्पुटित करके बनाते हैं। जैसे—'ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ब्रह्मणे नमः' इस मन्त्र से ब्रह्मा की पूजा करनी चाहिये।।५।।

सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः, स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा, उत्तिष्ठ पुरुषाय शिखायै वषट्, धूमव्यापिने कवचाय हुम्, सप्तजिह्वाय नेत्रत्रयाय वौषट्, धनुर्धराय अस्त्राय फट् इति षडङ्गं विधाय तेन षडङ्गेन कुण्डमभ्यर्च्य ।।६।।

उक्तषण्मन्त्रैः स्वदेहे हृदयादिषडङ्गन्यासानन्तरं कुण्डे तैरेव मन्त्रैः अग्नीशासुरवायुषु मध्ये दिक्षु च षडङ्गयुवतीः पूजयेत्।।६।।

सूत्र में छः मन्त्र निर्दिष्ट हैं। इन मन्त्रों से षडङ्गन्यास करना चाहिये। इन्हीं मन्त्रों से कुण्ड-मध्य और ऊर्ध्वादि चतुर्दिक् कुण्डशक्तियों की अर्चना करनी चाहिये।।६।।

ततोऽग्निचक्रनिर्माणादिकमाह

तत्राष्टकोणषट्कोणत्रिकोणात्मकम् अग्निचक्रं विलिख्य पीतायै, श्वेतायै, अरुणायै, कृष्णायै, धूम्रायै, तीव्रायै, स्फुलिङ्गिन्यै, रुचिरायै, ज्वालिन्यै नम इति त्रिकोणमध्ये वह्नेः पीठशक्तीः सम्पूज्य—तं तमसे, रं रजसे, सं सत्त्वाय, आम् आत्मने, अम् अन्तरात्मने, पं परमात्मने, ह्रीं ज्ञानात्मने नम इति तत्रैवाभ्यर्चयेत् ।।७।।

कुण्डे स्थण्डिले वा अष्टकोणादिनिर्माणं प्रवेशरीत्या कार्यम्, त्रिकोणस्याभ्यन्तरे भूरिदर्शनात्। पीतायै इत्यादितो ज्ञानात्मने नम इत्यन्तं स्पष्टम्। तत्रैव त्रिकोण एव। क्रमस्तु स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन।।७।।

यह होमकुण्ड और स्थण्डिल दोनों स्थानों पर किया जा सकता है। कुण्ड में होम करना हो, तो उसमें या स्थण्डिल (वेदी) पर करना हो तो उस पर ही प्रवेश क्रम के अनुसार अष्टकोण, षट्कोण या त्रिकोणात्मक अग्निचक्र का निर्माण करना चाहिये। प्रचलन त्रिकोणात्मक अग्निचक्र का ही है। यह आचार्य पर निर्भर करता है कि, होम के अनुसार अग्निचक्रों का निर्माण करे। कुण्ड और स्थण्डिल के आकार-प्रकार पर भी यह निर्भर करता है।

त्रिकोण के मध्य में अग्नि देवता की नौ पीठशक्तियों की स्थापना और पूजा करनी चाहिये। उनके नाम क्रमशः हैं—पीता, श्वेता, अरुणा, कृष्णा, धूम्रा, तीव्रा, स्फुलिङ्गिनी, रुचिरा और ज्वालिनी। तत्पश्चात् उसी त्रिकोण में तमस्, राजस्, सत्त्व, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा की इनके आदि अक्षरों का बिन्दुयुक्त बीज बनाकर इनके चतुर्थ्यन्त रूप के साथ मन्त्रात्मक उच्चारण कर पूजा करनी चाहिये। जैसे—

१. तं तमसे नमः अभ्यर्चयामि तर्पयामि नमः।

२. रं रजसे नमः, ३. सं सत्त्वाय नमः, ४. आम् आत्मने नमः, ५. अं अन्तरात्मने नमः, ६. पं परमात्मने नमः। ७. ज्ञानात्मा के पहले ह्रीं बीजमन्त्र लगाते हैं। जैसे—ह्रीं ज्ञानात्मने नमः। इन सरल मन्त्रों से ही इन पीठशक्तियों की पूजा सम्पन्न होती है।७।।

एवं पीठशक्तिपूजामुक्त्वा ततोऽग्निप्रतिष्ठामुपदिशति

ततो जनयिष्यमाणवह्नेः पितरौ वागीश्वरीवागीश्वरौ पीठेऽभ्यर्च्य तयोर्मिथुनीभावं भावयित्वा 'ह्रीं वागीश्वरीवागीश्वराभ्यां नमः' इति ध्यात्वा।।८।।

पीठे त्रिकोणात्मके अभ्यर्चितदेवताविशिष्टे तयोर्वागीश्वरीवागीश्वरयोर्मिथुनीभावं मैथुनकर्म मनसा भावयित्वा। ध्यात्वेति ध्यानं कामेश्वरीकामेश्वरवत् तदभिन्नत्वात्।।८।।

इसी त्रिकोणात्मक पीठ में, जिसमें पहले अग्नि-शक्तियों और शक्तिमन्तों की पूजा की जा चुकी है, उसी में अग्नि की प्रतिष्ठा करनी होती है। अग्नि

अभी उत्पन्न नहीं किया गया है। परशुरामकल्पसूत्र के अनुसार अग्नि के माता-पिता वागीश्वरी और वागीश्वर माने जाते हैं। इन दोनों का मैथुनभाव सम्पन्न होने पर अग्नि का जन्म स्वाभाविक माना जा सकता है। अतः इनके इसी भाव का मन ही मन भावन करना चाहिये। इसके पहले उसी पीठ में इन दोनों की पूजा भी कर लेनी चाहिये। मनसा भावन करने के बाद इनसे सम्बद्ध 'ह्रीं वागीश्वरीवागीश्वराभ्यां नमः' इस मन्त्र को बोलते हुए दोनों का ध्यान करना चाहिये।।८।।

संविदग्निपातनम्

अरणेः सूर्यकान्ताद् द्विजगृहाद्वा वह्निमुत्पाद्य मृत्पात्रे ताम्रपात्रे वा आग्नेय्यामैशान्यां नैर्ऋत्त्यां वा निधाय, अग्निशकलं क्रव्यादांशं नैर्ऋत्यां विसार्य निरीक्षणप्रोक्षणताडनावकुण्ठनादिभिर्विशोध्य ॐ वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा इति मूलाधारोद्गतं संविदं ललाटनेत्रद्वारा निर्गमय्य तं बाह्याग्नियुक्तं पातयेत् ।।९।।

अरणिः प्रसिद्धः। द्विजगृहेभ्यः पचनाग्निस्तस्यानयनमेव तदुत्पादनम्। पात्रनियममाह—मृत्पात्र इति। स्थापनदेशनियममाह—आग्नेय्यामिति। क्रव्यादांशं अमेध्यांशम् इत्यर्थः, 'य एतान् क्रव्यात् तमपहत्य मध्येऽग्नौ कपालमुपदधाति' इति श्रुतेः। विसार्य बहिर्निरस्य। निरीक्षणं स्वनेत्राभ्याम्। प्रोक्षणं सामान्याघ्र्योदकेन। ताडनम् अभिघाताख्यः संयोगविशेषः। अवकुण्ठनं पूर्वदर्शितमुद्रा। आदिपदेन धेनुयोनी। स्थलान्तरे अवकुण्ठनसहपाठात्। एतैर्विशोध्य संस्कृत्य। तस्मिन् पात्रे चिदग्न्यावाहनप्रकारमाह—ॐ वैश्वानरेति। ललाटनेत्रद्वारा भ्रूमध्यद्वारा। निर्गमय्य निर्गमनं विभाव्य। तं चिदग्निं बाह्याग्नियुक्तम्। इत्यनेन चिदग्नेः प्राधान्यं सूचितम्, भृत्ययुक्तराजेतिवत्। पातयेद् इत्यस्मात् पूर्वं पूर्वनिर्मिताग्निचक्रे इति शेषः।।९।।

वागीश्वरी और वागीश्वर की कृपा से ही अग्नि अरणि से उत्पन्न होता है। अरणि न हो तो सूर्यकान्त मणि से अग्नि उत्पन्न करना चाहिये। यह

भी सम्भव न हो, तो ब्राह्मण के घर से अग्नि ले आना चाहिये। अग्नि को मृत्पात्र अथवा ताम्रपात्र में लाना चाहिये। अग्नि लाकर अग्नि, ईशान या नैऋत्य में रखना चाहिये। उसमें से श्रुति-परम्परानुसार अमेध्य अंश को क्रव्याद कोण में फेंककर कुण्ड में रखने के पहले उसका निरीक्षण, प्रोक्षण, ताडन, अवकुण्ठन तथा धेनु और योनि मुद्रा विधियों से उसका विशोधन भी कर लेना चाहिये।

तत्पश्चात् 'ॐ वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा' इस मन्त्र से मूलाधार चक्र से उद्गत संवित् रूप चिदग्नि को भ्रूमध्यनेत्र द्वारा निकाल कर उस बाह्य अग्नि में मिलाकर कुण्ड में उसका संपात करना चाहिये।।९।।

इन्धनैराच्छादनम्

कवचमन्त्रेण इन्धनैराच्छाद्य ।।१०।।

कवचमन्त्रेण 'हुं' इत्यनेन।।१०।।

कवचमन्त्रेण इस तृतीयान्त प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि, इस बीज मन्त्र में आच्छादन के साधकतमत्व की व्याप्ति है। इसके द्वारा आच्छादित होना एक रहस्यभरा आध्यात्मिक प्रयोग है।।१०।।

अथोपस्थानमाह

अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्।
सुवर्णवर्णमनिलं समिद्धं विश्वतोमुखम्।। इत्युपस्थाय।।११।।

उपस्थानं नाम अग्नेरपरभागे कृताञ्जलेस्तिष्ठतो मन्त्रपाठः ।।११।।

'मैं प्रज्वलित अग्नि की वन्दना कर रहा हूँ। अग्नि जातवेद (जातवेदस्) है। यह ज्ञानरूप है। यह हुताशन है। दी हुई आहुतियों का प्राशन कर देवताओं तक पहुँचाता है। यह सोने के समान सुन्दर है। इसे अनल कहते हैं। अच्छी तरह प्रज्वलित है और चारों ओर से इन्धन को ग्रास बनाकर आत्मसात् करता है।' इस श्लोकरूप मन्त्र से इस तरह प्रार्थना करते हुए उसके पास अञ्जलिबद्ध बैठने की मुद्रा का नाम ही उपस्थान है।।११।।

भूमौ मृण्मयपात्रे पूर्वम्, आग्नेयान्यतमदिक्षु स्थापिताग्नेः कुण्डे प्रक्षेपार्थम् उत्थापने मन्त्रमाह—

'उत्तिष्ठ हरितपिङ्गल लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय मे देहि दापय स्वाहा' इति वह्निमुत्थाप्य ।।१२।।

एतेन ॐ वैश्वानरेति, बहिर्निर्गमय्य कुण्डे प्रक्षेपात् प्राग् अर्थक्रमेण पाठक्रमं बाधित्वा प्रयोगानुष्ठानकाले पाठः, उत्थापनस्य प्रक्षेपपूर्वकालिकत्वात्।।१२।।

यह मन्त्र अग्नि के उत्थापन का है। उत्थापन वह क्रिया है, जो प्रक्षेप के पहले सम्पन्न होती है। शास्त्र में एक नीति ऐसे अवसरों पर अपनायी जाती है। वह है—'पाठक्रमेण अर्थक्रमो बलीयान्'। इसलिये इस मन्त्र से अग्नि को उठाकर ॐ वैश्वानर (सूत्र-९) इस मन्त्र से प्रक्षेप करना उचित है। मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है।।१२।।

प्रज्वालनमन्त्रमाह

चित्पिङ्गल हन हन दह दह पच पच सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा इति प्रज्वाल्य ।।१३।।

प्रज्वालनं वेणुधमन्या 'मुखेनाग्निं नोपधमेत्' इति श्रुतेः।।१३।।

बाँस की धमनी (फोंफी) अर्थात् पतले बाँस की एक पर्वमयी या गाँठों के भीतर छेद कर २-३ पर्वमयी भी बनायी जाती है। उसी से आग को प्रज्वलित किया जाता है। श्रुति कहती है कि, अग्नि को मुह से नहीं फूँकना चाहिये। इसी परम्परा के अनुसार आग को धमनी से प्रज्वलित करना उचित है। मन्त्रार्थ स्पष्ट है।।१२।।

उत्पन्नाग्नेः संस्कारानाह

षट्तारवाचो नमोमन्त्रेण पुंसवनसीमन्तजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौलोपनयनगोदानविवाहकर्माण्यमुकाग्नेरमुककर्म कल्पयामि नम इति विधाय ।।१४।।

षट्तारवाच उक्ताः। नमोमन्त्रेण नमोऽन्तमन्त्रेण। स्वयमेव नमोऽन्तमन्त्रं विवृणोति—अमुकेत्यादिना। इत्थं च प्रथमं षट्तारी तत ऐं, तत इष्टदेवतानाम, ततोऽग्निशब्दः, षष्ठ्यन्तः पुंसवनादिकर्मनाम, ततोऽग्निशब्दः षष्ठ्यन्तः पुंसवनादिकर्मनाम द्वितीयान्तं, ततः कल्पयामीति।।१४।।

कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि का संस्कार भी आवश्यक होता है। सूत्र में पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, गोदान और विवाह का सनामग्रहण उल्लेख है। इन संस्कारों के लिये मन्त्र का प्रयोग करना आवश्यक है। सूत्रकार मन्त्र का निर्देश भी कर रहे हैं। उनके अनुसार सर्वप्रथम षट्तारी का प्रयोग करना चाहिये। षट्तारी में त्रितारी और कुमारी दोनों आते हैं। कई अवसरों पर इनके प्रयोग किये गये हैं। वस्तुतः त्रितारी में 'ऐं ह्रीं श्रीं' ये बीजत्रितय आते हैं। इसी तरह कुमारी में 'ऐं क्लीं सौः' ये तीन बीज आते हैं। इन दोनों को मिलाकर षट्तारी बीज मन्त्र बनते हैं। पहले षट्तारी इसके बाद वाग्भव बीज 'से' और इसके बाद अग्नि में षष्ठी विभक्ति लगाकर पुंसवन आदि संस्कारों के नाम लेने चाहिये। उसके बाद 'कर्म कल्पयामि नमः' बोलकर संस्कार सम्पन्न करना चाहिये। इस तरह 'ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं हुताशनस्य पुंसवनकर्म कल्पयामि नमः' यह मन्त्र बनता है। इसी क्रम में सभी संस्कारों के मन्त्र बनते हैं। इनसे अग्नि का संस्कार होता है।।१४।।

परिषेचनादि

परिषिच्य परिस्तीर्य परिधाय ।।१५।।

परिषिच्य अनुक्तत्वादैशानीमारभ्य प्रदक्षिणं समन्तात् सामान्याघ्र्योदकेन। परिस्तीर्य परिस्तरणे एकैकदिशि चत्वारो दर्भाः, 'अग्निं षोडशभिर्दर्भैः परितस्तु परिस्तरेत्' इति वचनात्। परिधाय श्रौतोक्तधर्मकसमिद्भिः प्राग्वर्जं त्रिषु। क्रमादिकं काष्ठनियमः श्रौतात् ज्ञेयः।।१५।।

सूत्रकार ने परिषेचन, परिस्तरण और परिधान रूप तीन कार्यों का निर्देश दिया है। इसमें विधि अनुक्त है। अतः गुरुपरम्परा के ही अनुसार ये तीनों कार्य सम्पन्न करने चाहिये—

१. परिषेचन—ईशानकोण से सामान्य अर्घ्यजल से करना उचित है। इसमें प्रदक्षिण क्रम अपनाने का निर्देश वृत्तिकार ने दिया है।

२. परिस्तरण—श्रुति का वचन है कि, चारों ओर मिलकर १६ दर्भों से अग्नि का परिस्तरण होना चाहिये। इसलिये चार-चार दर्भ चारों ओर परिस्तृत करना चाहिये। इसके बाद पूजा की जानी चाहिये।

३. परिधाय—इस प्रक्रिया में स्रुक्, स्रुवा इत्यादि का रखना, स्थाली आदि की प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिये। साथ ही कुण्ड में समिधाओं की किस प्रकार व्यवस्था हो, इसको ध्यान में रखना चाहिये। यज्ञ में ये विधियाँ प्रचलित हैं ।।१५।।

साधिताग्नेर्ध्यानम्

त्रिनयनमरुणाभं बद्धमौलिं सुशुक्लां
शुकमरुणमनेकाकल्पमम्भोजसंस्थम् ।।
अभिमतवरशक्तिस्वस्तिकाभीतिहस्तं
नमत कनकमालालङ्कृतांसं कृशानुम् ।।

इति ध्यत्वा ।।१६।।

यह अग्नि के ध्यान का मन्त्रात्मक श्लोक स्वयं ग्रन्थकार की स्वोपज्ञ रचना है। इससे अग्नि का ध्यान करना चाहिये। इसका अर्थ इस प्रकार है—तीन नेत्रों वाले, तामवर्णी, बद्धमौलि, शुक्ल अंशुकधारी, सुन्दर, अरुण कमल में अवस्थित, अभीष्टवरदमुद्रा, शक्ति, स्वस्तिक और अभय मुद्रा में विराजमान स्कन्ध पर शोभमान स्वर्णहार समन्वित हुताशन अग्निदेव को सभी प्रणति निवेदन करें।।१६।।

पूर्वकल्पिताग्निचक्राष्टकोणादिषु देवतास्थापनमाह

अष्टकोणे जातवेदसे सप्तजिह्वाय, हव्यवाहाय अश्वोदराय वैश्वानराय कौमारतेजसे विश्वमुखाय देवमुखाय नमः, इति षट्कोणे षडङ्गं, त्रिकोणे अग्निमन्त्रेण अग्निं पूजयित्वा ।।१७।।

अष्टकोणे अनुक्तत्वात् प्रागादिप्रादक्षिण्यक्रमः। षट्कोणेऽपि तथैव। अग्निमन्त्रेण 'अग्निं प्रज्वलितम्' इत्युपस्थापनमन्त्रेण, अग्निलिङ्गस्य स्पष्टत्वात्। पूजने च पञ्चोपचारैर्मन्त्रावृत्त्या ज्ञेयम् ।।१७।।

आठ कोणों में कहाँ किसकी पूजा की जाय, इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है। अतः परम्परा के अनुसार आचरण करना चाहिये। पूरब से अग्नि होते हुए ईशान तक के क्रमिक कोणों में पूजा का प्रचलन है। षट्कोण में भी यही क्रम अपनाना चाहिये। इसमें षडङ्ग पूजन करना होता है। त्रिकोण में अग्नि मन्त्र से पूजा की जाती है। पूजन में पञ्चोपचार विधि अपनायी जाती है।।१७।।

सप्तजिह्वाहुतीराह

हिरण्यायै, कनकायै, रक्तायै, कृष्णायै, सुप्रभायै, अतिरक्तायै, बहुरूपायै नम इत्यग्नेः सप्तजिह्वासु मूलशुद्धेनाज्येन सप्ताहुतीः कुर्यात् ।।१८।।

नम इति सर्वत्रानुषज्यते। मूलशुद्धेन मूलाभिमन्त्रणेन संस्कृतेन। अभिमन्त्रणं संख्यानुक्तेः सकृन्मूलेन। नमःपदोत्तरं स्वाहायोगः, होमरूप-त्वात्। 'स्वाहा होमे तर्पणे तु तर्पयामीति योजयेत'। इति योगिनीतन्त्र-वचनात् ।।१८।।

अग्नि की सात जिह्वायें प्रसिद्ध हैं। इनके नाम क्रमशः हिरण्या, कनका, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, अतिरक्ता, बहुरूपा हैं। इन सातों जिह्वाओं में मूलमन्त्र से अभिमन्त्रित आज्य (शुद्ध घी) से सात आहुतियाँ दी जानी चाहिये।

आहुति देते समय सूत्र में लिखित नमः शब्द के बाद 'स्वाहा' अवश्य जोड़ना चाहिये। एक नियम है कि, होम में स्वाहा और तर्पण में तर्पयामि क्रिया का योग करना चाहिये। यह योगिनीतन्त्र का निर्देश है।।१८।।

कर्मशेषमुपदिशति सूत्रान्तरेण

वैश्वानरोत्तिष्ठ चित्पिङ्गलैरग्नेस्त्रिधाहुतिं विधाय ।।१९।।

वैश्वानरोत्तिष्ठ चित्पिङ्गलैरिति पूर्वपठितैस्त्रिभिर्मन्त्रैरित्यर्थः। त्रिधात्रिवारम्। अनेन कर्माभ्यासः, नाहुतिभेदः। वैश्वानरादिमन्त्रत्रये स्वाहाकारोऽस्ति। तथाप्यन्यस्वाहाकारो होमकाले योज्यः। तदुक्तं शक्तिसङ्गमतन्त्रे—"मन्त्रान्ते या वह्निजात्या सा तु मन्त्रस्वरूपिणी। तदन्ते प्रत्युञ्जीत सा होमाङ्गतया मता"।।१९।।

इसी खण्ड के ९-१२ और १३वें सूत्रों में पठित तीन मन्त्रों से तीन बार आहुति देनी चाहिये। त्रिधा का तात्पर्य भेदमयी आहुति नहीं, अपि तु आहुतिरूप कर्म का अभ्यास मात्र है। एक विशेष तथ्य की ओर वृत्तिकार ने ध्यान आकृष्ट किया है। वह यह कि, उक्त तीनों मन्त्र स्वाहान्त मन्त्र हैं। शक्ति-संगम-तन्त्र कहता है कि, मन्त्रोक्त स्वाहा शब्द मन्त्र के अङ्ग हैं। आहुति करते समय स्वाहा पृथक् प्रयोग भी आहुति के अङ्गरूप में उचित है।।१९।।

अथ इष्टदेवतावाहनमाह

बहुरूपजिह्वायामिष्टां देवतामावाह्य पञ्चोपचारैरुपचर्य ।।२०।

आवाहनं पूजाप्रकरणोक्तसरण्या। पञ्चोपचारैर्गन्धादिभिः ।।२०।।

वस्तुतः जहाँ तक पाँच उपचारों का प्रश्न है— ये गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य में ही चरितार्थ हो जाते हैं।।२०।।

चक्रदेवीनामाहुतयः

सर्वासां चक्रदेवीनामेकाहुतिं हुत्वा, नमोऽन्तान् पादुकान्तान् शेषान् मन्त्रान् स्वाहान्तान् विधाय जुहुयात्।।२१।।

सर्वासामिति तत्तदावरणदेवताषडङ्गौघत्रयनित्याऽऽदीनां मध्ये यस्मिन् पूजाप्रकरणे यावत्यो विहितास्तासां सर्वासामित्यर्थः। द्रवस्यानुक्तत्वाद् आज्यम्। नमोन्तान् इति ये च नमोऽन्ता बाणमन्त्रा वशिन्यादिमन्त्राश्च पादु-कान्ता मन्त्रा गुरुपादुकामन्त्रादयः, एतदुभयभिन्नाः केवलं नाम्नैवोद्धृताः। अणिमासिद्ध्यादयः शेषाः, एतान् सर्वान् स्वाहान्तान् कृत्वा तेन होतव्य-मित्यर्थः। श्रीक्रमे पञ्चदशनित्यानन्तरं सर्वरोगहरचक्रे कामेश्वर्याद्यनन्तरं मूलेन पूजनवन्न होमः। तेन तस्याः प्रधानदेवतारूपत्वेन तस्या आहुतेर्वक्ष्यमाणत्वात् ।।२१।।

सभी चक्र-देवियों के लिये (सप्तमसूत्रोक्त) एक-एक आहुति देने का निर्देश सूत्रकार दे रहे हैं। पुनः नमः अन्त वाले बाणमन्त्र और पादुकान्त शेष मन्त्रों के साथ स्वाहा लगाकर हवन करना चाहिये। ये दो प्रकार के भेदयुक्त मन्त्र यहाँ निर्दिष्ट हैं। इन्हीं मन्त्रों से स्वाहान्त बनाकर हवन करना चाहिये।।२१।।

एवमग्निसंस्कारानुक्त्वा प्रधानहोमधर्मानुपदिशति

अथ प्रधानदेवतायै दशाहुतीर्जुहुयात् ।।२२।।

अथेत्यनेन अङ्गदेवताहोमविच्छेदः सूचितः। एतावत्पर्यन्तं सर्वप्रयोग-साधारणम्। पुरश्चरणाङ्गहोमः काम्यहोमो वा सर्वोऽप्येतदुत्तरं भवति ।।२२।।

अथ अव्यय का प्रयोग पूर्ववर्ण्य के विच्छेद और नव वर्णनीय के आरम्भ का सूचक है। इस सूत्र में अङ्गदेवताओं से सम्बद्ध होम की समाप्ति की सूचना और प्रधान देवता को दश आहुति देने का निर्देश है। पुरश्चरणाङ्ग होम या काम्य होम इसके बाद ही होते हैं।।२२।।

काम्यहोमविधिः

यदि काम्यमीप्सेदभीष्टदेवतायै विज्ञाप्य सङ्कल्पं कृत्वैतावत्कर्म-सिद्ध्यर्थमेतावदाहुतीः करिष्यामीति ।।२३।।

विज्ञाप्य प्रार्थ्य, एतावत्कार्यसिद्ध्यर्थम् अमुकफलसिद्ध्यर्थम् एता-वत्कर्मामुकसंख्याकाहुतीः, कार्यतारतम्येन आहुतिसंख्यातारतम्यं ज्ञेयम्।।२३।।

काम्य कर्म करने की इच्छा उत्पन्न होने पर इसकी सूचना इष्टदेवता को देनी चाहिये। विना प्रार्थना के काम्यकर्म नहीं करना चाहिये। आज्ञा लेकर सर्वप्रथम संकल्प करना उचित है। काम्यकर्मों में फलाकांक्षा स्वाभाविक है। फलानुसार आहुति की संख्या का निर्धारण करना पड़ता है। इस तारतम्य के अनुसार काम्यकर्म करे।।२३।।

ससाधनं होमं विधत्ते

तिलाज्यैः शान्त्या, अन्नेनान्नायामृताय, समिच्चूतपल्ल-वैर्ज्वरशमाय, दूर्वाभिरायुषे, कृतमालैर्धनाय, उत्पलैर्भोगाय, बिल्वदलैराज्याय, पद्मैः साम्राज्याय, शुद्धलाजैः कन्यायै, नन्द्यावर्त्तैः कवित्वाय, वञ्जुलैः पुष्ट्यै, मल्लिकाजातीपुन्नागैर्भाग्याय, बन्धूक-जपाकिंशुकबकुलमधुकरैरैश्वर्याय, लवणैराकर्षणाय, कदम्बैः सर्ववश्याय, शालितण्डुलैर्धान्याय, कुङ्कुमगोरोचनादिसुगन्धैः सौभाग्याय, पलाशपुष्पैः कपिलाघृतैर्वा तेजसे, धत्तूर-

कुसुमैरुन्मादाय, विषवृक्षैर्निम्बश्लेष्मातकविभीतकसमिद्भिः शत्रुनाशाय, निम्बतैलाक्तलवणैर्मारणाय, काकोलूकपक्षैर्विद्वेषणाय, तिलतैलाक्तमरीचैः कासश्वासनाशाय जुहुयात्।।२४।

तिलाज्यैसतिलसहिताज्यैः। यावत्संख्याज्याहुतयस्तावत्संख्याक-तिलाहुतयः कार्या इति निष्कर्षः। शान्त्यै शान्तिर्नाम उत्पत्स्यमानानिष्ट-प्रागभावसंरक्षणम्। समिधश्च यज्ञीयवृक्षसम्बन्धिन्यो ग्राह्याः। दूर्वाः प्रसिद्धाः। कृतमालैः आरेवतैः। 'आरेवतव्याधिघातकृतमालसुपर्णकाः' इत्यमरः। शुद्धलाजैः शुद्धत्वं गृहे निर्मितत्वम्। वञ्जुलैः चित्रकृद्भिः, 'वञ्जुलश्चित्रकृत्त्वाथ' इत्यमरः। बन्धूकः किंशुकः पलाशः। मधुकरैरिति योगेन मधुपुष्पाणां ग्रहणम्। श्लेष्मातकः शेलुः। विभीतकः अक्षः। विषवृक्षसमिधो निम्बादिसमिद्भिः सह विकल्प्यन्ते। शत्रुनाशकर्मणि द्वयोः तुल्यसाधनत्वम्। विद्वेषः स्वशत्रोर्यः प्रबलाश्रयभूतस्तेन साकम्।।२४।।

काम्य होम का निर्देश यह सूत्र करता है। इसमें उत्तम, मध्यम और नीच सभी काम्य कर्म गिनाये गये हैं। साधना की दृष्टि से ये सभी हेय हैं। मात्र उपासना से सभी सिद्धियाँ समुपलब्ध हो सकती हैं; किन्तु सामान्य जन इनका भी प्रयोग करते हैं। ये सभी प्रयोग ऐसे ही लोगों के लिये हैं। जैसे—

क्रमसंख्या	**अभीष्ट काम्यकर्म**	**हवनयोग्य समिधाप्रकार**
१.	शान्ति	तिल और आज्य
२.	अमृत अन्न	अन्न
३.	ज्वरनाश	चूतपल्लव
४.	आयुष्य	दूर्वा
५.	धन	कृतमाल
६.	भोग	उत्पल
७.	राज्यप्राप्ति	बिल्वपत्र
८.	साम्राज्य-रक्षा	पद्म (रक्तकमल)
९.	कन्याप्राप्ति	शुद्ध लावा

१०.	कवित्व	नन्द्यावर्त्त (तगर)
११.	पुष्टि	वञ्जुल (अशोक)
१२.	भाग्य	मल्लिका, चमेली, पुन्नाग
१३.	ऐश्वर्य	बन्धूक, जपा, किंशुक, बकुल और मधूक (महुवा)
१४.	आकर्षण	लवण
१५.	सर्ववशीकरण	कदम्बपुष्प
१६.	धान्यवृद्धि	शालितण्डुल
१७.	सौभाग्य-संवर्धन	कुङ्कुम-गोरोचन
१८.	तेजोवृद्धि	पलाशपुष्प अथवा कपिला घी
१९.	उन्माद	धतूर का फूल
२०.	शत्रुनाश	विषवृक्ष, नीम, श्लेष्मातक (बहुआर), विभीतक (भिलावा)
२१.	मारण	नीमतेल में सने नमक
२२.	विद्वेषण	काक और उलूक पक्ष
२३.	कासश्वासनाश	तिलतेल में सने मरिच (काली मिर्च)

इन त्रयोविंश काम्य पूर्त्ति के लिये सामने दिये गये पुष्प या समिधाओं से हवन करना चाहिये।।२४।।

अथोत्तराङ्गमाह (बलिदानम्)

बलिं प्रदाय।।२५।।

बलिदानं तत्तत्पूजाक्रमोक्तविधिना।।२५।।

विशिष्ट-विशिष्ट पूजा के अन्त में विविध प्रकार के बलि विधान शास्त्रों में वर्णित हैं। उन्हीं के अनुसार यहाँ भी बलि करनी चाहिये।।२५।।

महाव्याहृतिहोममाह

१. ॐ भूरग्नये च पृथिव्यै च महते च स्वाहा।

२. ॐ भुवो वायवे चान्तरिक्षाय च महते च स्वाहा।

३. ॐ सुवरादित्याय च दिवे च महते च स्वाहा।

४. ॐ भूर्भुवस्सुवश्चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यश्च दिग्भ्यश्च महते च स्वाहा। इति चतुर्भिर्मन्त्रैर्महाव्याहृतिहोमं कृत्वा।।२६।।

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः (सुवः) (ॐभूर्भुवस्सुवः) इनको महाव्याहृतियाँ कहते हैं। ये तीन होती हैं। इनसे सूत्रानुसार हवन करना चाहिये।।२६।।

ब्रह्मार्पणाहुतिमाह

इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नावस्थासु मनसा, वाचा, कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत् स्मृतं, यदुक्तं, यत्कृतं तत् सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा इति ब्रह्मार्पणाहुतिं कृत्वा।।२७।।

प्राण, बुद्धि और देह इन तीनों से अणु पुरुष बद्ध है। इसमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। इससे प्रभावित पुरुष मन, वाणी और कर्म के संस्कार ग्रहण करता है। मन से स्मरण करता है। वाणी से बोलता है और तदनुसार हाथ, पैर, उदर, शिश्न इन चारों से काम करता है। निष्काम भाव से इनका समर्पण ब्रह्म में होना ही चाहिये। ब्रह्मार्पण सर्वश्रेयस्कर कार्य माना जाता है। अन्त में यह करना ही चाहिये।।२७।।

अग्निदेवतयोरुद्वासनमाह

चिदग्निं देवतां चात्मन्युद्वासयामि नम इत्युद्वास्य ।।२८।।

उद्वासनं खेचरीमुद्रया।।२८।।

पहले आवाहित चिदग्नि और आवाहित देवता का उद्वासन कर देना चाहिये। उद्वासन की यह प्रक्रिया खेचरी मुद्रा द्वारा सम्पन्न होती है।।२८।।

भस्मधारणादिकमाह

तद्भस्मतिलकधरो लोकसम्मोहनकरः सुखी विहरेत्। इति शिवम्।।२९।।

तद्भस्म अग्नेर्भस्म। अग्निविसर्जनानन्तरं परिस्तरणपरिधीना-मपि विसर्गः। प्रतिपत्तिसंस्कारस्यानुक्तत्वात्। शिवमिति व्याख्यातम्।।२९।।

।। इति श्रीपरशुरामकल्पसूत्रे श्रीरामेश्वरनिर्मितायां श्रीपरशुरामकल्पसूत्रवृत्तौ सौभाग्योदयनाम्न्यां (मुख्यांशमात्रायां) होमविधिर्नाम नवमः खण्डः सम्पूर्णः।।९।।

भस्म धारण एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसमें सभी पाप भस्मसात् हो जाते हैं। लोग उसे देखकर प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार विश्वविहार सिद्ध हो जाता है।।२९।।

।। श्रीरामेश्वरकृत मुख्यांश-सौभाग्योदयवृत्तिसहित
डॉ. परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य-समन्वित
श्रीपरशुरामकल्पसूत्र का होमविधि नामक नवम खण्ड परिपूर्ण ।।९।।

।। शुभं भूयात्।।

सर्वसाधारणक्रमः

[दशमः खण्डः]

अथ सामान्यकर्माधिकारः

प्रथमखण्डे दीक्षानन्तरं सर्वमन्त्राधिकारी भवतीत्युक्तत्वात् श्रीत्रिपुरसुन्दर्युपास्तेर्निष्कामरूपतया यदा सङ्कटे कामनावशात् सूर्यविष्णुभैरवाद्युपास्तिप्रसक्तिस्तदितिकर्त्तव्यताज्ञानार्थं तन्त्रान्तरोपास्तिं सूत्रानुयायी मा करोतु, इति तदुपासनासिद्धये किञ्च रश्मिमालादिषु प्रत्येकं मन्त्राणां फलश्रवणात् तत्तत्कामनया तत्तदुपास्तिप्रसक्तौ, अपि च कश्चन उपासनायां श्रद्धावान् ललितोपास्तौ च अनधिकारी तस्य शिवविष्ण्वाद्युपासनां प्रवर्त्तयतु इति परमकृपालुः श्रीपरशुरामः सर्वसाधारणीम् उपासनासरणिं दर्शयति। अथातः सर्वेषां मन्त्राणां सामान्यपद्धतिं व्याख्यास्यामः।।१।।

अथ त्रिपुरसुन्दर्य्युपास्तिप्रकारदर्शनानन्तरम्। अतोऽवतरणिकायामुक्तहेतोः। सर्वेषां गणपतिललिताश्यामावार्त्तालीभिन्नानां यावतां मन्त्राणाम्। सामान्यपद्धतिं साधारणसरणिम्।।१।।

अथ अव्यय त्रिपुरसुन्दरी की उपासना के बाद के क्रम का निर्देशक है। इस सूत्र में सर्वसाधारण-क्रम विषयक उपासना की व्याख्या की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। वास्तव में दीक्षा के बाद सभी मन्त्रों का अधिकार प्राप्त हो जाता है। यह भी निश्चित तथ्य है कि, माँ की उपासना निष्काम रूप होती है। ऐसी प्रवृत्ति काम्य कर्म की ओर ही यदि झुकने लगे, तो उस दशा में साधक क्या करे? संमर्शी सूत्रकार इसी का संविधान इस खण्ड में दे रहे हैं। इसीलिये इस खण्ड

का नाम ही सर्वसाधारण-क्रम रखा गया है। इसमें गणपति, ललिता, श्यामा, वार्त्ताली मन्त्रों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया गया है।।१।।

अथ श्यामाक्रमे पठितानि कानिचिदङ्गानि अतिदिशति वचनेन

श्यामावत् सन्ध्याद्यर्घ्यशोधनपर्यन्तं न्यासवर्जम् ।।२।।

सन्ध्यादीत्यनेन सन्ध्यातः प्राक् पठितानां व्यावृत्तिः। अर्घ्यशोधन-पर्यन्तम् इत्यनेन तदग्रिमव्यावृत्तिः। उभयमध्यतनानां मध्ये न्यासवर्जम् इत्यनेन तद्व्यावृत्तिः। अर्घ्यशोधनम् इत्यविशेषोक्त्या विशेषार्घ्यशोधनान्तं कार्यम्। तेन ब्राह्मे मुहूर्त्ते यत्कृत्यं स्नानदन्तधावनविंशतिगण्डूषादि सर्वं निवर्त्तते।।२।।

सन्ध्या से लेकर अर्घ्यशोधन पर्यन्त सारे कार्य श्यामा की तरह किये जाने चाहिये। सूत्रकार ने इसके बीच में आये न्यास का वर्जन कहकर मध्य के अन्य कार्य ही करणीय हैं, ऐसा इङ्गित किया है।।२।।

सर्वसाधारणन्यासमाह

अनुक्तषडङ्गस्य षड्जातियुक्तमायया षडङ्गम्।।३।।

अनुक्तेत्यनेन अज्ञातमप्युपलक्षणीयम्। इत्थं च यस्य मन्त्रस्य षडङ्गमुक्तम्, तेन स्वषडङ्गे श्यामाक्रमे न्याससमये न्यसेत्। यस्यानुक्तमज्ञातं वा तत्र षड्जातियुक्तमायया षडङ्गन्यासः। षड्जातिमाया च 'ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः' इति क्रमेण षडङ्गेषु योज्यम्।।३।।

वृत्तिकार के अनुसार अनुक्त शब्द से अज्ञात अर्थ भी लगाना चाहिये। इस प्रकार जिस मन्त्र का षडङ्ग कहा गया है, उस स्थान पर श्यामा क्रम में अपने ६ अङ्गों पर न्यास करना चाहिये। जिसका षडङ्ग अनुक्त या अज्ञात हो वहाँ षड्जातियुक्त माया (ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः) से न्यास करना चाहिये।।३।।

चक्रनिर्माणमाह

बिन्दुत्रिषडरनागदलचतुष्पत्रचतुरस्रमयं चक्रम्।।४।।

अष्टदलं चतुर्दलं, पद्मद्वयं शेषं स्पष्टम्।।४।।

मध्य में बिन्दु, तीन षट्कोणयुक्त भाग के चारों ओर अष्टदल और पुनः चतुर्दल, दो कमल एक चतुष्कोण (चतुर्भुज सम) के अभ्यन्तर भाग में बनाकर चक्र पूरा करना चाहिये।।४।।

षडावरणीपूजा

बिन्दौ मुख्यदेवतेच्छाज्ञानक्रियाशक्तयस्त्र्यस्त्रे। षडरे तत्तत्षडङ्गान्यष्टदले ब्राह्म्याद्याः, चतुर्दले गणपति-दुर्गा-वटुकक्षेत्रेशाश्चतुरस्त्रे दिक्पालाः।।५।।

बिन्दौ मुख्यदेवता। द्वितीयावरणम् इच्छेति। क्रमः स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन। तृतीयमाह—षडर इति। क्रमः पूर्ववत्। चतुर्दले पञ्चमावरणे। चतुरस्त्रेऽपि तथैव प्रागादीशानान्तम् ऊर्ध्वम् अधश्च ज्ञेयम्। एवं षडावरणीपूजा।।५।।

सर्वत्र प्रधान देवता की पूजा अन्त में होती है; किन्तु सूत्र में प्रधान देवता की बिन्दु में पूजा का निर्देश है। द्वितीय आवरण में इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों की पूजा करनी चाहिये। तृतीय आवरण में षडर पूजा सम्पन्न होती है। इसमें अग्नि से ईशानान्त पूजन क्रम में ब्राह्मी आदि आठ देवियों की पूजा करनी चाहिये। पाँचवें आवरण की पूजा चतुर्दल में की जाती है। छठें आवरण की पूजा दिक्पालों की पूजा होती है। पूर्व से ईशान कोण तक आठ दिक्पाल ऊर्ध्व और अधस्तात् मिलकर दश दिशाओं के दश दिक्पाल होते हैं।।५।।

सर्वमन्त्रेषु योज्यानि बीजान्याह

त्रितारीकुमारीभ्यां सर्वे क्रममन्त्राः प्रयोक्तव्याः।।६।।

त्रितारी श्रीक्रमोक्ता। कुमारी बाला।।६।।

त्रितारी 'ऐं ह्रीं श्रीं' और कुमारी 'ऐं क्लीं सौः' को कहते हैं। सभी क्रम मन्त्रों में इनका प्रयोग किया जा सकता है।।६।।

आवाहनादि-मन्त्राः

तत्तन्मूलेनावाहनं, कलामनुना बलिरनेन क्रमेणाहुतीः।।७।।

आवाहनमन्त्रमाह—तत्तदिति। बलिदानमन्त्रमाह—कलेति। कलामनुर्व्याख्यातः। अत्र बलिदानं पात्रोद्वासनदेवतोद्वासनादीनामुपलक्षणम्। आहुतिर्यजनं पूजनम्। सर्वदेवानां तत्तन्मन्त्रजपः श्रीक्रमोक्तजपसमये कार्य इति सर्वसाधारणक्रमः।।७।।

एवं सामान्यक्रममुक्त्वा पुनः सिंहगुहावलोकनन्यायेन ललिताक्रमशेषमेव वक्तुं प्रक्रमते

अथ रश्मिमाला ।।८।।

रश्मिरिति प्रकाशापरपर्यायः। मालेति मन्त्रविशेषसंज्ञा। तदुक्तं नित्यातन्त्रे 'मन्त्रा एकाक्षराः पिण्डाः कर्त्तव्या द्व्यक्षरा मताः। बहुवर्षं समारम्भ नवार्णावधि बीजकाः।। ततो दशार्णमारभ्य यावत् विंशतिमन्त्रकाः। तत ऊर्ध्वं गता मालास्तासु भेदो न विद्यते।।' इत्थं च गायत्र्यादिमहापादुकान्तस्य प्रकाशकत्वाद् विंशतिवर्णाधिकत्वाच्च रश्मिमालेति वक्ष्यमाणमन्त्रकलापसंज्ञा।।८।।

रश्मि किरण को कहते हैं। किरणें प्रकाश की कारण हैं। अतः रश्मियाँ भी प्रकाश मानी जाती हैं। रश्मिमाला के सभी मन्त्र स्वयं प्रकाश और प्रकाशक होते हैं। माला शब्द भी पारिभाषिक है। बीस मन्त्रों से अधिक के समूह को माला मन्त्र कहते हैं। गायत्री सहित महापादुका मन्त्र को भी प्रकाशक और २० वर्णों से अधिक होने के कारण माला मन्त्र कहा जाता है।।८।।

तस्या विनियोगं च लंकाह

सुप्तोत्थितेनैषा मनसैकवारमावर्त्या।।९।।

एषा रश्मिमाला सुप्तोत्थितेन स्वारस्यात् प्रबोधव्यवहितोत्तरक्षण एव काल इति ज्ञाप्यते, तेन ब्रह्मरन्ध्रे गुरोर्ध्यानादिकं पूर्वोक्तम् एतदुत्तरमेवेति सिद्धम्। अत्र सुप्तोत्थितेनेति विशेषणस्य तथा गत्यभावाद् उत्थानानन्तरकालङ्गतामेव प्रतिपादयति।।९।।

नींद की अवस्था सुप्तावस्था होती है। सुषुप्ति का परित्याग ब्राह्ममुहूर्त में उपासक वर्ग स्वभावतः कर देता है। उसे प्रबोध का लक्षण कहते हैं। प्रबोध के अव्यवहितोत्तर रश्मिमाला मन्त्र का मानसिक आवर्त्तन होना चाहिये।

उस महत्त्वपूर्ण क्षण में इसके स्मरण से नया आयाम खुलता है। इसके तुरत बाद ब्रह्मरन्ध्र में गुरु के ध्यान का भी विधान है। यह प्रातःकालीन कृत्य है।।९।।

अथ रश्मिमालासंज्ञकान् पुंमन्त्रान् दर्शयति

१. प्रणवो भूर्भुवस्सुवस्तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। इति त्रिंशद्वर्णा गायत्री।

२. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कुरु मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये विद्विषो विमृधो जहि।। स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्र पुर एतु नः स्वस्तिदा अभयङ्करः। इत्यैन्द्री सप्तषष्ठ्यर्णा सङ्कटे भयनाशिनी।

३. प्रणवो घृणिः सूर्य आदित्य इत्यष्टार्णा भयनाशिनी।

४. प्रणवः केवलो ब्रह्मविद्या मुक्तिदा। सौरी तेजोदा।

५. तारः परोरजसे सावदोम् इति नवार्णा तुर्यगायत्री स्वैक्यविमर्शिनी। रश्मिपञ्चकमेतन्मूलहृत्फालविधिबिल-द्वादशान्तबीजतया विमृष्टव्यम्।।१०।।

'त्रिंशद्वर्णा गायत्री' इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणै रश्मिमालाऽवयवमन्त्रसंज्ञा दर्शिता। ऐन्द्री इन्द्रदैवत्या। सङ्कटे दावाग्निव्याघ्रादिप्राणसङ्कटे। तेजोदातेजः स्वदर्शनेन परेषां स्वस्मिन् उत्कर्षप्रतिपादिका शक्तिः, तस्या दायिनी। प्रणवः केवलः प्रणवोच्चारणमेव। ब्रह्मविद्या ब्रह्मविद्याप्रतिपादिका। तारः प्रणवः। तदुक्तं विश्वामित्रकल्पे—

गायत्र्यास्तुर्यपादोऽयं त्रिपदाया ह्युदाहृता। इति। स्वैक्यविमर्श आत्मरूपं ज्ञानम्। तत्प्रदायिका। एतत्-तत्सवितुरिति गायत्रीमारभ्य गायत्रीतुर्यपादपर्यन्तं यद् रश्मिपञ्चकं रश्मीनां प्रकाशशक्तिमत्वाद् अमीष्वपि तत्त्वे रश्मिशब्देन व्यवहारः। क्रमेण मूले मूलाधारे हृदि, ललाटे, विधिबिले ब्रह्मरन्ध्रे, द्वादशान्ते विमृष्टव्यं भावयितव्यम्।।१०।।

रश्मिमाला के अन्तर्गत आने वाले मन्त्र रश्मिपञ्चक मन्त्र कहलाते हैं। ये ब्रह्मरूप स्वप्रकाश तत्त्व की वागात्मक रश्मियाँ हैं। इनका साक्षात्कार मन्त्रद्रष्टा मनीषी ऋषियों ने किया है। ये पाँच हैं—

१. गायत्री मन्त्र—इसमें २४ अक्षर होते हैं। जब ओङ्कार भूः भुवः और सुवः रूप छः वर्णों को इसके साथ लगाकर बोलते हैं, तो यह तीस वर्णों वाली हो जाती है। यह मूलाधार की बीजरूप से विमृष्टव्य है।

२. ऐन्द्री रश्मि—यह इन्द्रदैवत्या रश्मि है। इन्द्र एक वैदिक देवता है। यह सङ्कटों से रक्षा करता है। श्रीपाददामोदर सातवलेकर ने 'इन्द्रशक्ति का विकास' एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें इन्द्रशक्ति का विशद विवेचन है। यह रश्मि ६७ वर्णों में पूर्ण होती है। ऋग्वेद का यह मन्त्र है। वहाँ से इसकी व्याख्या देखनी चाहिये। इसको हृदय बीज के रूप में विमृष्ट करना चाहिये।

३. सौरी रश्मि—इसके विमर्श से स्वात्म में तैजसिकता का विकास होता है। इसमें प्रणव, घृणि, सूर्य और आदित्य रूप शब्दों के आठ वर्ण सौरी दिव्यता के प्रतीक वर्ण हैं। यह आज्ञा बीज रूप से ही विमृश्य है।

४. प्रणवरश्मि—यद्यपि गीता इसे एकाक्षर ब्रह्म ही मानती है। फिर भी वर्णात्मिका विद्या होने के कारण रश्मि भी है। इसे ब्रह्मरन्ध्र में विमृष्ट करना चाहिये।

५. तुर्यगायत्री—नवार्णा विद्या है। चिदैक्य-समापत्ति की मूल हेतु है। गायत्री के चतुर्थ चरण के रूप में इसका जप करना गायत्री साधक के लिये अनिवार्य माना जाता है। आठ माला गायत्री मन्त्र जप कर एक माला इस मन्त्र का जप करना विश्वामित्रकल्प का निर्देश है। इसका उच्चारण नहीं किया जाता। इसे द्वादशान्त बीज रूप से विमृष्ट करते हैं। शरीरस्थ जिन चक्रों में विमर्श करने का निर्देश है, उनका ज्ञान साधक को होना चाहिये। विशेष रूप से ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त शब्दों का ज्ञान और प्रयोग रूप से वहाँ तक पहुँचना साधना का विषय है। इसे सद्गुरु से जानना चाहिये।।१०।।

चाक्षुष्मतीविद्यादि द्वितीयं रश्मिपञ्चकम्

सूर्याक्षितेजसे नमः। खेचराय नमः। असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय। उष्णो भगवान् शुचिरूपः। हंसो भगवान् शुचिप्रतिरूपः।

विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं हिरण्मयं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। ॐ नमो भगवते सूर्याय अहोवाहिनि वाहिन्यहो वाहिनि वाहिनि स्वाहा।।

वयस्सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियं मेधा ऋषयो नाथमानाः।
अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मिन्निधयेव बद्धान्।।
पुण्डरीकाक्षाय नमः। पुष्करेक्षणाय नमः।
अमलेक्षणाय नमः। कमलेक्षणाय नमः।
विश्वरूपाय नमः। श्रीमहाविष्णवे नमः।

इति षोडशमन्त्रसमष्टिरूपिणी दूरदृष्टिप्रदा चाक्षुष्मती विद्या।।११।।

सूर्येत्यारभ्य घृणिं जातवेदसम् अप्रतिरूप इति पर्यन्तं सप्तवाक्यानि। सप्तमन्त्राः। ततो हिरण्मयं विश्वरूपम् इत्यारभ्य एष सूर्य इत्यन्तोऽष्टमः। ॐ नम इत्यारभ्य स्वाहान्तो नवमः। वयस्सुपर्णा इत्यारभ्य बद्धान् इत्यन्तो दशमः। तदग्रिमाणि नमोऽन्तानि षट् वाक्यानि प्रत्येकं षण्मन्त्राः। इत्थं षोडशमन्त्राणां समष्टिः, तद्रूपिणी या प्रकृतविद्या सा उपासकानां दूरदृष्टिप्रदा द्वीपान्तरस्थं वस्त्वपि करस्थामलकवद् दृष्टिगोचरी करोतीति भावः।।११।।

वृत्तिकार ने प्रारम्भ के सब वाक्यों के दो विकल्प रूप को स्वीकार किया है। १. सूर्य से प्रतिरूप पर्यन्त सात वाक्य हैं। २. विश्वरूप से एष सूर्यः तक आठवाँ वाक्य। ३. ॐ नमः से स्वाहा तक नवाँ वाक्य ४. वयः सुपर्णा से बद्धान् तक दशवाँ वाक्य। ५. पुण्डरीक से विष्णवे नमः तक छः मन्त्र। इस तरह १६ मन्त्रों की समष्टि वाली यह विद्या चाक्षुष्मती विद्या है। यह भी माला मन्त्र है। इसे उपनिषद् में परिगणित किया गया है।।११।।

द्वितीयपञ्चके द्वितीयमन्त्रमाह

प्रणवो गन्धर्वराज विश्वावसो मम अभिलषितामुकां कन्यां प्रयच्छ ततोऽग्निवल्लभेत्युत्तमकन्याविवाहदायिनी विद्या।।१२।।

अमुकेत्यत्र अभिलषितकन्यानामनिक्षेपः। नात्रोहः सर्वनाम्ना निर्देशात्, 'अदीक्षिष्टायं ब्राह्मणः' इतिवत्। अग्निवल्लभा स्वाहा।।१२।।

द्वितीय रश्मिमाला मन्त्र में सर्वप्रथम चाक्षुष्मती विद्या का प्रयोग था। उसका दूसरा उत्तम कन्याविवाहदायिनी विद्या से सम्बद्ध मन्त्र है। इसका मन्त्र 'ॐ गन्धर्वराज विश्वावसो मम अभिलषितामुकां कन्यां प्रयच्छ स्वाहा' है। इस मन्त्र में अमुकां की जगह अभीप्सित कन्या का नाम लगाकर बोलना चाहिये। यह सच्ची विद्या है। इसमें किसी प्रकार का तर्क व्यर्थ है।।१२।।

तृतीयमन्त्रमाह

तारो नमो रुद्राय पथिपदे स्वस्ति मा सम्पारय इति मार्ग-सङ्कटहारिणी विद्या।।१३।।

मार्गे यत् सङ्कटं चोरादिजनितं तस्य हारिणी।।१३।।

मन्त्र 'ॐ नमो रुद्राय पथिषदे स्वस्ति मा सम्पारय' इस विद्या को मार्गसङ्कटहारिणी विद्या कहते हैं। अभिघात या चोर आदि को मार्ग-सङ्कट कहते हैं। आधुनिक सङ्कटों का ओर-छोर नहीं। गाडियों की टक्कर, गोली, लूट, छिनैती और अपहरण आदि तो साधारण हैं। विष पिलाकर मार डालने की बातें भी सङ्कट में ही आती हैं। इस विद्या के प्रयोग से सारे सङ्कट नष्ट हो जाते हैं।।१३।।

चतुर्थमन्त्रमाह

तारस्तारे पदमुक्त्वा तुत्तारे तुरे शब्दं च दहनदयितेति जलापच्छमनी विद्या।।१४।।

पदमुक्त्वेति शब्दं चेति त्यक्त्वा शेषं 'ॐ तारे तुत्तारे तुरे' इति पठित्वा दहनदयितां पठेत्।।१४।।

इस विद्या का नाम जलापच्छमनी विद्या है। इसके प्रयोग से जल में डूबने से आदमी बच जाता है। मन्त्र 'ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा' तैरते समय इसका जप करना चाहिये।।१४।।

पञ्चममन्त्रमाह

अच्युताय नमः, अनन्ताय नमः, गोविन्दाय नम इति महाव्याधिविनाशिनी नामत्रयविद्या पञ्चमा रश्मयो मूलादिपरिकरतया प्रपञ्च्य ।।१५-१६।।

इमा उक्ता रश्मयः। परिकरतया तदाधारतया प्रपञ्च्या योज्या इत्यर्थः।।१५-१६।।

'अच्युताय नमः' 'अनन्ताय नमः' 'गोविन्दाय नमः' यह नामत्रयी विद्या है। इसमें ॐकार का प्रयोग नहीं किया गया है। इसके प्रयोग से महाव्याधियाँ भी निराकृत हो जाती हैं। व्याधि के स्थान पर पञ्चकोणीय प्रयोग करते रहना चाहिये। तथा इसे पढ़ते रहना चाहिये।।१५-१६।।

अथ तृतीयपञ्चके प्रथममाह

१. प्रणवः कमला भुवना मदनो ग्लाचतुर्दशपञ्चदशौ गं गणपतये वरयुगलं द सर्वजनं मे शब्दो वशमानयाग्निवामलोचनेति महागणपतिविद्या प्रत्यूहशमनी।।१७।।

कमला श्रीं, भुवना ह्रीं, मदनः क्लीं ग्लात् चतुर्दशः औ, पञ्चदशोऽनुस्वारश्च, मिलित्वा ग्लौं। वरयुगलं वरद्वयम्। ततः शब्दं इति शब्दं च त्यजेत्। अवशिष्टाः सर्वे वर्णा मन्त्रावयवाः। वह्निवामलोचना स्वाहा इति चरमं पठेत्। प्रत्यूहशमनी विघ्नविनाशिनी।।१७।।

यह तीसरे पञ्चक का पहला मन्त्र है। इसे महागणपति विद्या कहते हैं। यह विघ्नों का विनाश करती है। इसके कूट शब्दों में मन्त्र छिपा हुआ है। जैसे—

१. प्रणव = ॐ, २. कमला = श्रीं, ३. भुवना = ह्रीं, ४. मदन = क्लीं, ५. 'ग्ल' से चौदहवाँ स्वर = औ पन्द्रहवाँ = अनुस्वार, कुल मिलाकर ग्लौं,

६. ॄगं गणपतये, ७. वर युगल के साथ द अर्थात्—'वरद वरद सर्वजनं मे वशमानय', ८. वामलोचना = स्वाहा। यहाँ मन्त्र पूरा हो जाता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार बोलना चाहिये।

'ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरद वरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा'।

महागणपतिविद्या सिद्धविद्या है। इसके प्रयोग से सारे विघ्न नष्ट हो जाते हैं।।१७।।

द्वितीयमन्त्रमाह

२. प्रणवो नमः शिवायै प्रणवो नमः शिवायेति द्वादशार्णा शिवतत्त्वविमर्शिनी विद्या।।१८।।

शिवरूपं यत् चरमं तत्त्वं तस्य यो विमर्शः प्रकाशशक्तिः तत्सम्पादिनी।।१८।।

द्वादशार्णा शिवतत्त्वविमर्शिनी विद्या का अप्रतिम महत्त्व है। शिवैक्य-संभूतिप्रदायिनी यह विद्या नित्य जपनीय है। अभ्यास से इसका अनवरत उच्चार होने लगता है। विद्या का मान्त्रिक रूप इस प्रकार है।

'ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय'। इस महाशक्ति का महोच्चार तन, मन और अस्तित्व को पुलकित कर देता है।।१८।।

तृतीयमाह

३. प्रणवः काष्टमदक्षश्रुतिबिन्दुपिण्डो भृगुषोडशो मां पालयद्वन्द्वम् इति दशार्णा मृत्योरपि मृत्युरेषा विद्या।।१९।।

ककारादष्टमो जकारः, दक्षश्रुतिरुकारः, मातृकान्यासे तत्स्थानत्वात्। बिन्दुः प्रसिद्धः। त्रितयपिण्डः समुदायः 'जुं' इति। भृगुः सकारः षोडशो विसर्गः स इति। तदनन्तरं मां पालय पालय इति। मृत्योरपि मृत्युः, अपमृत्युनाशिनीत्यर्थः।।१९।।

कूट अक्षरार्थ १. प्रणव = ॐ, २. क से आठवाँ वर्ण = 'ज', ३. दक्षश्रुति = उकार, ४. बिन्दु = अनुस्वार। इनका पिण्ड समुदाय—'जुं',

५. भृगु = 'स', ६. षोडश सोलहवाँ अर्थात् विसर्ग = 'सः' उसके बाद मां पालय पालय दो बार लगाना चाहिये। पूरा मन्त्र 'ॐ जूं सः मां पालय पालय' यह दशार्ण मन्त्र है। परम्परा के अनुसार अन्त में 'सः जूं ॐ' से सम्पुटित मन्त्र जपा जाता है।।१९।।

चतुर्थमाह

४. तारः नमो ब्रह्मणे धारणं मे अस्त्वनिराकरणं धारयित्वा भूयासं कर्णयोः श्रुतं मा च्योढ्वं ममामुष्य ॐ इति श्रुतधारिणी विद्या।।२०।।

श्रुतस्य अधीतस्य धारिणी दृढसंस्कारजनिका विद्या।।२०।।

यह श्रुतधारिणी विद्या विद्यार्थी को पहले ही वेदारम्भ के समय देनी चाहिये। पूरा मन्त्र इस प्रकार बनता है—

ॐ नमो ब्रह्मणे धारणं मे अस्तु निराकरणं धारयित्वा भूयासं कर्णयोः श्रुतं मा च्योढ्वं ममामुष्य ॐ'। इसे ब्रह्मरन्ध्र में धारण करते हैं। इसके धारण से सारे अधीत की धारणा निश्चित रूप से होती है।।२०।।

पञ्चममाह

५. श्रीकण्ठादिक्षान्ता सर्वे वर्णा बिन्दुसहिताः मातृका सर्वज्ञताकरी विद्या।।२१।।

श्रीकण्ठः अकारः। तदादिक्षान्ता एकपञ्चाशद्वर्णा बिन्दुसहिता मातृका-वाच्या सर्वज्ञताकरी।।२१।।

अ से लेकर क्ष पर्यन्त सारे मातृका के वर्ण बिन्दु सहित ५० होते हैं। 'लं' यह एक अतिरिक्त वर्ण भी परम्परा में है। इसीलिये वृत्तिकार ने इसे एकपञ्चाशद्वर्णात्मिका लिखा है।

वस्तुतः ५० वर्णों की ही मातृका होती है। २० बार आवृति करने पर बिन्दु सहित सारे वर्ण १००० होते हैं। निशीथ संध्या में इन्हें सहस्रार के सहस्रदलों पर न्यस्त करना चाहिये। द्वादशान्त में ध्यान की तन्मयता होती है।।२१।।

रश्मयः पञ्च मूलादिरक्षाऽऽत्मकतया यष्टव्याः।।२२।।

मूलाधारादि-द्वादशान्तान्तरक्षाकर्त्र्य इमा यष्टव्या भावयितव्या इति भावः।।२२।।

ये पाँच रश्मियाँ मूलाधार, हृत् (अनाहत), फाल (ललाट, आज्ञाचक्र), विधिबिल, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त में क्रमिक रूप से भावित की जाती हैं। ये इन चक्रों की रक्षा करती हैं। रक्षिका होने के कारण इनका महत्त्व बढ़ जाता है। त्रिसन्ध्य इनका भावन करने वाला पुरुष प्रकाश के बोध के रहस्य को जान लेता है। इसलिये इस मौलिक तथ्य पर विशिष्ट ध्यान देना चाहिये।।२२।।

शिवादि-विद्यादि-चतुर्थरश्मिपञ्चकं तत्र चतुर्थपञ्चके प्रथमं मन्त्रमाह

शिवशक्तिकामक्षितिमायारवीन्दुस्मरहंसपुरन्दरभुवनापरामन्मथ-वासवभौवनाश्च शिवादिविद्या स्वस्वरूपविमर्शिनी।।२३।।

इयमेव लोपामुद्रोपास्या। इयम् अग्रिमा कामराजोपास्या च श्रीगुरुवक्त्रैकलभ्येति द्वयोरतिगोप्यत्वात् तद्विवरणं न करोमि। शिवादिविद्या हादिविद्या। स्वस्यात्मनः स्वरूपप्रकाशकर्त्री।।२३।।

यह लोपामुद्रा के द्वारा उपास्य विद्या है। यह अग्रिमा कामराज द्वारा भी उपास्य है। यह विद्या केवल गुरुमुखारविन्द से प्राप्त की जा सकती है। वृत्तिकार द्वारा भी यही विद्या उपास्य प्रतीत होती है। इसी हेतु इन्होंने इसकी व्याख्या नहीं की है। शिवादिविद्या ही हादिविद्या कहलाती है। यह स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार कराने में समर्थ है।।२३।।

(हसकल ह्रीं, हसकहल ह्रीं, सकल ह्रीं)

द्वितीयमाह

क्लशब्दाद्वामेक्षणबिन्दुरेकोऽनन्तयोनिबिन्दवोऽन्यः शङ्कर-परात्रिशूलविसृष्टयोऽपरश्चैत एव खण्डाः प्रतिलोमाः षट्कूटा सम्पत्करी विद्या।।२४।।

क्ल इति वर्णादुपरि वामेक्षणम् ईकारः, मातृकान्यासे तत्स्थानत्वात्। ततो बिन्दुः, क्लीम् इति सम्पन्नम्। अयमेकोंऽशः। अनन्तो हकारः। योनिः

ऐकारः, बिन्दुः (हैं) इत्यपरोंऽशः, शङ्करो हकारः, परा सकारः, त्रिशूलम् 'औं', विसृष्टिर्विसर्गः। हसौः इत्यपरोंऽशः। अत्र यद्यपि परापदेनैव विसर्गान्तलाभः, न तु केवलं सकारस्य तथापि त्रिशूलविसृष्ट्योः पृथगुक्त्या पराशब्देन तदेकदेशस्य सकारस्यैव ग्रहणम्। उक्तार्थेषु सर्वेषु प्रमाणमुक्तं प्राक्। एवमंशत्रयं क्रमेण पठित्वा व्युत्क्रमेण च पठेत्। इयं षट्कूटा सम्पत्करी विद्या।।२४।।

इस सूत्र में तीन अंशों का कूट प्रदर्शित है। इन तीन अंशों को पढ़कर पुनः उन्हीं का व्युत्क्रम पाठ इसे 'षट्कूटा' संज्ञा प्रदान करने का कारण है। यह सम्पत्करी विद्या है। इसके जप और भावन से संपदा एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

कूट अंश— १. क्ल + वामेक्षण (ई) = क्ली।
क्ली + बिन्दु = क्लीं प्रथम अंश।
२. अनन्त (ह) + योनि (ऐ) = है।
है + बिन्दु = हैं। द्वितीय अंश।
३. शङ्कर (ह) परा (स) + त्रिशूल (औ)
हसौ + विसर्ग = हसौः। तीसरा अंश।

इन तीनों का व्युत्क्रम— स्हौः हैं क्लीं। व्युत्क्रम के बाद तीन पहले के और तीन व्युत्क्रम कूट मिलाकर छः कूट हो जाते हैं। ये हृदय में भावनीय हैं।।२४।।

तृतीयमाह

समुच्चार्य सृष्टिनित्ये स्वाहेति, हमित्युक्त्वा स्थितिपूर्णे नमः, इत्यनलबिन्दुमहासंहारिणि, कृशेपदात्त्वणुशब्दः कालिफट् इत्यग्नि-बिन्दुसप्तममुद्राबीजं महानाख्ये अनन्तभास्करि, महाचण्ड-पदात्कालिफट् इति, सृष्टिस्थितिसंहारानाख्यानां प्रातिलोम्यं खेचरी-बीजं महाचण्डवाणी च योगेश्वरीति विद्यापञ्चकरूपिणी कालसङ्कर्षिणी परमायुःप्रदायिनी।।२५।।

उच्चार्येति त्यक्त्वा स्वाहान्ता प्रथमा विद्या। हमिति नमोऽन्तां द्वितीया विद्या। अनलबिन्दुतः फडित्यन्ता तृतीया विद्या। ततोऽग्निबिन्दुः रं, ततः फडित्यन्ता चतुर्थी विद्या। क्रमेणोक्तासु चतसृषु विद्यासु मध्ये सृष्टिस्थिति-संहाराख्या या आद्यास्तिस्रस्ताः प्रातिलोम्येन पठित्वा, खेचरीबीजमुक्तं पठित्वा वाणी च इत्येतावदंशमपहाय योगेश्वर्यन्तं पठेत्। इयं पञ्चमी विद्या। एवं पञ्चविद्यासमष्टिरूपिणी कालस्य मृत्योः सङ्कर्षिणी विनाशिनी परमायुः शतवर्षपर्यन्तं तत्प्रदेत्यर्थः।।२५।।

इसमें पाँच विद्याओं का उल्लेख है। वे इस प्रकार हैं—

१. सं से स्वाहा पर्यन्त = सं सृष्टिनित्ये स्वाहा।

२. हं से नमः पर्यन्त = हं स्थितिपूर्णे नमः।

३. अनलबिन्दु रं से फट् पर्यन्त = रं महासंहारिणि कृशे चण्डकालि फट्।

४. अग्निबिन्दु रं से फट् पर्यन्त = चतुर्थी विद्या—रं हस्ख्रें महानाख्ये अनन्तभास्करि महाचण्डकालि फट्।

५. आदि तीन विद्याओं का प्रतिलोम भाव से उच्चारण जैसे—रं महासंहारिणि कृशे चण्डकालि फट्, हं स्थितिपूर्णे नमः, सं सृष्टिनित्ये स्वाहा।

इसके तुरन्त बाद खेचरी बीज 'हस्ख्रें' पढ़कर और 'वाणी' शब्द छोड़कर 'महाचण्डयोगेश्वरि' तक पढ़ने से एक पंचविद्यात्मिका मन्त्रविद्या पूरी होती है। यह पञ्चविद्यासमष्टिरूपिणी कालसङ्कर्षिणी विद्या है। यह शतवर्षीया परमायु प्रदान करती है। इसका भावन आज्ञाचक्र में होता है।।२५।।

चतुर्थमाह

त्रितारी सप्तमुद्रा शिवयुक्शक्तिरहं युगलं मे तत्पञ्चैव लोम्यमिति शुद्धज्ञानमयी शाम्भवी विद्या ।।२६।।

त्रितारी उक्ता। अत्र सप्तममुद्रापदेन तद्बीजं शिवो हः, तेन युक्शक्तिः सौः, हसौः। अहं युगलम्। एवं क्रमेण पञ्चावयवाः। प्रथमावयवस्त्रितारी, हस्ख्रें द्वितीयः, हसौः तृतीयः, अहंयुगलं चतुर्थपञ्चमौ। एते पञ्चावयवा

विपरीतं पठिता चेत् शाम्भवी विद्या। शुद्धज्ञानं निर्विषयं तत्स्वरूपा केवल-ब्रह्मस्वरूपेत्यर्थः।।२६।।

१. त्रितारी—ऐं ह्रीं श्रीं। २. सप्तमी मुद्रा-हस्ख्रैं, ३. शिवयुक्तशक्ति ह रूपशिव से युक्त शक्ति—सौः ह्सौः। ४-५ अहंयुगल, ४. अहम् ५. अहम्।

इन पाँचों अवयवों का विपरीत पाठ। जैसे अहम् अहम् ह्सौः हस्ख्रैं श्रीं ह्रीं ऐं। यह इस तरह दश अवयवात्मक हो जाती है। इसे शाम्भवी विद्या कहते हैं। यह शुद्ध निर्विषय ब्रह्मज्ञानमयी विद्या मानी जाती है। ब्रह्मरन्ध्र में इसका भावन करना चाहिये।।२६।।

पञ्चममाह

भृगुत्रिशूलविसृष्टयः पराविद्या।।२७।।

भृगुः सः, त्रिशूलम् औ, विसृष्टिः विसर्गः, मिलित्वा पराविद्या भवति।।२७।।

स् + औ + : विसर्ग। तीनों को मिलाने से 'सौः' बीजमन्त्र बनता है। यह पाँचवाँ मन्त्र है। इसे परा विद्या कहते हैं। द्वादशान्त में इसका भावन होना चाहिये।।२७।।

पञ्चेमा रश्मयो मूलाद्यधिष्ठानतया परिकल्पनीयाः।।२८।।

स्पष्टं पञ्च पञ्च मन्त्राः।।२८।।

मूलाधार, अनाहत, आज्ञा, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त में इन पाँचों का क्रमिक रूप से भावन करना चाहिये।।२८।।

श्रीविद्या (अङ्गोपाङ्गप्रत्यङ्गपादुकायुक्ता)

मूलाधारादिषु एकैकस्थाने एकैकविद्यायोजनमुक्त्वा इतः परं अङ्गोपाङ्गप्रत्यङ्गपादुकायुक्तमूलविद्यायाः पञ्चविद्या समष्टिरूपेणैक-स्थान एव विभावनं विवक्षुस्तत्रादौ श्रियोऽङ्गबालामाह

वाक्कामशक्तयोऽनुलोमविलोमाः पुनरनुलोमा इति श्रियोऽङ्ग-बाला।।२९।।

वाक् ऐं, कामः क्लीं, शक्तिः सौः। इमाः प्रथमं पठित्वा पश्चाद् विपरीतं पुनः क्रमेण पठेत्। इयं नवार्णा श्रियोऽङ्गभूता बाला। त्र्यक्षरी तु शुद्धबाला। सैव कुमारीपदवाच्या। तस्मात् श्रियोऽङ्गबाला शुद्ध-बालातोऽन्या।।२९।।

श्रिय उपाङ्गं द्वितीयमाह

भुवना कमला सुभगा तारो नमो भगवति पूर्णे शेखरमन्न ममाभिलषितमुक्त्वा देहि दहन जायेति श्रिय उपाङ्गमन्नपूर्णा।।३०।।

भुवना ह्रीं कमला श्रीं सुभगा क्लीं। तारः ॐ ततो नमो भगवति। ततः पूर्णे, शेखरे अग्रभागे यस्य ईदृशं यद् अन्न इति वर्णद्वयम्, अन्नपूर्णे इति पठितव्यम्। उक्त्वेत्यंशमपहाय देह्यन्तं समानम्। दहन जाया स्वाहा। इयम् अन्नपूर्णा विद्या श्रिय उपाङ्गं भवति।।३०।।

'ह्रीं श्रीं क्लीं ॐ नमो भगवति अन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा' इस श्रीविद्या की उपाङ्गभूता अन्नपूर्णा मन्त्र के सूत्र में भुवना (ह्रीं), कमला (श्रीं) सुभगा (क्लीं) तार (ॐ) दहनजाया (स्वाहा) इन कूट शब्दों के प्रयोग हैं। इस मन्त्र से अन्नपूर्णा प्रसन्न होती है।।३०।।

श्रियः प्रत्यङ्गं तृतीयमाह

प्रणवः पाशादित्र्यर्णा एहि परमेश्वरीत्युक्त्वा वह्निवामाक्ष्युक्ति-रिति श्रीप्रत्यङ्गमश्वारूढा।।३१।।

पाशादि त्र्यर्णा आं ह्रीं क्रों। आद्यवर्णद्वयं शिवयोः पाशः, क्रों इत्यङ्कुशः। शेषं स्पष्टम्। इति।।३१।।

प्रणव ॐ। शिव-शक्ति के पाशबीज 'आं ह्रीं' हैं। क्रों अङ्कुश है। यही तीन बीजाक्षर पाशादि त्र्यर्ण कहलाते हैं। इनके उच्चारण के उपरान्त एहि परमेश्वरि बोलकर 'स्वाहा' बोलना चाहिये। स्वाहा अग्नि की वामा अर्थात् पत्नी मानी जाती है। पूरा मन्त्र 'ओं आं ह्रीं क्रों एहि परमेश्वरि स्वाहा' बनता है। यह अश्वारूढा प्रत्यङ्ग-विद्या है।।३१।।

श्रीपादुकां तुरीयमाह

तारित्रिकं सप्तममुद्रा शिव-शक्ति-संवर्त्त-पुपञ्चम-पुरन्दरवरयूं, शक्तिशिवक्षमान्ते वादिवरयीं शिवभृगुत्रिशूल-बिन्दु-भृगुशिव-त्रिशूलविसृष्टयः, श्रीपूर्वं स्वगुरुनामतोऽष्टाक्षरी चेति पादुका च।।३२।।

तारित्रिकं त्रितारी। सप्तममुद्रा बीजम्। शिवः हः, शक्तिः सः, संवर्त्तः क्षः, पुपञ्चमो मकारः। पुरन्दरो लः। ततो वरयूं, ततः शक्तिः, सः शिवः, हः क्षमौ, अन्ते वादिः, वात् पूर्ववर्णो मातृकासु लः, ततो वरयीं ततः शिवः हः, भृगुः सः, त्रिशूलम् औ, बिन्दुः ह्सौः, इति सम्पन्नम्। भृगुशिवत्रिशूला उक्ताः। विसृष्टिः विसर्गः। ततः स्वगुरोर्दीक्षा नाम। ततः श्रीपादुकां इत्यष्टाक्षरमन्त्रः। अष्टाक्षरे आदौ यः श्रीवर्णस्तस्य पूर्वं श्रीगुरोर्नाम इत्यर्थः। एषा श्रीपादुका।।३२।।

यह सूत्र श्रीपादुका मन्त्र का प्रवर्त्तक है। इसमें बहुलतया कूट शब्दों का प्रयोग किया गया है। मन्त्रों को सुगुप्त रखने की यह एक परिपाटी है। क्रमशः कूटों से मन्त्र इस प्रकार का बनता है—

१. तारित्रिक = त्रितारी = ऐं ह्रीं श्रीं, २. सप्तममुद्रा = खेचरी = ह्स्ख्रैं, ३. शिव = ह, ४. शक्ति = स, ५. संवर्त्त = प्रलयनाम = क्ष, ६. पु = पवर्ग का पञ्चम = म, ७. पुरन्दर = ल, ८. वरयूं, ९. शक्ति = स, १०. शिव = ह, ११. क्ष, १२. म, १३. रादि व का आदिवर्ण ल, १४. वरयीं, १५. शिव = ह, १६. भृगु = स, १७. त्रिशूल और १८. बिन्दु = ह्सौं, १९-२०-२१-२२. विसृष्टि = विसर्ग स्ह्रौं, २३. अपने गुरु का दीक्षा नाम, २४. श्रीपादुकां पूजयामि नमः। सबको मिलाकर बोलने से पूर्ण श्रीपादुका मन्त्र बनता है। इसका पूरा नाम श्रीविद्यागुरुपादुका मन्त्र है।।३२।।

एताभिश्चतसृभिर्युक्ता मूलविद्या साम्राज्ञी मूलाधारे विलोचनीया।।३३।।

बालादि चतसृभिर्युक्ता मूलविद्या वक्ष्यमाणा मूलाधारे विलोचनीया।।३३।।

बाला से लेकर इन चारों से युक्त मूलविद्या का मूलाधार में भावन करना चाहिये।।३३।।

मूलविद्यामाह

मादनशक्तिबिन्दुमालिनीवासवमायाघोषदोषाकरकन्दर्पगगन-मघवद्भुवनभृगुपुष्पबाणभूमायेति सेयं तस्या महाविद्या ।।३४।।

तस्याः साम्राज्ञीनामिकायाः।।३४।।

सूत्रोक्त कूटशब्द— 'मादन, शक्ति, बिन्दु, मालिनी, वासव, माया, घोष, दोषाकर, कन्दर्प, गगन, मघवद्, भुवन, भृगु, पुष्पबाण, भू, माया' इन सोलह कूटों के माध्यम से मूलविद्या का कथन किया गया है। वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या न कर इसकी गोपनीयता को ही बल प्रदान किया है। अर्थात् यह विद्या गुरु द्वारा ही ग्राह्य होनी चाहिये। पुस्तक से कदापि नहीं। इसे साम्राज्ञी श्रीविद्या की मूलविद्या मानते हैं।।३४।।

अङ्गादियुक्ता श्यामाविद्या, अथ हृच्चक्रे ध्येयश्यामाऽङ्गविद्यामाह

वाङ्नतिरुच्छिष्टचाण्डालिमातमुक्त्वा गिसर्वपदाद्वशङ्करि वह्निवामलोचनेति श्यामाङ्गं लघुश्यामा ।।३५।।

वाङ् ऐं, नतिः नमः। एतदुत्तरं उक्त्वापदाद् इति त्यक्त्वा स्वाहान्तो यथाश्रुतो मन्त्रः। इयं लघुश्यामा श्यामाऽङ्गभूता ।।३५।।

वाङ् = ऐं और नति = नमः के बाद उच्छिष्टचाण्डालि मातङ्गि सर्ववशङ्करि स्वाहा के योग से लघुश्यामा मन्त्र बनता है। यह विद्या श्यामा की अङ्गविद्या है।।३५।।

उपाङ्गमाह

कुमारीमुच्चार्य वदद्वन्द्वं वाक्पदं वादिनि वह्निप्रियेति श्यामोपाङ्गं वाग्वादिनी ।।३६।।

कुमारीं बालाम्। ततो वदेति द्विवारम्। ततः पदमिति वर्णद्वयं त्यक्त्वा स्वाहान्तं पठेत्। इयं वाग्वादिनी विद्या त्रयोदशार्णा।।३६।।

ऐ क्लीं सौः बाला मन्त्र है। इसके बाद दो बार वद वद बोलना चाहिये। तत्पश्चात् वाग् और वादिनि के बाद स्वाहा बोलने से यह मन्त्र बनता है। श्यामा की अङ्गरूपा यह वाग्वादिनी विद्या कहलाती है।।३६।।

अथ श्यामाप्रत्यङ्गमाह

प्रणव ओपिनाकुदंपवृषसस्यै च शाचामाहदशब्दाः ष्ठाधानलीतैः रितार्विर्ववाईनारुमिवायेच्छेखरा नकुली श्यामाप्रत्यङ्गम्।।३७।।

ओ इत्यारभ्य दान्ता ये शब्दा वर्णाः षोडश तेषां क्रमेण ष्ठावर्णमारभ्य येत् इति पर्यन्तं षोडश वर्णाः शेखरे अग्रभागे येषां ते। इदं दशब्दा इत्यस्य विशेषणम्। इत्थं च ओ इत्यारभ्य ये दवर्णान्ताः षोडश तेषां क्रमेण एकैकवर्णस्याग्रे ष्ठादिषोडशसु वर्णेषु क्रमेणैकैकं पठेत्। यथा आदौ प्रणवः ततः ओ ततः ष्ठा, ततः पि एवञ्च द्वात्रिंशदक्षयनकुली श्यामाप्रत्यङ्गं भवतीति भावः।।३७।।

३२ अक्षरों वाली नकुली विद्या 'श्यामा' की प्रत्यङ्ग-विद्या की संरचना का अद्भुत क्रम भगवान् परशुराम ने इस सूत्र में अपनाया है। पहले प्रणव का प्रयोग करना चाहिये। इसके बाद 'ओ' से लेकर 'द' तक सोलह शब्दों में से एक-एक के साथ ष्ठा से लेकर येत् तक के सोलह अक्षरों में से एक-एक को जोड़ना चाहिये। जैसे—प्रणव + ओ + ष्ठा + पि + धा + ना + न + कु ली + दं + तैः + आदि। इसी तरह एक इस षोडश भाग से एक वर्ण और फिर दूसरे षोडश भाग क्रमिक वर्ण मिलाने से पूरी विद्या बन जाती है।।३७।।

श्यामापादुकामाह

ललितापादुकादित्रिकस्थाने कुमारी योज्या शिष्टं तद्वद् इति श्यामापादुका च।।३८।।

ललितापादुका या उद्धृता पूर्वं श्रीपादुकेति तस्याः प्रथमबीजत्रयस्थाने बाला योज्या। शेषं पूर्ववत्। इयं श्यामापादुका।।३८।।

ललितापादुका मन्त्रविद्या में श्रीपादुका शब्द के पहले के तीन बीजों के स्थान पर इसमें बाला मन्त्र लगा लेते हैं। वही मन्त्र श्यामापादुका मन्त्र बन जाता है।।३८।।

चतसृभिर्युक्ता हृच्चके श्यामा यष्टव्या ।।३९।।

उक्ताभिश्चतसृभिर्युक्ता वक्ष्यमाणा श्यामा विद्या हृच्चक्रे अनाहते यष्टव्या ।।३९।।

आगे श्यामा-विद्या का उल्लेख किया जा रहा है। इन चारों को मिलाकर उसे अनाहत चक्र में भावन करना चाहिये।।३९।।

अथ श्यामाविद्यामाह

तद्विद्या तु त्रितारी कुमारी नभव श्री तं श्च स ज महासमुरंनि माया स रावक स स्त्री रु व क स दु मृ व क स स व क स लो व क अ कं व माय हा वर्णाः ओं मो गति मा गी रि र्व न नो रि र्व ख जि मदन श्रीं र्व ज शं विर्व पुष शं रि र्व ष्ट ग शं रि र्व त्व शं रि र्व क शं रि मु मे श न स्वा ऽन्त मन्त्रादि बीजषट्कं प्रातिलोम्यमिति अष्टनवतिवर्णाः।।४०।।

तद्विद्या श्यामाविद्या। त्रितारी कुमारी च प्रागुक्ते। नश्च भश्चेति हावर्ण-पर्यन्तं द्वन्द्वः। इत्थं ओं इत्यारभ्य स्वावर्णपर्यन्तं द्वन्द्वं। नकारमारभ्य हान्ता ये वर्णास्तेषु क्रमेणैकैकवर्णोत्तरं योजयेत्। यथा ओं, तदुत्तरं नवर्णः, तदुत्तरं मो, एतदुत्तरं भ इत्युत्तरेत्। एवं क्रमेण वर्णान् योजयित्वा स्वाहान्तं पठेत्। न भ इत्यादि हावर्णान्तकूटे मायापदेन ह्रीं इति योज्यम्। एवं ओं इत्यारभ्य स्वावर्णान्ते द्वितीयपदे कामपदे क्लीं इति वर्णं गृहीत्वा अष्टनवतिवर्णान्तर्गत-पद्यत्रिंशद्वर्णः क्लीं इति योज्यः, कूटद्वयेऽपि शेषवर्णा उक्तरीत्या यथाश्रुता एव पठितव्याः। एवं ग्रथनपूर्वकं स्वाहान्तं मन्त्रं पठित्वा ततः प्रथमषड्बीजानि विपरीतानि पठेत्। एवञ्च सर्वं मिलित्वा अष्टनवतिवर्णा भवन्ति। अत्र ग्रथिते मन्त्रे द्व्यशीति-त्र्यशीति-चतुरशीति-वर्णा अमुका इति भवन्ति। तत्स्थाने विवक्षितनामनिर्देशः, सर्वनामत्वात्। विवक्षितनामप्रक्षेपे वर्णन्यूनाधिकभावो न दोषाय।।४०।।

प्रथम मन्त्र की परिपाटी इसमें भी अपनायी गयी है। सर्वप्रथम त्रितारी कुमारी ओं के बाद दो भागों में से क्रमशः एक-एक वर्ण लेकर मन्त्र बनता

है। बीज में माया पद के यहाँ ह्रीं और दूसरे भाग में क्लीं योजन पर ध्यान देना चाहिये। शेष सभी वर्ण उसी रीति पर जुटते हैं। अन्त में त्रितारी, कुमारी को विपरीत क्रम से पढ़ना चाहिये। जहाँ नाम डालना अपेक्षित है, वहाँ मात्राओं की घट-बढ़ में कोई दोष नहीं आता।।४०।।

अथ अनाहते ध्येयाया वाराहीविद्याया अङ्गमाह

हरः सबिन्दुर्वापूर्वराहि स्थाणुः सबिन्दुरुन्मत्तपदं भैशब्दो रविपादुकाभ्यां नम इति वार्त्ताल्यङ्गं लघुवार्त्ताली ।।४१।।

हरः अग्रे स्थाणुरिति दशमस्वरवाचकौ। इत्थं च प्रथमं लृं ततः पूर्व इत्यंशं त्यक्त्वा हिवर्णान्तः पुनः लृं ततः पदंशब्द इत्येतावदंशमपहाय नमोऽन्तं यथाश्रुतम्। इयं लघुवाराहा वाराह्यङ्गभूता ।।४१।।

'लृं वाराहि लृं उन्मत्तभैरवि पादुकाभ्यां नमः' यह लघुवाराही विद्या है। यह वाराही माता की अङ्गभूत विद्या मानी जाती है।।४१।।

अथ वार्त्ताल्युपाङ्गविद्यामाह

वेदादिभुवनं नमो वाराहि घोरे स्वप्नं ठद्वितयं अग्निदारा इति वार्त्ताल्युपाङ्गं स्वप्नवार्त्ताली स्वप्ने शुभाशुभफलवक्त्री ।।४२।।

'ॐ ह्रीं नमो वाराहि घोरे स्वप्नं ठः ठः स्वाहा' यह वार्ताली की उपाङ्ग विद्या है। यह स्वप्न में शुभाशुभ फलों का निर्देश करती है। ऐसा चाहने वाले इसकी स्वतन्त्र उपासना कर सकते हैं।।४२।।

तत्प्रत्यङ्गविद्यामाह

वाग्घृदयं भगवति तिरस्करिणि महामाये पशुपदाज्जनमनश्चक्षुस्तिरस्करणं कुरु द्वितयं वर्म फट् पावकपरिग्रह इति वार्त्ताली प्रत्यङ्गतिरस्करिणी ।।४३।।

वाक् ऐं, हृदयं नमः। ततः पदादिति त्यक्त्वा तिरस्करणमित्यनन्तं यथाश्रुतम्। ततः कुरु इति द्विवारम्। ततः वर्म हुम्। ततः फट् पावकपरिग्रहः स्वाहा। इयं तिरस्करिणीविद्या प्रत्यङ्गभूता।।४३।।

'ॐ नमो भगवति तिरस्करिणि! महामाये पशुजनमनश्चक्षुतिरस्करणं कुरु कुरु हुं फट् स्वाहा' यह तिरस्करिणी विद्या देवी की प्रत्यङ्गविद्या है।।४३।।

अथ वाराहीपादुकां दर्शयति

श्यामापादुका मन्त्रादित्रिबीजमपहाय वाग्ग्लौम् इति योज्यम् एषा वार्त्तालीपादुका ।।४४।।

श्यामापादुकाया आदिबीजत्रयमपसार्य तत्स्थाने ऐं ग्लौम् इति पठित्वा शेषम् अधिकृतं पठेत्। इयं वाराहीपादुका भवति।।४४।।

श्यामापादुका मन्त्र के आदि बीजत्रय 'ऐं ह्रीं श्रीं' को छोड़कर 'वाक् ऐं' के साथ 'ग्लौं' जोड़ देने से वही मन्त्र वाराहीपादुका मन्त्र बन जाता है।।४४।।

विद्याभिरेताभिर्युक्तफालचक्रे परिपूज्या भगवतीयं भूदारमुखी ।।४५।।

एताभिरुक्ताभिर्विद्याभिर्युक्ता भूदारमुखी वाराही तद्विद्येत्यर्थः। सा फालचक्रे आज्ञायां परिपूज्या ध्येयेत्यर्थः।।४५।।

आज्ञाचक्र में अङ्गादि विद्याओं से युक्ता वाराही विद्या का ध्यान करना चाहिये। इससे वाराही विद्या देवी प्रसन्न होती है।।४५।।

अथ वाराहीविद्यामाह

मनुरिदमीयोऽयं वाक्पुटितं ग्लौं न भ व वा लिर्त्ता वा हि रा व ह खि रा मु अं अं नि मः धेधि न जं जं नि मः हे हि नस्तं स्तं नि मः र्वष्ट दु नां र्वें स वा क त्त क्षु ख ति ह्वा भ कु कु शी व शब्दाः यथाक्रमं मो ग ति र्ता वा लि रा वा हि रा मु व ह खि धे धि न रुं रुं नि भः भे भि न मो मो नि मः भे भि न सदुप्र ष्टा स षां र्व चि च मु र्ग जि स्तं नं रु रु ध्रं श्यं शब्दोपेता वाग् ग्लौं विसृष्ट्यन्ताश्च सप्तमाश्चत्वारो वर्मास्त्राय फडिति द्वादशोत्तरशताक्षरा ।।४६।।

अस्या वाराह्या अयं इदमीयः। मनुः मन्त्रः। प्रथमं ऐं, ततः ग्लौं, ततः ऐं इति तदर्थः। ततो नेत्यारभ्य वान्ता ये वर्णास्तेषु क्रमेणैकैकवर्णोत्तरं मो इत्यारभ्य श्यं इति वर्णान्ताः क्रमेण पूर्ववद् एकैकान् पठेत्। एवं ग्रथनपूर्वकं वश्यंपर्यन्तं पठित्वा। ततो वाक् ऐं। ततो ग्लौं पठित्वा इति। ततश्चवर्णात् सप्तमा ठकारा विसृष्ट्यन्ताश्चत्वारः पठित्वा। वर्म हुम्। ततो अस्त्राय फट् इति पठेत्। इयं वाराही-विद्या। द्वादशोत्तरशताक्षरी ज्ञेया।।४६।।

पूर्वपरिपाटी अपनाकर मन्त्र की गोपनीयता का प्रदर्शन इस सूत्र में भी है। सूत्रोक्त ग्लौं के बाद के सभी अक्षरों में 'यथाक्रमं' के बाद पठित मोसेश्यं तक के एक-एक के साथ एक को जोड़ने से पूरा मध्यगत मन्त्र अभिव्यक्त हो जाता है। उसके बाद च से सातवें चार ठकार विसर्ग सहित बोलने के बाद हुं अस्त्राय फट् लगाकर मन्त्र पूरा करते हैं। यह एक सौ बारह अक्षरों का मन्त्र है।।४६।।

अथ ब्रह्मरन्ध्रे यष्टव्यां श्रीपूर्त्तिविद्यामाह

पञ्चमैकादशबीजवर्जा श्रीरेव श्रीपूर्त्तिविद्या ब्रह्मकोटरे यष्टव्या ।।४७।।

पूर्वं मादनशक्त्यादिना दर्शिता या श्रीविद्या तस्यां यः पञ्चम एकादशश्च वर्णो मायाबीजं तावपहाय श्रीविद्यैवोर्वरिता श्रीपूर्त्तिविद्या। सा ब्रह्मकोटरे ब्रह्मरन्ध्रे ध्येयेति यावत् ।।४७।।

सूत्र ३४ में मूल श्रीविद्या की विधा का कूट विधि से उल्लेख किया गया है। वही विद्या श्रीपूर्त्तिविद्या हो जाती है। उसमें कुछ परिवर्त्तन भी कर देते हैं। पाँचवें और ग्यारहवें वर्णों का परित्याग कर देने से ही यह अन्तर हो जाता है। इसका ध्यान ब्रह्मरन्ध्र में करना चाहिये।।४७।।

महापादुका

श्यामापादुका प्रथमत्रिकस्थाने तारत्रयं कुमारी वाक् ग्लौं इति योज्यम्। ततः परस्तात्। शेषं समानम् ।।४८।।

स्पष्टम् ।।४८।।

श्यामापादुका के पहले तीन शब्दों के स्थान पर त्रितारी, कुमारी ऐं ग्लौं जोड़ने से यह मन्त्र बनता है।।४८।।

इमां लोकप्रवृत्तसर्वोत्तमज्ञानाय स्तौति

इयं महापादुका सर्वमन्त्रसमष्टिरूपिणी स्वैक्यविमर्शिनी महासिद्धिप्रदायिनी द्वादशान्ते यष्टव्या ।।४९।।

सर्वमन्त्रसमष्टिरूपिणी सर्वमन्त्रैः प्रत्येकं यद्यत् साध्यं फलं तत्सर्वमनेनैव साधितुं शक्यमिति भावः। एवम् इहलोके क्षुल्लकफलसाधनत्वमुक्त्वा साध्याणिमादिसाधनत्वमप्यस्तीत्याह—महासिद्धिप्रदायिनीति। महासिद्धयोऽणिमादयः। एवं कृत्रिमपुरुषार्थसाधनत्वमुक्त्वा परमपुरुषार्थसाधनत्वमप्याह—स्वैक्येति। स्वैक्यविमर्शो ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं जनकतासम्बन्धेन तद्वती। ब्रह्मात्मैक्यविमर्शाभासनरूपा, अविद्यालयकर्त्रीति यावत् ।।४९।।

महापादुका मन्त्र की इस सूत्र में प्रशंसा की गयी है। उसके दो महत्त्वपूर्ण फल हैं—

१. यह ब्रह्मतादात्म्य का विमर्श प्रदान करती है। वृत्तिकार ने विमर्श का अर्थ ज्ञान लिखा है। वस्तुतः स्वात्मैक्यविमर्श ज्ञान से ऊपर की आनुभूतिक स्फुरत्ता की आनन्ददायिका स्थिति का प्रतीक है।

२. अणिमादि सभी सिद्धियों को प्रदान करती है। वृत्तिकार ने स्वैक्यविमर्श के बाद महासिद्धि की बात को असङ्गत माना है। वस्तुतः पहले साधकों के लिये सर्वोत्तम फल की चर्चा की गयी है। पुनः भोगेच्छुओं के लिये सामान्येतर सांसारिक फल की भी चर्चा है। अतः सङ्गति का व्यतिरेक नहीं है।

इसका एक तीसरा गुण यह है, कि यह सभी मन्त्रों की समष्टिरूपा विद्या है। अतः साधक इसे द्वादशान्त में भावन करें और तादात्म्य में अवस्थित होने का आनन्द लें।।४९।।

एवं रश्मिमालामन्त्रकलापमुक्त्वा यथोक्तस्थानेषु उक्तरश्मिमालाध्यानकर्त्तारं प्रशंसति

एवं रश्मिमाला सम्पूर्णा। सर्वगात्रः शुद्धविद्यामयतनुः स एव परमशिवः ।।५०।।

स्पष्टार्थः ।।५०।।

अथ जपपूर्वाङ्गभूतान् जपविघ्ननिवारकान् मन्त्रानाह

अथ विघ्नदेवताः। इरि-मिलि-फिरि-किलिपदात् परिमिरोम् इत्येकः। प्रणवो माया नमो भगवति महात्रिपुराद्धैवर्णाद् रविपदमनु मम त्रैपुररक्षां कुरु कुरु, इति द्वितीयः।

संहर संहर विघ्नरक्षोविभीषकान् कालय हुं फट् स्वाहा, इति तृतीयः। ब्लूं रक्ताभ्यो योगिनीभ्यो नमः, इति चतुर्थः। सां सारसाय बह्वाशनाय नमः, इति पञ्चमः। दुमुलुपुमुलुपु माया चामुण्डायै नमः, इति षष्ठः। एते मनवो ललिताजपविघ्नदेवताः ।।५१।।

अथेति प्रकरणान्तरज्ञापकम्। विघ्नहर्त्र्यो देवता विघ्नदेवताः, मध्यमपदलोपी समासः। अत्र देवतापदेन तत्तद्देवतावाचकमन्त्रा लक्षणीयाः। तेन देवताकथनं प्रतिज्ञाय अग्रे मन्त्रकथनं न विरुद्धम्।

अत्र श्रीविद्याङ्गभूताः षण्मन्त्रास्तेष्वाद्यं मन्त्रमाह—इरिमिलीति। द्वितीयं मन्त्रमाह—प्रणव इति। प्रणवं मायोत्तरं त्रिपुरपर्यन्तं पठित्वात् ततो भैरवि मम त्रैपुररक्षां कुरु कुरु इति पठितव्यम्।

तृतीयमाह — संहर संहरेति स्वाहान्तं पठनीयः।

चतुर्थमाह — ब्लूमिति। अयमपि यथाश्रुतः पठनीयः।

पञ्चममाह — सामिति। अयमपि यथाश्रुतः पठनीयः।

षष्ठमाह — दुमुलु इति। षष्ठ्यां माया इति ह्रीं-वर्णग्रहणम्। शेषं यथाश्रुतम्। ललितामनुसमाप्तिं द्योतयति—एत इति। एते उक्ताः ।।५१।।

ललिता विद्या मन्त्रों के जप करने में जितने विघ्न आते हैं, उनको निराकृत करने वाले छः मन्त्र इसमें दिये गये हैं। ललिता मन्त्र जप से पहले इनका जप एक बार कर लेने से विघ्न नहीं आ सकते। वे इस प्रकार हैं—

१. इरि मिलि किरि किलि परिमिरोम्।

२. ॐ ह्रीं नमो भगवति महात्रिपुरभैरवि मम त्रैपुररक्षां कुरु कुरु।

३. संहर संहर विघ्नरक्षोविभीषकान् कालय हुं फट् स्वाहा।

४. ब्लूं रक्ताभ्यो योगिनीभ्यो नमः।

५. सां सारसाय बह्वाशनाय नमः।

६. दुमुलुपुमुलुपु ह्रीं चामुण्डायै नमः।

ये मन्त्र ललिता जप में आने वाले विघ्नों के हरण करने वाले देवता हैं।।५१।।

श्यामाविघ्नहरमन्त्रमाह

हसन्ति हसितालापे मातमुक्त्वा गीपरिचारिके मम भयविघ्ननाशं कुरुद्वितयं सविसर्गठत्रयमिति श्यामाविघ्नदेवी ।।५२।।

हसन्तीत्यारभ्य नाशमिति पर्यन्तं पदं उक्त्वेत्यंशमपहाय। शेषं समानम्। नाशम् इत्येतदुत्तरं कुरुद्वयम्। ततः सविसर्गठत्रितयं पठेत्। इयं हसन्ती विद्या श्यामा जपाङ्गम् ।।५२।।

श्यामा मन्त्र जप में आने वाले विघ्नों को दूर करने वाली इस विद्या का नाम हसन्ती विद्या है। इसका मन्त्र—'हसन्ति हसितालापे मातङ्गिपरिचारिके मम भयविघ्ननाशं कुरु कुरु ठः ठः ठः' इस प्रकार का है। श्यामा मन्त्र जप से पहले इसका जप कर लेना चाहिये ।।५२।।

अथ वाराहीविघ्नहरविद्यामाह

स्तं स्तम्भिन्यै नमः इति कोलमुखीविघ्नदेवी ।।५३।।

यथाश्रुतं स्पष्टम् ।।५३।।

वाराही मन्त्र जप के पूर्व विघ्नविनाशिनी इस विद्या का जप करना चाहिये। इसका स्वरूप सूत्र में स्पष्ट इस प्रकार है—

'स्तं स्तम्भिन्यै नमः'।

इसे वाराही विघ्नदेवी कहते हैं।।५३।।

एतेषां तत्तज्जपाव्यवहितप्राक्कालेन सम्बन्धं दर्शयति

एते तत्तज्जपारम्भे जप्तव्याः ।।५४।।

संख्याया अनुक्तत्वात् जपात् पूर्वं सकृत्पाठः ।।५४।।

विघ्नहर जपनीय मन्त्रों की संख्या नहीं दी गयी है। वृत्तिकार के अनुसार मात्र एक-एक बार उच्चारण ही पर्याप्त है।।५४।।

अथ ललितादि-परान्तानां जपकालमाह

ललिता प्राह्णे। अपराह्णे श्यामा। वार्त्ताली रात्रौ। ब्राह्मे मुहूर्त्ते परा।।५५।।

प्राह्णः सूर्यपरावृत्तिप्राक्कालः। अपराह्णः परावृत्त्यपरभागः। तयोर्मध्यः अतिसूक्ष्मः कालो मध्याह्नः। 'प्राह्णापराह्णमध्याह्नाः' इति कोशात्। अस्तोत्तरम् अर्धयाममुदयात् प्रागर्धयामं चापहाय शेषं यामत्रयं रात्रिपदवाच्यम्। अत एव रात्रिस्त्रियामा इति पर्यायोऽपि कोशेऽस्ति। ब्राह्मो मुहूर्त्तः प्रागुक्तः।।५५।।

सूर्य का रात्रि के बाद परावर्त्तन ही परावृत्ति काल है, अर्थात् सूर्योदय होने के समय ललिता मन्त्र जप करना चाहिये। श्यामा का मन्त्र जप मध्याह्न के बाद अर्थात् अपराह्ण में करना उचित है। वार्त्ताली का जप रात्रि में होना चाहिये। रात्रि का जप समय तीन पहर की रात्रि से नहीं, अपि तु निशीथ सन्ध्या समय से लेना उचित है, परामन्त्र जप सर्वदा ब्राह्म मुहूर्त्त में करना चाहिये। 'रात्रेश्च पश्चिमे यामे मुहूर्त्तो ब्राह्म उच्यते' के अनुसार रात्रि का अन्तिम भाग उषःकाल समेत ब्राह्ममुहूर्त्त में परिगणित है ।।५५।।

श्रीनित्यापूजायां मपञ्चकप्रतिनिधिना पूजनं मुख्यालाभे उक्तम्। इदानीं प्रतिनिध्यादरे अन्यानपि हेतूनाह

व्यवहारदेशस्वात्म्यप्राणोद्वेगसहायामयवयांसि प्रविचार्यैव तदनुकूलः पञ्चमादिपरामर्शः ।।५६।।

व्यवहारः पूजाऽव्यवहितोत्तरकाले पशुजलैः सह कर्त्तव्यो लौकिक आवश्यकः कार्यविशेषः। तत्तद्द्रव्यसेवनाव्यवहितोत्तरं तद्विकारं दृष्ट्वा पशव एनं दूषयेयुः। क्रतावावश्यकं रहस्यं भिद्येत। अतः प्रतिनिधिसेवनमिति भावः।

एवं यस्मिन् देशे द्रव्यसेवनेन धातुवैषम्यजनितः शरीरविकारस्तत्र प्रतिनिध्याश्रयः। अयं द्वितीयो हेतुः। एवं समीचीनश्चासावात्मा च स्वात्मा। स्वात्मनो भावः स्वात्म्यम्। तत्त्वं च सात्त्विकवृत्तिमत्त्वम्।

प्राणोद्वेगः सहनशक्तिः। सहायाः प्रसिद्धाः। आमयो रोगः। वयांसि बालादिः। एतानि सर्वाणि पञ्चमादिपरिग्रहे अनुकूलानि, उत प्रतिकूलानि इति प्रविचार्य सम्यग्विचार्य अनुकूलत्वयाथार्थ्यग्रह एव मुख्यपञ्चमादि परिग्रहः। अन्यथा प्रतिनिधिनैव नित्यक्रमविमृष्टिरिति भावः।।५६।।

मपञ्चक के प्रतिनिधि द्रव्यों से पूजन किया जा सकता है। इसके अन्य कई कारण प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. व्यवहार—पूजा के तत्काल बाद सांसारिक व्यक्तियों की सामाजिकता का निर्वाह करते हुए आवश्यक कार्य निर्वाह ही व्यवहार कहलाता है। इस दृष्टि से प्रतिनिधि का प्रयोग अपेक्षित है। कहीं कोई इस सम्बन्ध में दूषण की बात न करे।

२. देश—देश का प्रभाव भी विचारणीय है। द्रव्य सेवन का प्रभाव अक्षांश, देशान्तर की दूरियों पर बहुत पड़ता है। इससे धातुदोष भी उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः इस दृष्टि से भी प्रातिनिध्य स्वीकरणीय है।

३. स्वात्म्य—आत्मा का स्तर भी विचारणीय है। आत्मा आवरण से जितना आवृत/अनावृत होता है, उतना ही मनुष्य की प्रवृत्तियाँ निवृत्ति की स्तरीयता प्रकट करती हैं। आत्मा को मन भी कहते हैं। मन भी बन्ध और मोक्ष का कारण बनता है। यह मनोभाव पर निर्भर करता है कि, उस साधक का मन मुख्य द्रव्य या प्रतिनिधि द्रव्य से कितनी परतृप्ति का अनुभव कर रहा है। वस्तुतः सात्त्विक वृत्ति का ही महत्त्व होना चाहिये।

४. प्राणोद्वेग—प्राण में द्रव्य सेवन का कितना बल है। कितनी सहनशीलता है। यह अवश्य विचारणीय है।

५. सहाय—वृत्तिकार ने प्रसिद्ध लिखकर इसे टाल दिया है। वस्तुतः इस क्रिया में गुरु, शिष्य, मित्र, परिवार, समाज सब की सदाशयता आवश्यक होती है।

६. आमय—रोग को कहते हैं। रोगी क्या सेवन करे क्या न करे; इसका निर्णय चिकित्सक कर सकता है, पूजा-प्रबन्धक नहीं।

७. वय—उम्र या अवस्था का ध्यान रखना भी आवश्यक है। बालक, वृद्ध, आतुर और विशेष परिस्थितियों पर निर्भर वयस्क भी मुख्य द्रव्य सेवन के स्थान पर प्रतिनिधि द्रव्य से कार्य निर्वाह कर सकते हैं। इन तथ्यों पर सम्यक् विचार कर ही कोई निर्णय करना श्रेयस्कर हो सकता है।।५६।।

प्रसङ्गाद् उपासकधर्मान् वक्तुमारभते

सर्वभूतैरविरोधः ।।५७।।

सर्वभूतैरविरोधः स्वमार्गगुप्त्यर्थम्। अन्यथा द्वेषेण एतदीयं दोषं गुप्तरूपेण छद्मनाछद्मना वा दृष्ट्वा सभायां प्रकटं कुर्युः। अविरोधे तादृशदोषान्वेषणयत्नं न कुर्युरिति भावः ।।५७।।

उपासक का यह सबसे प्रमुख कर्त्तव्य है कि, वह सभी प्राणियों से समभाव और नेह रखे। सर्वत्र परमेश्वर की सत्ता का समादर करना ही इस सूत्र का लक्ष्य है।।५७।।

ननु सर्वभूतैरविरोधेन वर्त्तमानेऽपि 'मक्षिकाव्रणमिच्छन्ति' इति न्यायेन कश्चन द्वोषान्वेषणन्यायेन प्रवृत्तश्चेत् तत्र किं कार्यम्। अत आह

परिपन्थिषु निग्रहः ।।५८।।

तादृशदुर्जनेषु निग्रहः। यथा तन्नाशः स्यात् तथा वर्त्तितव्यम्। लौकिकेन अलौकिकेन व्यापारेण तस्य निरासः कार्य इति भावः ।।५८।।

परिपन्थी विरोधी या शत्रुवत् व्यवहार करने वाले को कहते हैं। शास्त्र इनसे लोहा लेने की बात करता है। अविरोध का यह तात्पर्य नहीं कि, अधर्मी की दुष्प्रवृत्ति का उपासक विरोध ही न करे। वरन् इसे बलपूर्वक विरोध ही नहीं अपि तु उसका निग्रह करे अर्थात् उसे दुष्प्रवृत्ति से रोककर उसे शासन में रखने का प्रयत्न करे ।।५८।।

एवं परिपन्थिषु निग्रहं प्रदर्श्य भक्तिभूमिकामारुरुक्षूणां सेवादिना सम्यक् श्रितानां प्रसादं सम्पादितवतामुपरि किं कार्यमित्याशङ्कायामाह

अनुग्रहः संश्रितेषु ।।५९।।

संश्रितेषु चिरकालं प्रसादयितेषु तेषु अनुग्रहः, विद्याप्रदानादिना तेषां मनोरथपूरणं कर्त्तव्यमिति शेषः।।५९।।

सम्यक् रूप से आश्रित शिष्यवत् विनम्र और अनुशासित पर अनुग्रह करना चाहिये।।५९।।

एवं गुरोर्धर्मानुक्त्वा प्राप्तविद्येन शिष्येण कथं वर्त्तितव्यम्? इति तं प्रकारमाह

गुरुवद् गुरुपुत्रकलत्रादिषु वृत्तिः ।।६०।।

आदिपदेन गुरुपूज्यानां ग्रहणम्। या गुरौ वृत्तिः सा गुरुपुत्रे तत्पत्न्यां च कार्या।।६०।।

गुरु के प्रति शिष्य की निष्ठा स्वाभाविक है। सारे शास्त्र इसका उपदेश करते हैं। उसी तरह गुरु-पुत्र, गुरु-पत्नी, गुरु के भाई और गुरु द्वारा आदरणीय व्यक्तियों के प्रति भी गुरु के समान ही व्यवहार करना चाहिये।।६०।।

'शिष्टैः सार्धम्' इति वाक्येन प्राप्तमादिमस्वीकारमनूद्य त्याज्यांशं विधत्ते

आदिमस्य स्वयं सेवनमागमदृष्ट्या दोषदं त्याज्यम् ।।६१।।

आगमस्तन्त्रादिः, तेषां दृष्ट्या यद् दोषदं तत् त्याज्यम्। पूर्वं कर्त्रर्थत्वेन आदिमसेवनं कर्त्तव्यमिति तन्त्रे प्रतिपादितम्। तथापि तद् यद् दोषदं तत्त्याज्यम्। अयं विषयो विस्तरशः प्राक् निरूपितोऽस्ति।।६१।।

आगम तन्त्र का ही पर्याय है। तन्त्रों की दृष्टि से भी मपञ्चक का आदिम द्रव्य मद्य स्वयं दोषपूर्ण है। इसलिये इसका त्याग आवश्यक है। जो दोषपूर्ण है, उसका परित्याग करना ही श्रेयस्कर माना जाता है। यद्यपि इसकी प्रमुखता भी सिद्ध है, पर इसके गुण-दोष पर विचार कर उचित निर्णय करना चाहिये।

इस विषय में श्रीललिता-क्रम के सूत्र २२ में भी कुछ चर्चा की गयी है। वहाँ भी देखना चाहिये ।।६१।।

अथ प्रसङ्गाद् आदिमं कीदृशं किं प्रकृतिकं ग्राह्यम्, इति पारिशिष्टा-काङ्क्षायां वचनेन पूरयति

सानन्दस्य रुचिरस्यामोदिनो लघुनो वार्क्षस्य गौडस्य पिष्ट-प्रकृतिनः अन्धसो वाल्कलस्य कौसुमस्य वा यथादेशसिद्धस्य वा तस्य परिग्रहः ।।६२।।

द्रव्ये आनन्दसाहित्यजनकतासम्बन्धेन आनन्दविशिष्टत्वम्, आनन्दा-विर्भावसाधनम्, रुचिरस्य यद्दर्शनमात्रेण मनःप्रसादस्तस्य। आमोदिनः सुगन्धयुक्तस्य। लघुनो धातुवैषम्याजनकस्य।

अथ तत्प्रकृतीराह—वार्क्षस्येत्यादिना (वृक्ष + अण्)। वृक्षोद्भवस्य गौडस्य गुडमयस्य, अन्धसः अन्नप्रकृतिकस्य। वाल्कलं वृक्षत्वक्सम्बन्धि। कौसुमस्य मधूकादिपुष्पोद्भवस्य। यथादेशसिद्धस्य यस्मिन् देशे यद्यत्प्रकृतिकं द्रव्यं तद्वा ग्राह्यमित्यर्थः। तस्य आदिमस्य द्रव्यस्य परिग्रहः। आदिमप्रतिनिधिः अष्टगन्धादिकम् ।।६२।।

प्रसङ्गवश यह सोचना आवश्यक है कि, आदिम द्रव्य अर्थात् मद्य का सेवन यदि आवश्यक हो, तो कैसी या किस प्रकृति की मदिरा सेवन की जा सकती है? इसी का उत्तर देते हुए सूत्रकार कह रहे हैं कि—

१. यदि मद्य किसी पेड़-पौधे, वनस्पति आदि से निर्मित हो।
२. गुड़ से बनायी गयी हो।
३. ओषधियों या अन्नों को पीस कर उनसे तैयार की गयी है।
४. वृक्षों की छाल से निर्मित की गयी हो।
५. फूलों से महुवा के वृक्ष से चूने वाले फूलों से निर्मित हो।
६. देश के अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने वाली हो।
७. देखते ही मन प्रसन्न हो जाय ऐसी आनन्ददायिनी और मदमत्त न बनाकर आनन्दविह्वल रखने में सक्षम हो। अष्टगन्ध आदि इसके प्रतिनिधि रूप माने जाते हैं।

इस प्रकार के मद्य ग्रहण में किसी दोष की सम्भावना नहीं होती। इससे सेवन करने वाले में धातुवैषम्य भी उत्पन्न नहीं होता।।२२।।

अथ द्वितीयतृतीयसम्पादनप्रकारमाह

तदनन्तरं मध्यमयोरस्वयमसुविमोचनम्। उपादिमे नायं नियमः। मध्यमे तु स्वयं संज्ञापने तत्रायं मन्त्रः–

उद्बुध्यस्व पशो त्वं हि नाशिवस्त्वं शिवो ह्यसि।
शिवोत्कृत्तमिदं पिण्डं मत्तस्त्वं शिवतां व्रज।।इति।।६३।।

तदनन्तरं प्रथम समादनानन्तरं मध्यमयोर्द्वितीयतृतीययोः। अस्वयम् आत्मभिन्नम्। असुविमोचनं प्राणविमोचनं प्राणमोचनसाधनम्। कुर्यादिति शेषः। द्वितीयतृतीयप्रकृतिभूतपशुप्राणवियोगं स्वयं न कुर्याद् इति फलितोऽर्थः। अथान्यस्य संज्ञप्तुरभावे किं कार्यम्? तत्राह—

उपादिम इति। उपादिमस्य द्वितीयस्य असुविमोचनं स्वयमप्यन्याभावे कुर्यात्। तृतीयस्य स्वयमसुविमोचने 'उद्बुध्यस्व' इति मन्त्रं पठित्वा असुविमोचनं कुर्याद् इति भावः। भूचरं खेचरं चैव द्वितीयं द्विविधं भवेत्।

तृतीयप्रकृतिः— अथ तृतीयमुख्यभेदो योगिनीतन्त्रे—

मत्स्यः कूर्मश्च देवेशि तृतीयं द्विविधं भवेत्।

तदनुकल्पो रहस्यार्णवे—

संवित्संयुक्तं चणकपिष्टजं बटकं शिवे।
मीनाकृतिकृतं वापि मूलकं वापि वा शिवे।।
अलाभे तु तृतीयस्य द्वितीये त्र्यम्बकं यजेत्।।

चतुर्थद्रव्यम्—

चणकोत्था माषजा वा मुद्राः स्युर्घृतपाचिताः।

पञ्चमप्रकारः—

पञ्चममुख्यस्य प्रकारस्त्रिविधः। तत्राद्यं दूतीजनरूपम्। तत्राधिकारिणः सदाशिवादयः। द्वितीयं स्वयोषित्स्वेव।

रक्तं तु करवीरं वै तथा कृष्णापराजिता ।
एतत्प्रोक्तं लिङ्गयोन्योः पुष्पं तत्र तु योजयेत्।।६३।। इति ।

पञ्चमकार सम्बन्धी अनुकल्पों की चर्चा यहाँ की गयी है। मकार 'म' अक्षर आदि में आये द्रव्यों की क्रमिकता इस प्रकार है—

१. मद्य, २. मांस, ३. मत्स्य, ४. मुद्रा, ५. मैथुन।

१. मद्य का अनुकल्प अष्टगन्ध निर्मित द्रव्य है। काँस्य में नारिकेलोदक, ताम्रपात्र में दूध, गुडमिश्र तक्र भी इसमें स्वीकृत हैं।

२. मांस—प्रथम सम्पादन के बाद द्वितीय और तृतीय पशु के प्राण का वियोग स्वयं नहीं करना चाहिये। स्वयं सम्पादित करने पर उद्बुद्ध्यस्व मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। मांस दो प्रकार के स्वीकृत हैं—१. भूचर, २. खेचर। इन दोनों के न मिलने पर 'मालपूआ' चढा कर पूजा सम्पादित करनी चाहिये।

३. मत्स्य—इसमें भी दो प्रकार हैं—१. मत्स्य और २. कूर्म अनुकल्पचने के चूर्ण की मत्स्याकृति बाटी या 'बड़ी' अथवा 'मूली'।

४. मुद्रा—योगिनीतन्त्र के अनुसार चने से निर्मित अथवा माष से निष्पन्न विशेष मुद्राकृति पदार्थ घी में पकाने पर इसका अनुकल्प बन जाते हैं। अङ्गुलि मुद्रायें तो प्रसिद्ध हैं।

५. मैथुन— तीन प्रकार के स्वीकृत हैं—

१. दूती सम्बन्धी— इसमें सदाशिव स्तरीय योगिराज ही अधिकृत हैं।

२. दूत की पूजा और कुण्ड योनि में शुद्ध हवि का अर्पण करने से भी सुफल। यह स्वपत्नी के साथ भी स्वीकृत है।

३. प्रार्थना करने पर शिष्या आदि के अनुकल्प लाल करवीर पुष्प और अपराजिता पुष्प दोनों लिङ्ग योनि के प्रतीक हैं। वास्तविकता यह है कि, इनमें भौतिक दृष्टि का अभाव होना आवश्यक है।।६३।।

अथ पूर्वोक्तावशिष्टाः कुलाचारधर्माः, तानाह सर्वत्र वचनपूर्वं प्रवृत्तिः ।।६४।।

सर्वत्र कुलशास्त्रविहितक्रियासामान्ये अस्मिन् शास्त्रे विहितं किं अविहितं किम् इति परिशोध्य सप्रमाणं कर्म अनुष्ठेयमिति भावः।।६४।।

वचन का अर्थ शास्त्रोक्त प्रमाण वाक्य है। उपासक विहित और अविहित के सम्बन्ध में शास्त्र वचनों के आधार पर ही आचरण करे।।६४।।

अन्यं धर्ममाह

दशकुलवृक्षानुपप्लवः ।।६५।।

श्लेष्मातककरञ्जाम्रनिम्बाश्वत्थकदम्बका बिल्ववटोदुम्बरौ च तिन्तिण्या सहिता दश। श्लेष्मातक (लिसोडे का वृक्ष) करञ्ज (ओषधिवृक्ष) आम्र (आम) निम्ब (नीम) अश्वत्थ (पीपल) कदम्बक (कदम्ब) बिल्व (श्रीफल) वट (बरगद) उदुम्बर (गूलर) ये दश वृक्ष कुल वृक्ष माने जाते हैं। इनका काटना नितान्त निषिद्ध है।।६५।।

धर्मान्तरमाह

स्त्रीवृन्दादिमकलशसिद्धलिङ्गिक्रीडाऽऽकुलकुमारीकुलसहकाराशोकैकतरुपरेतावनिमत्तवेश्याश्यामारक्तवसनामत्तेभानां दर्शने वन्दनम्।।६६।।

स्त्रीवृन्दं सुवासिनीवृन्दं न तु विधवानाम्, सुवासिनी-कुमारीणां समूहं मदिराघटम् इति तन्त्रान्तरवचनात्। आदिमकलशं मदिरापूर्णघटः। सिद्धाः मन्त्रसिद्धिमन्तः, तेषां लिङ्गानि तच्छालिनः सिद्धलिङ्गिनः। क्रीडासु आकुलाः व्यासक्ता कुमार्यस्तासां कुलं समूहः। सहकारः अतिसुगन्धिचूतः। अशोकः प्रसिद्धः। एकतरुः। परेतावनिः श्मशानम्। मत्तवेश्या। श्यामा यौवनमध्यस्था तारुण्यनिर्भरा। रक्तवसना। मत्तेभः प्रसिद्धः। एतेषां दर्शने वन्दनं नमनं कुर्यात् ।।६६।।

सुवासिनी स्त्रियों का समूह, कुमारियों का समूह, मदिरा कलश, मन्त्रसिद्ध योगियों के चिह्न, क्रीडाकुमारियाँ, आम, अशोक और 'एकतरु' नाम से प्रसिद्ध एक विशेष वृक्ष, श्मशान, मदविह्वल वेश्या, पूर्ण-यौवना षोडशी और रक्तवस्त्र-

धारिणी युवती तथा मदमस्त हाथी देखकर परमेश्वर की कौतुकमयी सुरुचिपूर्ण रचना का ध्यान कर इनका वन्दन करना चाहिये।।६६।।

अथ नैमित्तिक-पूजामाह

पञ्चपर्वसु विशेषार्चा ।।६७।।

पञ्चपर्वाणि १. कृष्णाष्टमी, २. कृष्णचतुर्दशी, ३. अमा, ४. पूर्णिमा, ५. सङ्क्रान्तिश्च। देवीभागवते यथा—

"कृष्णाष्टमी च तद्भूता पूर्णिमासंक्रमो रवेः। एतानि पञ्चपर्वाणि दुर्लभं तत्र पूजनम्"। 'पञ्चपर्वसु' इति कथनात् पञ्चपर्वसु सूत्रानुयायिनः पूजनमावश्यकम्। दमनपवित्रारोपणाद्यकरणे न प्रत्यवायः। करणे अभ्युदय इति सिद्धम् ।।६७।।

कृष्णपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा और संक्रान्ति मिलाकर पाँच पर्व माने जाते हैं। देवीभागवत भी इसी मत का प्रतिपादन करता है। कल्पसूत्रानुयायी उपासक इसकी अवश्यकरणीयता स्वीकार करते हैं ।।६७।।

अथैषां कुलधर्माणामनुष्ठानविधिं वक्तुं तदुपोद्घातभूतान् उल्लासान् विभजते

आरम्भतरुणयौवनप्रौढतदन्तोन्मनानवस्थोल्लासेषु प्रौढान्ताः समयाचाराः। ततः परं यथा कामी। स्वैरव्यवहारेषु वीरावीरेष्वयथामननादधःपातः ।।६८।।

आरम्भः, तरुणः, यौवनः, प्रौढः, तदन्तः, उन्मनः, अनवस्थः, उपासकस्य सप्त दशाविशेषाः। तत्र—

१. आरम्भो नाम उपासनाविषयकेच्छामात्रवत्त्वे सति तन्त्रशास्त्रानभिज्ञत्वम्।

२. सम्यग्गुरुं सम्पाद्य दीक्षितस्तदनन्तरं तन्त्रशास्त्रपिपठिषाशालित्वं तस्योल्लासः।

३. ततस्तच्छास्त्रविषयकज्ञानवत्त्वं यौवनोल्लासः।

४. ततस्तच्छास्त्रविषयकतत्त्वज्ञानवत्त्वं सम्पाद्य शास्त्रप्रतिपादितध्यानंकर्त्तुमीहमानत्वं प्रौढोल्लासः।

५. तदिच्छानन्तरं किञ्चिदभ्यस्ते ध्यानवत्त्वे तदन्तोल्लासः।

६. ततो ध्यानेन कञ्चित्कालं मनोलयशक्तिमत्त्वमुन्मनोल्लासः।

७. पूर्णारूढत्वमनवस्थोल्लासः।

उपासकस्य निरुक्तोल्लासरूपा दशाविशेषाः स्वान्तःकरणैकवेद्याः। स्वयं विद्वान् स्वीयां दशां सूक्ष्मधिया सम्यक् परिशोधयेत्। एवं परिशोध्य तुरीयप्रौढोल्लासपर्यन्तं शास्त्रप्रथिताः समयाचाराः कार्याः। अत ऊर्ध्वं यथाकामो विहरेद् इति भावः।

स्वैरव्यवहारेषु वीरावीरयोः अयथामननाद् याथार्थ्यम् अविदित्वैव यदि स्वैराचारी भवेत् तर्हि पतेदेव निरय इत्यर्थः ।।६८।।

आरम्भ, तरुण, यौवन, प्रौढ, तदन्त, उन्मना और अनवस्थ ये सात उपासक के क्रमिक विकास की अवस्थायें हैं। आरम्भ में उपासनाविषयक इच्छा होती है; किन्तु शास्त्र के प्रति अनभिज्ञता रहती है। तरुण उल्लास में गुरु द्वारा दीक्षित होकर तन्त्रशास्त्र के पढ़ने की इच्छा उत्पन्न होती है। यौवन उल्लास में तन्त्र के रहस्य का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान-प्राप्ति के साथ शास्त्र में प्रतिपादित ध्यान में प्रवृत्ति होना प्रौढोल्लास का लक्षण है। अभ्यासपूर्वक पूर्ण ध्यानसत्ता का अनुसन्धान तदन्त में मनोलय की शक्ति उन्मना में आ जाती है। पूरा आरूढ भाव हो जाना अवस्थाओं से भी ऊपर उठा देता है। यही अनवस्थ उल्लास है।

प्रौढ तक समयाचार पालन आवश्यक माना जाता है। इसके बाद स्वतन्त्र क्रियाशीलता का अधिकारी हो जाता है। उन्नत स्तर पर उपासक द्वारा अपनी पहुँच बना लेने पर वीर वर्ग की अवमानना नहीं करनी चाहिये। इससे अधःपात होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।।६८।।

अवशिष्टा उपासकधर्माः

रक्तात्यागविरक्ताऽऽक्रमणोदासीना प्रलोभनवर्जनम् ।।६९।।

रक्ता आत्मना साकं भोगे आसक्तां तां न त्यजेत्। एवं स्वस्मिन् विरक्ता या तां बलात्कारेण नोपभुञ्जीत। या चोदासीना तां धनादिना प्रलोभ्य तदुपभोगोऽपि न कार्यः ।।६९।।

स्वभावतः या जन्मजात संस्कारवश यदि कोई कुल-स्त्री अपने में आसक्त हो, तो उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। इसी तरह जो अपने से विरक्त हो, उसे पाने के लिये बलात्कार आदि नहीं करना चाहिये। जो उदासीन हो उसे धन आदि का लोभ देकर उपभोग के उपाय नहीं करने चाहिये।।६९।।

घृणाशङ्काभयलज्जाजुगुप्साकुलजातिशीलानां क्रमेणावसादनम् ।।७०।।

घृणा दया। शङ्का विधिविहितहिंसायां द्वितीयादिसम्पादनविषये एवं प्रथमादिग्रहणे संशयो जुगुप्सा। द्वितीयादिविषयकतिरस्कारोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषः। कुलं गात्रम्। जातिः ब्राह्मणत्वादिः। शीलं स्वभावः। इमान्यविद्यामूलानि अनेकजन्मस्वनुवृत्तानि क्रमेण तत्तद्भूमिकां प्राप्य अवसादनं त्यागः कार्य इति शेषः।।७०।।

इस विषय में प्रसिद्ध श्लोक है—

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च जातिश्चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्त्तिताः।।

ये आठ पाश हैं। इन पाशों से बँधा प्राणी पशु बन गया है। किसी से घृणा, शास्त्रीय वचनों के प्रति शङ्का, सत्याचरण में भय, शास्त्रवचन पालन में संकोच, किसी की पीठ-पीछे निन्दा, अपना ऊँचा गोत्र, शील, रूप-सांस्कारिक सद्व्यवहार और अपनी जाति का स्मरण या कथन उपासक धर्म के विरुद्ध है। ये आठ पाश माने जाते हैं।।७०।।

धर्मान्तरमाह

गुरुप्रगुरुसन्निपाते प्रगुरोः प्रथमं प्रणतिः। तदग्रे तदनुरोधेन तन्नतिवर्जनम् ।।७१।।

गुरुः प्रसिद्धः। प्रगुरुः गुरोर्गुरुः। तयोः सन्निपाते एकत्र वासे प्रगुरोः प्रथमं नमस्कारः कार्यः। यावद् गुरुः प्रगुरुसन्निधौ तिष्ठति तावत्पर्यन्तं गुरुं न नमेत्। प्रगुरोरनुरोधेन तिष्ठेत् ।।७१।।

धर्मान्तर के रूप (गुरु और प्रगुरु) नमस्कारविषयक नियम प्रस्तुत कर रहे हैं—

जब तक गुरु प्रगुरु के समक्ष रहे, प्रगुरु में आदराधिक्य के कारण गुरुनमस्कार वर्जित है। प्रगुरु के समक्ष उसकी आज्ञा से बैठे।।७१।।

धर्मान्तरमाह

अभ्यर्हितेष्वपराङ्मुख्यम् ।।७२।।

अभ्यर्हितेषु श्रेष्ठेषु। अपराङ्मुख्यम् औदासीन्याभावः।।७२।।

अपने से श्रेष्ठ जनों के प्रति आदर का प्रदर्शन करना चाहिये। कभी भी यह नहीं सोचना चाहिये कि, इनसे मुझे क्या लेना-देना? अतः उनकी ओर आदरभाव से आभिमुख्य का आचरण करना चाहिये। यह सांस्कृतिक दृष्टिकोण है।।७२।।

धर्मान्तरमाह

मुख्यतया प्रकाशविभावना ।।७३।।

प्रकाशः परमशिवस्तत्त्वातीतः। यदुपनिषत्प्रतिपाद्यं ब्रह्मेति व्यवह्रियते स तस्य विभावना मुख्यतया सकलशास्त्राभ्यासफलमिति जानीयादित्यर्थः। तादृशभावनासिध्युपायमेव सर्वं शास्त्रं ब्रूते, तदन्यदफलमिति ब्रूते। इति तत्त्वार्थं जानीयादिति सूत्ररहस्यतात्पर्यं ज्ञेयम् ।।७३।।

उपासक का जीवन 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का प्रतीक होता है। प्रमुख रूप से वह इस प्रपञ्चात्मक विश्वविलास की मोहनिशा में परमशिवरूप प्रकाश का ही आश्रय लेकर उपासना में रत रहता है। उसी की विभावना करता है। भौतिक प्रकाश तो साधक के लिये बकौल गीता के अनुसार निशा की ही निशानी है।।७३।।

धर्मान्तरमाह

अधिजिगमिषा शरीरार्थासूनां गुरवे धारणम् ।।७४।।

अत्रापि पूर्णसूत्राद् मुख्यतयेत्यनुषज्यते।

अधिजिगिमिषा मननेच्छा। सा हि द्विप्रकारा—स्वार्था, गुर्वर्था वा। तत्र द्वयोः सन्निपाते मुख्यतया गुर्वर्थं या जिगमिषा तदनुरोधेन स्वार्थजिगमिषां साधयेत्। एवं शरीरस्य द्रव्यस्य प्राणस्य च धारणं गुर्वर्थं मुख्यं, स्वार्थं गौणम् ।।७४।।

वस्तुतः अधिजिगमिषा स्वतन्त्र धर्मान्तर है और शरीरार्थासु धारण दूसरा धर्मान्तर है। साधिकार गति अर्थात् गति (मोक्ष) की आकांक्षा ही अधिजिगमिषा है। इसी में मुखतया की अनुवृत्ति करनी चाहिये।

मोक्ष की आकांक्षा वाले उपासक को यह शरीर, यह धन-सम्पत्ति और यहाँ तक कि, अपना प्राण भी महत्त्वहीन हो जाता है। अतः इन तीनों का धारण स्वार्थ के लिये नहीं, गुर्वर्थ ही उपासक करता है।।७४।।

धर्मान्तरमाह

एतदुक्तकरणम् ।।७५।।

एतदुक्तं गुरूक्तम् अभिमानमुत्सृज्य कार्यम् ।।७५।।

एतद् शब्द गुर्वर्थप्रयुक्त सर्वनाम है। गुरु की आज्ञा का पालन अभिमान का परित्याग कर करना चाहिये। 'आज्ञा गुरूणामविचारणीया' यह वाक्य हमारी सांस्कृतिक आस्था का प्रतीक है।।७५।।

अपरीक्षणं तद्वचने व्यवस्था ।।७६।।

तद्वचने गुरुवचने। गुरुलक्षणविशिष्टं गुरुवचनं स्वबुद्ध्या न परीक्षयेत्। सदसद्वेति न विचारयेत्। अयं सर्वतन्त्रार्थविद् अन्यथा न वदिष्यति, किन्तु शास्त्रयुक्तमेव वदिष्यतीति निश्चयं कुर्यात्।।७६।।

सूत्रकार यह व्यवस्था दे रहे हैं कि, गुरु समस्त तन्त्रार्थ का मर्मज्ञ होता है। वह शास्त्रशुद्ध ही बोलता है। यह विश्वास उपासक में होना चाहिये।।७६।।

सर्वथा सत्यवचनम् ।।७७।।

सर्वथा सङ्कटेऽपि। यद्वा सर्वदा सहसा सङ्कटमन्तरेत्यर्थः।।७७।।

'सत्यं वद' इस वैदिक विधि वाक्य का ही यह सूत्र प्रतिपादक है। 'सर्वथा' शब्द किसी दशा में भी असत्य बोलने का निषेधक ही है।।७७।।

परदारधनेष्वनासक्ति ।।७८।।

परस्त्री, दूसरे के धन के प्रति उपासक में अनासक्ति अनिवार्यतः आवश्यक है।।७८।।

स्वस्तुति-परनिन्दा-मर्मविरुद्धवचन-परिहास-धिक्काराक्रोश-त्रासनवर्जनम् ।।७९।।

स्वस्तुति-परनिन्दे प्रसिद्धे। मर्मवचनं गूढदोषप्रकाशकः शब्दः। विरुद्धवचनः श्रवणकटुवचः। परिहासो हेलम्। धिक्कारस्तु तुच्छीकरणम्। आक्रोशो रोदनादिः। त्रासनं परस्य भयजनकम् उक्तानाममीषां वर्जनं कार्यम् ।।७९।।

अपनी बड़ाई को आत्मश्लाघा कहते हैं। यह अच्छी नहीं मानी जाती। इसी तरह दूसरे भी शिवरूप ही हैं। अतः किसी की निन्दा उपासक न करे। मर्मवेधक चुभने वाली बातें होती हैं। ऐसी बात उपासक न बोले। किसी की हँसी न उड़ाये। किसी को धिक्कृत न करे। किसी को क्रोध में आकर कभी लोग कोसने लगते हैं और कभी डराते-धमकाते भी हैं। यह सब बुरी बातें हैं। उपासक धर्म के सर्वथा प्रतिकूल हैं। इनसे बचे।।७९।।

एवं सामयिकधर्मेषु अत्यन्तमावश्यकं मुख्यं धर्ममाह

प्रयत्नेन विद्याऽऽराधनद्वारा पूर्णख्यातिसमावेशनेच्छा चेत्येते सामयिकाचाराः।।८०।।

प्रयत्नेन श्रीविद्याराधने न प्राक्प्रपञ्चितामपूर्णख्यातिं व्युदस्य जीवस्य या स्वतःसिद्धा पूर्णख्यातिः सा प्रकटा भवतीत्याकारिका इच्छा तां सदा कुर्यात्। एते इच्छान्ता निरूपिता धर्मास्ते सामयिकाः। समये कुलशास्त्रमर्यादायां वर्त्तमानास्ते कुलशास्त्रप्रतिपादिता उपासकधर्मा इति यावत् ।।८०।।

उपासक को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। सक्रियतापूर्वक गुरुप्रदत्त श्रीविद्या की समाराधना में संलग्न रहना उपासक का प्रधान धर्म है। इसके सम्पादन के माध्यम से सर्वदा पूर्णख्याति समावेश का उत्कट अभिलाष स्वात्म में उद्वेलित रहना चाहिये। इससे कुलशास्त्र और गुरुपरम्परा की मर्यादा में अभिवृद्धि होती है। पालनीय धर्म समय कहलाते हैं। समय से सम्बद्ध धर्म सामयिक धर्म हैं। इनका पालन करना चाहिये।।८०।।

परे च शास्त्रानुशिष्टाः।।८१।।

ये पूर्वोक्तास्तेभ्यः परे अन्यधर्मास्ते शास्त्रे तन्त्रान्तरेऽनुशिष्टास्तेऽपि ग्राह्या इति शेषः।।८१।।

पहले सूत्रों में निर्दिष्ट जितने समय धर्मों का निर्देश है, इनके अतिरिक्त भी धर्म के अन्य भेद हैं। उनकी विधियाँ हैं। यहाँ उनका उल्लेख नहीं है। हाँ, सूत्रकार यह कह रहे हैं कि, शास्त्रों में ये अनुशिष्ट हैं। यहाँ शास्त्रों से शास्त्रान्तर और तन्त्रान्तर दोनों भाव लिये गये हैं। वे भी ग्राह्य हैं।।८१।।

कुलमार्गनिष्ठप्रशंसा

इत्थं विदित्वा विधिवदनुष्ठितवतः कुलनिष्ठस्य सर्वतः कृतकृत्यता शरीरत्यागे श्वपचगृहकाश्योर्नान्तरं जीवन्मुक्तः।।८२।।

इत्थमुक्तप्रकारं विदित्वा सम्यग्विदित्वा विधिवद् यथाशास्त्रम् अनुष्ठितवतः अनुष्ठानं कुर्वतः कुलनिष्ठस्य कुलमार्गे श्रद्धाभक्तिमतः। सर्वतः सर्वप्रकारैः कृतकृत्यता। अनुष्ठेयशेषरहितता सम्पन्नेति शेषः। एवं शरीरस्थितिकाले फलमुक्त्वा देहत्यागेऽपि। फलमाह— शरीरत्याग इति। एतदनुष्ठातृभिन्नानां काश्यां देहत्यागे मुक्तिः, कीकटे नरकः, पुण्यप्रदेशे स्वर्गः, इति फलतारतम्यम्। अस्य तु श्वपचः चाण्डालः, तद्गृहकाश्योर्न किञ्चिदन्तरम्। अत्र हेतुमाह— जीवन्मुक्त इति। यतोऽयं जीवन्नेव मुक्तः।

प्रथमखण्डे श्रुतं फलं दीक्षाया एव। एवं तत्तत्कारणावसाने दर्शितं फलं तस्य तस्यैव। इदं तु विशिष्टानुष्ठानस्यैव इति बोध्यम्।।८२।।

परशुरामकल्पसूत्र की अब तक की विशिष्ट शिक्षाओं की जानकारी साधक अध्येता प्राप्त करता रहा है। अब इसका पूरा ज्ञान हो गया है। विधिपूर्वक वह कुलनिष्ठ रहते हुए सारे अनुष्ठान कर रहा है। उसी के फलस्वरूप वह कृतकृत्य हो गया है। जीवन में उसे शास्त्रानुसार अनुष्ठित करना था, उसका अनुष्ठान कर वह कृतार्थ हो गया है। उसका जीवन धन्य है। अब वह जीवन्मुक्त हो गया है। उसे श्वपच गृह और काशी में कोई अन्तर नहीं रह जाता।।८२।।

एवं दशखण्डैर्विहितानुष्ठानकर्त्तारं स्तुत्वा दशखण्डाध्येतारं स्तौति

य इमां दशखण्डीं महोपनिषदं, महात्रैपुरसिद्धान्तसर्वस्वभूतामधीते, सः सर्वेषु यज्ञेषु यष्टा भवति। यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति इति हि श्रूयते इत्युपनिषद् इति शिवम्।।८३।।

इमां पूर्वोक्तां दशखण्डीं महोपनिषदं दशखण्डसमुदायात्मिकाम्। उपनिषदिति ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकवेदस्य संज्ञा। तत्र ब्रह्मप्रतिपादनं साक्षात् परम्परया चेति द्विविधम्। तत्र साक्षात्प्रतिपादिका महोपनिषद्। अस्यापि साक्षात्प्रतिपादकश्रुत्यर्थानुवादकत्वाद् महोपनिषत्त्वमौपचारिकम्।

एतेन केवलब्रह्मप्रापकशास्त्ररूपत्वात् परमपुरुषार्थसाधनमेतदध्ययनमिति ध्वनितम्। त्रैपुरसिद्धान्तमिति। त्रिभ्यः सृष्टिस्थितिलयेभ्यः पुरा पूर्ववर्त्तिनी नित्येति यावत् सा त्रिपुरेति। तदुक्तं त्रैपुरसिद्धान्ते—

त्रिभ्यः पुरा त्रिपुरा त्रिपुरासम्बन्धी त्रैपुरः। स चासौ सिद्धान्तश्च तस्मिन्।

सर्वस्वभूतां दध्नो नवनीतवत् सारभूतां तां योऽधीते स सर्वयज्ञेषु गाणपत्यादिपरान्तेषु यज्ञेषु यष्टा भवति। क्रियाननुष्ठानेऽप्यध्ययनमात्रेणैव तावदनुष्ठानफलं भवतीत्यर्थः। शिवमिति कल्याणवाचि।।८३।।

परशुरामकल्पसूत्र दशखण्डी महोपनिषद् है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या को कहते हैं। उसका साक्षात् और परम्परापूर्वक प्रतिपादन होता है। इसमें पारम्परिक प्रतिपादन होने के कारण महोपनिषद् संज्ञा औपचारिक है। साक्षात् प्रतिपादन में महोपनिषद् संज्ञा मुख्य होती है। यह त्रैपुरसिद्धान्त की सर्वस्व है। इसका अध्येता

सर्वयज्ञों का यष्टा माना जाता है, जिससे इसके इष्ट की सिद्धि होती है। यह परम्परा से श्रुत सत्य है। इससे विश्व का कल्याण हो।।८३।।

खण्डादिपरिपठनम्

अथातः सर्वेषां मन्त्राणाम्, अथ स्वेष्टमन्त्रस्य, इति विधिवत्, इत्थं साङ्गाम्, इयमेव महती विद्या। अथ प्राथमिके चतुरस्रे, अथ हृच्चक्रस्थिताम्। एवं गणपतिमिष्ट्वा। इत्थं सद्गुरोः, अथातो दीक्षां व्याख्यास्यामः। अथ, एवम्, अथ, इत्थम्। अथ स्वेष्टेति पञ्च ।।८४।।

अथातः सर्वेषां मन्त्राणाम्, अथातो दीक्षाम् इत्यनेन खण्डविभागमुक्त्वा पटलानुक्रमणिकां दर्शयति—अथेत्यारभ्य खण्डद्वयानन्तरं तृतीयखण्डादारभ्य एवमिति। अथ १. एवं, २. अथ, ३. इत्थं, ४. अथ स्वेष्टम्, ५. एवमेकैकं पटलं खण्डद्वयात्मकं ज्ञेयम् ।।८४।।

प्रथम पटल—दीक्षाविधि—अथ से प्रारम्भ—अथातो दीक्षां सूत्र में
द्वितीय पटल—गणनायक-पद्धति—इत्थं से प्रारम्भ—इत्थं सद्गुरोः सूत्र में
तृतीय पटल—श्रीक्रम-पद्धति—एवं से प्रारम्भ—एवं गणपतिम् सूत्र में
चतुर्थ पटल—ललिता-क्रम—अथ से प्रारम्भ—अथ हृच्चक्र सूत्र में
पञ्चम पटल—अनावरणपूजा—अथ से प्रारम्भ—अथ प्राथमिके सूत्र में
षष्ठ पटल—श्यामाक्रम—इयम् से प्रारम्भ—इयमेव महती सूत्र में
सप्तम पटल—वाराही-क्रम—इत्थं से प्रारम्भ—इत्थं साङ्गां सूत्र में
अष्टम पटल—पराक्रम—इति से प्रारम्भ—इति विधिवत् सूत्र में
नवम पटल—होम-विधि—अथ से प्रारम्भ—अथ स्वेष्टमन्त्र सूत्र में
दशम पटल—सर्वसाधारणक्रम—अथ से प्रारम्भ—अथातः सर्वेषां सूत्र में।

इस तरह पाँच खण्ड का आकलन, इन प्रारम्भ में प्रयुक्त अव्यय शब्दों से हो जाता है। १. अथ से प्रथम-द्वितीय, २. एवं से तृतीय-चतुर्थ, ३. अथ से पञ्चम-षष्ठ, ४. इत्थं से सप्तम-अष्टम और ५. अथ से नवम-दशम। इस

प्रकार सभी पटलों का एक साथ स्मरण कर इस महोपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गयी है।।८४।।

ग्रन्थकर्त्तारं तद्गुणोत्कर्षं च प्रकटयति

इति श्रीदुष्टक्षत्रियकुलकालान्तकरेणुकागर्भसम्भूतमहादेव-प्रधानशिष्य-जामदग्न्यश्रीपरशुरामभार्गवमहोपाध्यायमहाकुलाचार्य-निर्मितं कल्पसूत्रं सम्पूर्णम् ।।८५।।

दुष्टेत्यनेन दुष्टनिग्रहपूर्वकधर्मव्यवस्थापकत्त्वं दर्शितम्। महादेवेत्यनेन सम्प्रदायप्रवर्त्तकशुद्धिर्दर्शिता। कुलाचार्य इत्यनेन स्वस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता सूचिता। एतैः सर्वविशेषणैः स्वप्रणीतग्रन्थे अप्रामाण्यशङ्काकलङ्कलेशाभावः सूचितः।।८५।।

सूत्र में दुष्टक्षत्रियकालान्तक विशेषण एक ऐतिहासिक सन्दर्भ को सूचित करता है। यद्यपि इस श्रीविद्या-साधना की परम्परा में इस विशेषण की कोई प्रासङ्गिकता नहीं, फिर भी इस उपनिषद् की धर्ममूलकता को ध्यान में रखते हुए एक धर्मप्रवर्त्तक द्वारा ही यह धर्माङ्ग शास्त्र प्रवर्त्तित है, इसका गर्व लेखक में होना स्वाभाविक लगता है। अध्येता को भी इस रहस्य से परिचित होना चाहिये।

भगवान् परशुराम का महत्त्व सूचित करते हुए यह घोषणा करते हैं कि, मैं रेणुका सदृश विश्वविश्रुता विदुषी ऋषि का पुत्र हूँ। तत्पश्चात् गुरु स्मरण भी प्रसङ्गसम्मत है। ये भार्गव हैं महोपाध्याय हैं। ये महाकुलाचार्य हैं। इन सद्विशेषणों से विभूषित भगवान् परशुराम इस महोपनिषद् के रचनाकार हैं। उनकी जय हो। इति शिवम् ।।८५।।

वृत्तिकारपरिचयः

एषोऽपराजितानन्दनाथः श्रीगुरुसेवया।
सम्पन्नसूक्ष्मविज्ञानः श्रीदेवीप्रेरितः कृती।।
जामदग्न्यं कल्पसूत्रं व्याचख्यौ गूढभावकम्।
बालानां सुखबोधाय श्रीदेवीप्रीतयेऽपि च।

रचनाकालः –

अग्निबाणाद्रिभूसंख्ये शाके तपसि गीष्पतेः।
वासरे शुक्लपक्षस्य दिन आद्ये निशामुखे।।
अर्पितः श्रीकालिकायामनेन प्रीयतां शिवा।।

।। इति श्रीपण्डितकुलावतंसनिखिलनित्यनैमित्तिकानुष्ठानपुष्टीकृतकलशोद्भवाद्युपासकवर्यामृतेशानन्दनाथप्रेमपात्रसुब्रह्मण्यतनूद्भवश्रीरामेश्वरविरचिता सौभाग्योदयसंज्ञिका परशुरामकल्पसूत्र(मुख्यांश)वृत्तिः परिपूर्णा।।

।। इति शिवम्।।

।। श्रीरामेश्वरकृत मुख्यांश-सौभाग्योदयवृत्तिसहित
डॉ. परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य-समन्वित
श्रीपरशुरामकल्पसूत्र का सर्वसाधारणक्रम नामक दशम खण्ड परिपूर्ण ।।१०।।

।। शुभं भूयात् ।।

श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स, वाराणसी